आर्थिक एवं वाणिज्यक निबन्ध

(संक्षेपिका लेखन एवं अपठित सहित)

लेखक
डॉ० शिवध्यानसिंह चौहान
एम० कॉम०, पी-एच० डी०
प्रवक्ता, वाणिज्य विभाग,
बलवन्त राजपूत कॉलिज, आगरा

१९६१
वंसल पब्लिशिंग हाउस
आगरा

लेखन कला सीखने की विधि

निम्न कक्षाओ मे लेख लिखना उतना कठिन काम नही जितना उच्च कक्षाओं में। निम्न कक्षा के विद्यार्थियों से यही आशा की जाती है कि वे सही एवं स्पष्ट भाषा में अपने विचारो को व्यक्त कर सकें; विषय के सर्वाङ्गपूर्ण ज्ञान की आशा उनसे नही की जाती। किन्तु उच्च कक्षा के विद्यार्थियों से शुद्ध भाषा और स्पष्ट भाव प्रकाशन के साथ-साथ विषय का ज्ञान भी अपेक्षित है।

उच्च कोटि का लेख लिखने के लिए अध्ययन, अनुभव और अभ्यास की आवश्यकता है। बहुधा युवको के सम्मुख जो कठिनाई उपस्थित होती है, वह है आवश्यक सामिग्री की। उनका विषय ज्ञान सीमित होता है और उन्हें कुछ भी कहने मे हिचक लगती है। कारण यह है कि उनका अनुभव और अध्ययन अत्यन्त सीमित होते हैं। अतएव लिखना सीखने वाले विद्यार्थियों को विस्तृत अध्ययन और सामान्य ज्ञान-संचय की बडी भारी आवश्यकता है।.

अध्ययन—अध्ययन को सफल बनाने के लिए थोडी सावधानी अपेक्षित है। जिस विषय का हमे अध्ययन करना है, उसमे रुचि उत्पन्न करें और उस सम्बन्ध मे जो भी पुस्तक-पुस्तिकाये मिल सकें उन्हें ध्यानपूर्वक पढें। पढ़ने के साथ-साथ एक कापी पर संक्षिप्त विवरण भी लिखते जायें। यदि कभी उस विषय पर आकाश-वाणी (Radio) अथवा किसी वक्ता द्वारा किसी प्रसिद्ध लेखक अथवा विद्वान के विचार प्राप्त करने का अवसर मिले तो उन्हें भी ध्यान से सुनें और लिख लें। वाणिज्य के विद्यार्थियों को चाहिए कि वे अन्य पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ 'सम्पदा', 'उद्योग व्यापार पत्रिका' इस्टर्न इकानोमिस्ट (The Eastern Economist), इकानोमिक वीकली (The Economic Weekly), कामर्स (The Commerce), कैपीटल (The Capital) इत्यादि पत्रिकाओ को अवश्य देखते रहें। इन पत्रिकाओं मे उन्हे आर्थिक एवं वाणिज्य सम्बन्धी विभिन्न विषयो पर उच्चकोटि के लेख और वैज्ञानिक आलोचना मिल जायगी।

इस भांति विषय का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त उस पर मनन करना चाहिए और दूसरो के विचारों का अपने निजी विचारो से मेल मिलाना चाहिए। हमारा अध्ययन हमारे मानसिक संस्थान का अंग तभी बन सकता है जबकि अधीत विषय का अपने पूर्वाजित ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय। इसके लिए मनन आवश्यक है। हमको मतभेद और समानतायें दोनों ही ध्यान मे रखनी चाहिए। नये प्रयोगो को ध्यान में रखकर उनका अभ्यास करने के लिए अवसर निकाल व्यवहार मे लाना होगा

और शब्दों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए उसकी व्युत्पत्ति और कोष का अर्थ जानना होगा। हम किसी लेख से तभी लाभ उठा सकते हैं जबकि हम उसमे रुचि उत्पन्न करें, और उसे अपने मनन का मुख्य विषय बनालें।

निरीक्षण—केवल अध्ययन मात्र पर्याप्त नही है क्योंकि सारा ज्ञान पुस्तकों मे ही निहित नही होता। हम वास्तविक ज्ञान अपने निज के अनुभव और निरीक्षण से प्राप्त करते हैं। अध्ययन दूसरो की आँखो से देखना है और निरीक्षण स्वय अपनी आँखो से। हम दैनिक जीवन की घटनाओ से और अपने चारो ओर के वातावरण एवं वस्तुओ के निरीक्षण से बहुत कुछ सीख सकते हैं। ससार मे हमे आँख खोलकर चलना चाहिए। अपने ज्ञान की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि जो कोई नई घटना अथवा वस्तु देखें, उसका अपने पुस्तकस्थ ज्ञान से मिलान करें और विवेचना के पश्चात्, यदि आवश्यक समझे तो, अपने ज्ञान मे सशोधन करलें। लेखक को अपनी कल्पना से पूरा-पूरा काम लेना चाहिए और निष्कर्ष निकालने चाहिएँ। जिस विषय का हम अध्ययन करें उसके निरीक्षण का भी पूर्ण प्रयास करें।

अभ्यास—अभ्यास मनुष्य का सबसे बडा गुरु है। अभ्यास द्वारा ही मनुष्य पूर्णता को प्राप्त हो सकता है। बिना पानी मे घुसे तैरना नही आता। इसी भाँति बिना अभ्यास के ज्ञान पूर्ण नही हो सकता। बहुधा विद्यार्थी किसी विषय पर लिखने का इसलिए प्रयास नही करते कि उस पर उन्होने कभी कुछ लिखा नही है। उनको नवीन विषय को लेकर कुछ भी लिखने मे बडा सकोच और हिचकिचाहट होती है, वे आत्म विश्वास खो बैठते हैं और यह समझने लगते हैं कि जो कुछ वे लिखेंगे वह अधूरा, अस्पष्ट और अपूर्ण होगा। यह उनकी बडी भारी भूल है। बिना प्रयास के न तो कभी कोई कुछ सीख सकता है और न भूलो का ही सुधार कर सकता है। ठोकर खाकर बुद्धि आती है, भूल करने के उपरान्त ही भूल सुधार होता है। एक साथ न कोई बडा ज्ञाता बन सकता है, न लेखक, क्षणभर मे न हम उन्नति के शिखर पर पहुँच सकते हैं और न अवनति के गर्त मे ही गिर सकते है। प्रत्येक कार्य धीरे धीरे समयानुसार होता है। अत हमे आत्म-विश्वास रखकर, धैर्य और साहस के साथ कठिन से कठिन विषय का अभ्यास करने मे हिचकिचाना न चाहिए। लेख ठीक कराने का चाहे अवसर मिले या न मिले, लेख लिखना उपयोगी है। यदि स्वय अपने विचार न हों तो दूसरो के विचारो को अपनी भाषा मे लिखने का अभ्यास डालने से भी लाभ होता है। लेख लिखने के उपरान्त यदि सन्तोष न हो तो उसे दो तीन चार ध्यानपूर्वक पढना चाहिए और स्वयं ही आवश्यक परिवर्तन और सशोधन करने चाहिएँ। यदि किसी को दिखाकर सम्मति प्राप्त करने का या सशोधन कराने का अवसर मिल सके तो अति-उत्तम है। जो सशोधन किया जाय उसको याद रखना चाहिए। एक एक प्रकार के कई लेख लिखने से अनायास ही अभ्यास बढता है और हम मे लिखन शक्ति आती है। पहले छोटे लेखो से अभ्यास प्रारम्भ करें। फिर क्रमश बडे बडे लेख लिखने का प्रयास करें।

ही संदर्भ या परिच्छेद रखना वाञ्छनीय है। उन संदर्भों में स्वाभाविक क्रम स्थापित होना अत्यन्त आवश्यक है। कभी किसी बात अथवा तर्क को दुहराना न चाहिए।

संगति और निर्वाह—विचारों मे संगति रखना परम आवश्यक है। यह संगति तभी आ सकती है जबकि विचार स्पष्ट हों। यदि कोई विचार स्पष्ट न हो तो उतने ही विचारों को अंकित करना चाहिए जितने कि पूर्णतः स्पष्ट हो। सन्देहात्मक भावों के उल्लेख से हमारा लेख कमजोर होता है और हमारी भाषा अस्पष्ट। जिस भाव या विचार का उल्लेख करें, उसका पूरा निर्वाह करना चाहिए, उसके किसी पक्ष को अछूता न छोडें। विभिन्न दृष्टिकोणों को लेकर हम अपना तर्क उपस्थित करें। लिखते समय हमें यह समझ कर विषय को समझाना चाहिए कि पाठक उस विषय से सर्वथा अनभिज्ञ है। अतः उसे बच्चा समझकर मोटी से मोटी बात भी बडी सावधानी और तर्क द्वारा समझानी है।

भाषा और शैली—भाषा और शैली की उत्तमता उतनी ही आवश्यक है जितनी कि विचार की। उत्तम भाषा और शैली से लेखक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। अशुद्ध और अस्पष्ट भाषा सुन्दर से सुन्दर विचारों के पाडित्य को नष्ट कर देती है और विचार मरुभूमि मे पड़े हुए बीजो की भांति अनुत्पादक रह जाते हैं। जहाँ तक सम्भव हो दूसरी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम प्रचलित शब्दो को भी निकालने का प्रयत्न करें। दूसरी भाषाओं के जो शब्द देश मे प्रचलित हो चुके हैं और हमारी भाषा में घुल मिल गए हैं, *उनके स्थान पर हमें अप्रचलित शब्दों का प्रयोग कदापि न करना चाहिए।* स्टेशन के स्थान पर हम रेल का अड्डा लिखें, थर्मामीटर के लिए ताप-मापक, सिनेमा के लिए चल-चित्र, तथा लालटेन के लिए दीपक कहे, तो अर्थ के स्थान पर अनर्थ होने की सम्भावना है, किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि विदेशी भाषाओं के शब्द अपनी भाषा का ही जामा पहिन कर आवें।

भाषा सुबोध और स्पष्ट होनी चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो बहुत समास वाले या वर्ण कटु शब्दों का व्यवहार न किया जाए। क्लिष्ट भाषा लिखने का कभी प्रयत्न न करना चाहिए। सरल किन्तु भावपूर्ण भाषा ही जिसे अधिक से अधिक लोग समझ सकें उत्तम एवं प्रभावशाली भाषा समझी जाती है। जहाँ तक सम्भव हो वाक्य छोटे ही हो।

शैली हमारी अपनी अलग होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व अलग होता है। प्रारम्भ मे हमें उसका पता चाहे न लगे किन्तु अभ्यास से हमें शैली पूर्णतः स्पष्ट हो जायगी। सभी विषयों मे हमें अपनी शैली का निर्वाह करना चाहिए।

आकार—परीक्षा मे लेख लिखते समय निर्धारित सीमा का उल्लंघन न करना चाहिए। यदि एक हजार शब्दो का लेख लिखाया जाए तो हम एक हजार पचास अथवा नौ सौ पचास शब्द लिख सकते हैं, किन्तु इस परिधि के बाहर जाना उचित नहीं है। छोटे लेख लिखने का यह तात्पर्य भी नही है कि हम विषय के कुछ ही पहलुओ पर विचार करें। चाहे छोटा लेख लिखाया जाए चाहे बड़ा, प्रत्येक दशा मे हमारा विचार-विमर्श सर्वाङ्गपूर्ण होना चाहिए, विषय का कोई भी पहलू छोडना न चाहिए। पक्ष-विपक्ष की विचारधारा पर पूर्ण प्रकाश डालना चाहिए। छोटे लेख मे प्रत्येक बात सक्षेप मे कहनी चाहिए और बडे लेख मे विस्तारपूर्वक।

उद्धरण—दूसरी भाषा के उद्धरण लेख के मुख्य अंग के रूप नही दिए जा सकते। उनका संक्षिप्त भाव लेख मे देकर उनका मूल पन्ने के नीचे की टीका के रूप मे दिया जा सकता है। हां, हिन्दी भाषा मे लेख लिखते समय संस्कृत अथवा सजातीय भारतीय भाषाओ के उद्धरण मूल लेख का अग हो सकते हैं, किन्तु अंग्रेजी अथवा अन्य विदेशी भाषाओं के नहो।

"मेरी कल्पना की सहकारी खेती से जमीन का काया पलट हो जायेगा और लोगों की गरीबी और बेकारी का काला मुंह हो जायगा।" —म० गांधी (हरिजन ६-३-१९४७)

१—सहकारी खेती

रूप-रेखा

१. सहकारी खेती की आवश्यकता
   (क) प्रति व्यक्ति कम भूमि अथवा छोटी जोतें।
   (ख) खेतों का बिखरा होना।
   (ग) भूमि का असमान वितरण।
२. सहकारी खेती की परिभाषा
   (क) पारस्परिक सहयोग की भावना।
   (ख) प्रजातन्त्रीय प्रबन्ध।
   (ग) आय का उचित वितरण।
३. सहकारी खेती के प्रचलित रूप
   (क) सहकारी श्रेष्ठतर खेती।
   (ख) सहकारी संयुक्त खेती।
   (ग) सहकारी कृषक खेती।
   (घ) सहकारी सामूहिक खेती।
४. सहकारी खेती के लाभ
   (क) भूमि, श्रम एवं यंत्र-उपकरणों का सदुपयोग।
   (ख) कृषि उपज में बढ़ोत्तरी।
   (ग) एकता की भावना।
५. सहकारी खेती की प्रगति एवं वर्तमान स्थिति
६. सहकारी खेती के मार्ग में कठिनाइयाँ
   (क) किसान का भूमि के प्रति मोह।
   (ख) योग्य कर्मचारियों का अभाव।
   (ग) वर्ग संघर्ष एवं ग्रामीण फूट।

(ग) सदस्यों म आय का वितरण किसी सर्वमान्य ढग से, अर्थात् भूमि की मात्रा अथवा श्रम के अनुपात में हो।

प्रचलित रूप

सहकारी खेती के चार रूप देखने म आते हैं : (क) श्रेष्ठतर कृषि, (ख) संयुक्त कृषि, (ग) कृषक कृषि, (घ) सामूहिक कृषि।

(क) श्रेष्ठतर कृषि—दस या अधिक व्यक्ति अपने सम्मिलित हित के लिए मिल कर सहकारी समिति बनाते हैं। प्रत्येक सदस्य खेती स्वतन्त्र रूप मे अलग-अलग करता है। केवल सम्मिलित हित के उत्पादन कार्य समिति करती है : ऋण व्यवस्था, उत्तम खाद, उत्तम बीज, यंत्र, क्रय-विक्रय, सिंचाई, बाँध बनाना, क्षय निवारण, बुवाई, कटाई, गहाई इत्यादि। समिति सभी सदस्यों को समान नीति पालन करने का आग्रह करती है। सदस्यों के अंशो अथवा आश्रयानुसार लाभ का बँटवारा किया जाता है।

(ख) संयुक्त कृषि—छोटे-छोटे किसान अपनी जोतों को मिलाकर बड़ी जोतें बना लेते हैं, यद्यपि भूमि पर उनका पृथक स्वामित्व बना रहता है। उपज में से खर्च निकाल कर भूमि के मूल्यानुसार लाभांश सदस्यों को दिया जाता है। सदस्य समिति के आज्ञानुसार कार्य करते हैं, उन्हें कार्य के लिये मजदूरी दी जाती है।

(ग) कृषक खेती—समिति पट्टे पर या बयनामे द्वारा भूमि ले कर सदस्यों को बाँट देती है जिस पर खेती करने मे वे स्वतन्त्र होते हैं। सदस्य समिति को निश्चित लगान देते हैं तथा उसके पट्टेदार अथवा आसामी की भाँति काम करते हैं। समिति आवश्यक धन, खाद, बीज, यन्त्र, क्रय-विक्रय इत्यादि की उचित व्यवस्था करती है। भूमिकर अथवा उपज के अनुसार लाभ सदस्य बाँट लेते हैं। इस भाँति भूमिहीन किसानों को खेती करने का अवसर मिलता है।

(घ) सामूहिक कृषि—सामूहिक कृषि के अन्तर्गत भूमि का स्वामित्व, प्रबन्ध और खेती कराने का सारा उत्तरदायित्व समिति के ऊपर होता है। समिति भूमि मोल अथवा पट्टे पर लेती है और सदस्यों से सामूहिक रूप मे खेती कराती है। कार्य करने के लिये सदस्यों को मजदूरी दी जाती है। लाभ का बँटवारा मजदूरी अथवा लगाए हुए साधनों के अनुपात म होता है।

लाभ

सहकारी खेती से देश के छोटे और बिखरे हुए भू-खण्डों के अनेक दोष दूर हो जायेंगे तथा कृषि-कार्य लाभकर हो सकेगा। उसके अनेक लाभो म निम्नांकित की कल्पना की जाती है :

(१) प्रति एकड़ उपज मे महत्वपूर्ण वृद्धि हो कर देश की गरीबी दूर होगी।

(२) किसान की आय मे वृद्धि होकर उसका जीवन-स्तर उच्च हो सकेगा।

(३) कृषि-योग्य भूमि का अपेक्षाकृत अच्छा उपयोग होगा। अनुमान लगाया गया है कि खेतो की मेडबन्दी समाप्त होने से ५० लाख एकड अतिरिक्त भूमि पर खेती होने लगेगी।

(४) सहकारी कृषि से श्रम शक्ति का सदुपयोग हो सकेगा। खेतो के छोटे टुकडो पर श्रम का अकारण क्षय होता है, और बहुत सा समय एक खेत से दूसरे तक जाने मे व्यर्थ जाता है।

(५) हल बैल, उपकरण और सिंचाई सुविधाओं का समुचित एव सुनिश्चित उपयोग सभव हो सकेगा।

(६) बडे खेतो पर वैज्ञानिक गवेषण और प्राविधिक सहायता सुलभ हो सकेगी।

(७) गाँवों म सामाजिक एव सामुदायिक एकता की भावना बढेगी।

(८) सामाजिक सुरक्षा, शिक्षा, चिकित्सा, स्वच्छता इत्यादि सहज सुलभ हो सकेगी।

(९) उत्तम सगठन के कारण कृषि सम्बन्धी आँकडो का सचय सभव हो सकेगा।

(१०) कृषि उपज की बिक्री मे और आवश्यक पदार्थों के क्रय की सुविधा होगी।

(११) सरकार और किसान के बीच घनिष्टता एव सहयोग का वातावरण उत्प न होगा।

वर्तमान स्थिति

युद्धोत्तर काल मे सहकारी कृषि की ओर भारत का विशेष ध्यान गया है। इसका कारण कृषि उपज बढाने और खाद्य समस्या पर काबू पाने का है। १९४६ मे भारत सरकार ने एक शिष्ट प्रमण्डल फिलिस्तीन भेजा किन्तु उसके फलस्वरूप कोई सक्रिय कार्यक्रम नही उठाया जा सका। प्रथम योजना म छोटे किसानो को सहकारी समितियो म सगठित करने और राज्यो की सरकारो को कोई क्रमबद्ध कार्य क्रम बना कर प्रयोग करने का विचार व्यक्त किया गया। द्वितीय योजना म प्रत्येक जिले मे एक या दो कृषि फार्मो पर प्रयागात्मक योजनायें चालू करने और शनै शनै उन्हे सहकारिता, कृषि तथा विस्तार सेवाओ के प्रशिक्षण केन्द्रो म परिवर्तित करने की बात कही गई। इसी समय १९५६ म भारत सरकार ने चीन को एक शिष्टमडल भेजा जिसका आवेदन जून १९५७ मे प्रकाशित हुआ। सितम्बर १९५७ म राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) की एक स्थायी समिति (Standing Committee) ने द्वितीय पच-वर्षीय योजना की शेष अवधि म देश म ३००० कृषि सहकारी समितियाँ बनाने का सुझाव रखा। नवम्बर १९५८ मे उक्त सुझाव के अनुसार राष्ट्रीय विकास परिषद ने एक प्रस्ताव द्वारा सहकारी खेती

के महत्व की ओर देश का ध्यान आकर्षित किया। इसी विचारधारा के अनुसार जनवरी १९५९ मे काग्रेस महासमिति ने अपना नागपुर का विवादास्पद प्रस्ताव देश के सामने रखा। मार्च १९५९ मे नागपुर प्रस्ताव के विचार को लोक-सभा ने प्रस्ताव के रूप मे स्वीकार कर लिया। इससे देश मे इस प्रश्न पर भारी वाद-विवाद खडा हो गया। अतएव जून १९५९ में भारत सरकार ने इस प्रश्न के पूर्ण अध्ययन के लिये एक कार्यकारी समुदाय (Working Group) की नियुक्ति की जिसने फरवरी १९६० मे अपना प्रतिवेदन भारत सरकार के सम्मुख उपस्थित किया। समुदाय ने ४ वर्ष की अवधि मे देश के प्रत्येक जिले मे एक के हिसाब से ३,२०० सहकारी कृषि समितियो की प्रयोगात्मक योजनाये चालू करने का सुझाव दिया है। समुदाय के सुझावो के अनुसार तृतीय पचवर्षीय योजना मे १०,००० कृषि सहकारी समितियाँ बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। ये ३,२०० प्रयोगात्मक समितियो के अतिरिक्त होगी।

इस समय देश मे २,४४२ सहकारी कृषि समितियाँ हैं जिनमे ४८,००० व्यक्ति काम करते हैं और ३,३४,००० एकड भूमि पर इनके द्वारा कृषि की जाती है। सबसे अधिक समितियाँ पंजाब मे (६७८) हैं। बम्बई मे ५१०, उत्तर प्रदेश मे २६२, मध्य प्रदेश मे २०१, असम मे १८४, पश्चिमी बंगाल मे १६१, मैसूर मे १२८ तथा राजस्थान मे १०३ समितियाँ हैं। अन्य राज्यो मे १०० से कम समितियाँ हैं।

सहकारी खेती के मार्ग मे कठिनाइयाँ

सहकारिता का सिद्धान्त बहुत ऊँचा है और भारत की खाद्य समस्या और कृषि उपज की वृद्धि के लिये श्लाघनीय प्रतीत होता है। तो भी इसके मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनमे से मुख्य बाधायें निम्नांकित हैं :—

(क) भारतीय किसान का भूमि के प्रति भारी मोह है। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के शब्दो मे भारतीय किसान को भूमि पत्नी के समान प्रिय है। कुछ लोगो के अनुसार भूमि के प्रति किसान का सन्तान का सा मोह है। अपनी भूमि पर दूसरे का स्वामित्व उसे असह्य है।

(ख) भूमि भारतीय किसान का जीवनाधार ही नही, उसकी सामाजिक मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा का प्रतीक भी है। भूमि के अनुसार ही ग्रामीण समाज मे लोगो को सम्मान प्राप्त होता है तथा सन्तान के विवाह-सम्बन्ध निश्चित होते हैं। अतएव भूमि की मेडबन्दी हटने से वर्ग-संघर्ष का बीजारोपण हो सकता है।

(ग) सहकारी खेती से उत्पादन-वृद्धि के लक्ष्य की पूर्ति सन्देहात्मक है। संसार के किसी भी क्षेत्र मे सहकारी कृषि ने उत्पादन-वृद्धि की प्रेरणा नही दी। बडे खेतो मे प्रति एकड उपज अधिक नही होती, वरन् छोटे खेतो मे होती है। देश-विदेश के अनुभव से यह पूर्णत. सिद्ध हो चुका है। भारत मे पारिवारिक खेती ही श्रेयस्कर एवं सफल हो सकती है।

(ग) भारत मे ईमानदार, तपस्वी और नि.स्वार्थ जन-सेवकों का भारी अभाव है। बिना ऐसे व्यक्तियों के सहकारिता की सफलता सन्देहात्मक है। आज हमारे गाँव द्वेष-भाव, वैमनस्य, अपराध, स्वार्थ और मुकद्दमेबाजी के क्षेत्र बन गये है जहाँ सहकारी क्षेत्र मे काम करने वाले योग्य कार्यकर्त्ताओं का मिलना दुर्लभ है।

(ङ) सहकारी खेती की सफलता का आधार कृषि का यन्त्रीकरण है। यंत्रों के प्रयोग से बेकारी बढेगी जो अग्नि में आहुति देने के समान है। देश में यों ही बेकारों की अपार सख्या है।

(च) वर्तमान ग्रामीण वातावरण और किसान की मनोवृत्ति के फलस्वरूप बल का प्रयोग आवश्यक प्रतीत होता है जो वाछनीय नही है। स्वेच्छा से संसार के किसी भी देश में सहकारी खेती सफल नही हुई है। भारत में भी ऐसी ही संभावना है।

(छ) संसार के देशों मे अथवा भारतीय क्षेत्रों मे जहाँ सहकारी कृषि के प्रयोग किए गये हैं वे विफल रहे हैं।

(ज) भारत मे कृषि का यंत्रीकरण सफल नही हुआ।

(झ) गाँवों की फूट देश मे उपयुक्त वातावरण नही उपस्थित करती।

उपसंहार

वर्तमान परिस्थितियों मे वाछनीय यही है कि सीमित क्षेत्र मे सम्मिलित खेती के प्रयोग किये जाये और अनुभव के अनुसार कार्यक्रम को आगे बढाया जाए। नये तोडों, विस्थापित बस्तियों तथा सार्वजनिक भूमि मे संयुक्त खेती के प्रयोग किये जाये। सेवा सहकारिताओं द्वारा लोगों को सहकारी खेती के लाभ बताये जायें। आदर्शवाद और भावुकता के स्थान पर व्यावहारिकता को प्रमुखता दी जाये।

"ऐटम और हाइड्रोजन को हिंसा शक्ति का सबसे बडा पराक्रम माना जाता है, उसी तरह ग्राम शक्ति से सर्वस्वदान, अहिंसा-शक्ति का सबसे बडा पराक्रम माना जायेगा।"

—विनोबा

२—भूदान-यज्ञ

रूप-रेखा

१. प्रस्तावना
२. अर्थ
३. दार्शनिक आधार
४. भूदान पुण्यों मे श्रेष्ठ क्यों ?
५. उद्देश्य
६. प्रारम्भ और प्रगति
७. लाभ
८. आलोचना
९. उपसहार

प्रस्तावना

भारत एक कृषि प्रधान देश है। हमारी ७० प्रतिशत जनसंख्या का निर्वाह कृषि पर निर्भर है और हमारी राष्ट्रीय आय का प्रमुख साधन भी कृषि ही है, किन्तु देश की कृषि व्यवस्था सन्तोषजनक नही है। इसका एक प्रमुख कारण भूमि का असमान वितरण है। एक ओर देश मे २०% जनसंख्या ऐसे किसानो की है जिनके पास निजी भूमि नही है, वे दूसरो से भूमि लेकर कृषि कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त ५ करोड भूमिहीन श्रमिक हैं जो दूसरे लोगो के नौकर रह कर कृषि कार्य करते हैं, उनसे उन्हे केवल मजदूरी मिलती है। दूसरी ओर ५३ लाख भूपति हैं जो स्वयं खेती नहीं करते, दूसरो से कराते हैं। अनेक बडे किसान और हैं जिनके पास अपनी आवश्यकता से अधिक भूमि है और जो दूसरो की सहायता से अपनी भूमि को जोतते हैं। भूदान भूमि के इस असमान वितरण के पुनर्वितरण का एक सात्विक प्रयत्न है।

अर्थ

भूदान का शाब्दिक अर्थ भूमि के दान से है। युग-युग से भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देना पुण्य कार्य माना जाता रहा है। वैसे ही परिश्रमी भूमिहीन को भूमि देना हमारा धर्म है। भूदान मे दान की नई कल्पना की गई है। इसके अनुसार दान केवल दया-करुणा का कार्य नही, वह हमारी सदियो से सोई हुई न्याय-बुद्धि को जगाने का साधन है। भूदान मे याचक कोई अपरिचित व्यक्ति नही, अपने ही कुटुम्ब का एक स्वजन है। उसमे दरिद्रनारायण की कुटुम्बी की भाँति प्रतिष्ठा की गई है और उसकी याचना को एक हक (अधिकार) माना गया है। इस भाँति भूदान दान के प्रसग मात्र से सग्रह के समर्पण, सामाजिक न्याय और सम्पत्ति के समान वितरण का साधन है। भूदान अनवरत चलती हुई ऐसी प्रक्रिया है जो उस समय समाप्त होगी जब प्रत्येक व्यक्ति के पास उतनी ही भूमि बच रहे जितनी वह जोत सके और बाकी फालतू जमीन दरिद्रनारायण के हेतु समर्पित हो जाये।

गाँव के कुल भूमिहीनो को भूमि मिलनी चाहिए। गाँव के सब लोगो को एक परिवार के समान रहना चाहिए। इस भाँति भूदान का विशिष्ट विचार गाँव की समस्या हल करने वाला है। भूदान मे गाँव की भूमि समस्या का हल तो एक छोटी चीज है, उसमे बडी चीज भूमि की मालकियत मिटाने की है। भूमि भगवान की देन है, उस पर मानव मात्र का अधिकार है। किसी मनुष्य विशेष का अथवा देश विशेष का अधिकार मानना अनुचित विचार है। अमेरिका की जमीन पर अमेरिका का और भारत की जमीन पर भारत को मालकियत का हक नही है। वहाँ चीन, जापान अथवा अन्य देश वाले आना चाहे तो उन्हे आने देना चाहिए।

भूदान-यज्ञ केवल भूमि के बँटवारे का आन्दोलन नही है, यह तो 'प्रेम समृद्ध करने का आन्दोलन' है। प्रेम से आप भूमि देंगे तो भूमिहीन और आपके बीच प्रेम की गाँठ बँध जायेगी। विनोवा जी भूमिदान को एक परिशुद्ध भक्ति मार्ग कहते हैं। भक्ति के मानी हैं, अपना अहंकार छोडकर विराट मे लीन हो जाना। मनुष्य जितने अंश मे समाज से, सृष्टि से और स्रष्टा से अलग रहेगा, उतने अश मे वह दुख का भागी होगा। जब वह समाज मे, सृष्टि मे और ईश्वर मे लीन होगा, तब वह आनन्द का भागी होगा। भूदान-यज्ञ मे सृष्टि, समाज और परमेश्वर मे एकरूप होने की तरकीब बताई गई है। हम अपने पास जो जमीन है उसका एक हिस्सा अपने समाज मे जो ऐसे भाई हैं जिन्हे उसकी आवश्यकता है, उनके लिए देते है, तो समाज के साथ एक रूप होने का आरम्भ करते हैं।

भूदान केवल कुछ भूपतियो अथवा श्रीमानो के लिए ही नही हैं। वह सब के लिए है। हम मे कोई व्यक्ति [illegible] जिसके पास भूमि, धन व सम्पत्ति नही, वह श्रमदान कर सकता है। इस भाँति इस के अन्तर्गत भूमिदान, श्रमदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदान, बुद्धिमान, जीवनदान इत्यादि सभी प्रकार के दानो का समावेश हैं। वस्तुत: भूदान आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति लाने का सत्य, अहिंसा

एवं प्रेम का मार्ग है जो लोगों की न्याय बुद्धि जगाकर एवं उनका हृदय परिवर्तन करके सम्पत्ति के न्यायपूर्ण, उचित और समान वितरण की ओर प्रयत्नशील है।

दार्शनिक आधार

विनोबा जी का कहना है कि हवा, पानी, प्रकाश की भांति भूमि भगवान की देन है। जैसे पानी नही बेचा जाता और हवा की कोई कीमत नही कूनी जाती, वैसे ही भूमि खरीदने बेचने के लिए नही, वरन् प्रेम से लेन-देन के लिए है। उस पर किसी एक का स्वामित्व सामाजिक पाप है। इस पाप से मुक्ति का एक ही उपाय है कि भूपति अपनी भूमि का दान कर दे। भूमिहीन को भूमि देना वैसा ही धर्म है जैसे भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देना।

भूदान केवल पुण्य के लिए नही, वरन् दाता की रक्षा के लिए भी जरूरी है। वर्तमान युग मे वर्ग-संघर्ष और सामाजिक असन्तोष की जो आंधी चल रही है, उससे यदि भूदान द्वारा बचाव न हुआ तो भूपति की जमीन तो जायेगी ही, वह अपनी इज्जत भी खोयेगा। यदि दाता अपनी जमीन का त्याग करता है तो वह अपनी रक्षा करता है, देश की रक्षा करता है और महान यश का भागी होता है।

याचक को स्वजन मान कर दान की क्रिया सरल बना दी गई है। दाता से विनोबा कहते हैं—"भाई, तेरे घर मे पांच बेटे हैं। मैं छठवां होकर तेरे घर मे प्रगट हुआ हूँ। तू मुझे दरिद्रनारायण की खातिर मेरा हक मुझे वापस कर दे।" जब परमेश्वर हमारे सामने दरिद्रनारायण का रूप लेकर साक्षात खड़े हैं और मदद मांग रहे हैं, तो हमे उन्ही की सेवा करनी चाहिए। यही भूदान-यज्ञ का मूल विचार है।

इस आन्दोलन द्वारा विनोबाजी भूमिवानो, सम्पत्तिवानो और विद्वानो की कर्तव्यपरायणता जगाना चाहते हैं। वे पैसे की प्रतिष्ठा तोड कर श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित करना और संघर्ष व स्पर्द्धा की प्रतिष्ठा तोड़कर प्रेम की कीमत बढ़ाना चाहते हैं। यह आन्दोलन मर्यादा-शीलता और हकों पर जोर देने की अपेक्षा कर्त०यों पर जोर देता है।

भूदान का आधार प्रेम और अहिंसा द्वारा लोगो की मानवता जगा कर उनका मत-परिवर्तन और हृदय परिवर्तन है। आज अमीर अपनी अमीरी के कारण जड हैं और गरीब अपनी गरीबी के कारण निष्प्राण हैं। दोनों की मनोवृत्ति बदलने की जरूरत है। भूदान यज्ञ दोनों की मालकियत मांगता है। मालकियत के विसर्जन से जहाँ अमीरों का अहंकार टूटेगा, वहाँ गरीबों की दीनता मिटेगी और उनकी अन्तः चेतना जागेगी।

भूदान पुण्यों में श्रेष्ठ क्यों?

हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी समस्या भूमि की है। यदि वह शान्तिपूर्वक हल की जा सकी तो हम संसार को यह जता सकेंगे कि संसार के बड़े से बड़े प्रश्न शान्ति मार्ग से हमारी इस समस्या की भांति ही हल हो सकते हैं। इससे संसार का पथ-प्रदर्शन हो सकेगा।

भूमि उत्पादन का प्रारम्भिक एवं प्रमुख साधन है और उसका दान जीविका साधन देने के समान है। वह स्थायी दान है। याचक को द्वार-द्वार मांगने की आवश्यकता नहीं रहती।

यदि लोगों को मुफ्त खिलायें तो वे आलसी बनते हैं। भूमि प्राप्त करने वाला उसे परिश्रम से कमायेगा। वह आलसी नहीं बन सकता। उसकी उन्नति होती है।

भूदान में देने वाला घमंडी नहीं बनता और न लेने वाला दीन-हीन। देने वाला अपना अहंकार छोडकर अपना कर्तव्य समझकर देता है और लेने वाला उसे अपना अधिकार समझ कर प्राप्त करता है।

भारत में गाँव-गाँव के धंधे टूट रहे हैं। लोगों को कुछ आधार जमीन ही है। जमीन की मालकियत मिटाना पुण्यों में सर्वश्रेष्ठ पुण्य है।

एशिया भर में जमीन की मांग है और जनसंख्या बढ रही है। कुछ लोगों के हाथ भूमि रहने से शेष लोग असन्तुष्ट रहते हैं। असन्तोष से हिंसा बढ़ती है। भूदान से अशान्ति मिटती है। दुनिया हिंसा के भय से बचती है।

विनोबा जी का विश्वास है कि यदि भूमिहीनों में भूमि बँटेगी तो स्वराज्य की किरणें सूर्य की किरणों के समान घर-घर में पहुँचेंगी। सम विभाजन के दृष्टिकोण से भी भूदान एक उत्तम पुण्य है।

उद्देश्य

भूदान का मुख्य उद्देश्य देश की भूमि समस्या का समाधान है। भूमि समस्या हल करने के लिए जमींदारी उन्मूलन, चकबन्दी, सहकारी खेती इत्यादि अनेक युक्तियाँ सोची गई हैं और कानून बनाए गये हैं, किन्तु सफलतापूर्वक समस्या हल नहीं हुई। भूदान हृदय परिवर्तन द्वारा भूमि के न्यायपूर्ण वितरण की ओर एक महान प्रयत्न है।

भूदान का सन्देश लोगों की न्याय बुद्धि जगाने और उनकी विचार शुद्धि के लिए है। लोगों को न्याय-प्रियता सिखाकर भूदान एक ऐसा सामाजिक वातावरण बनाना चाहता है जिसमें पूर्णतः आर्थिक और सामाजिक साम्य हो।

भूदान का एक उद्देश्य गाँव की सभी समस्याओं का हल है। यह गाँव जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने का एक शान्तिमय मार्ग है। हर गाँव की कुल जमीन गाँव में बँटनी चाहिए, हर गाँव में ग्रामोद्योग होने चाहियें, हर गाँव को अपनी आवश्यकताओं की योजना बनानी चाहिए। हर गाँव अपना कार्य अपने ढंग से करेगा। इस भाँति ग्रामीण जीवन में रामराज्य की भावना का समावेश ही भूदान का लक्ष्य है।

अन्ततोगत्वा, भूदान का उद्देश्य (क) भूमि और सम्पत्ति में व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त करके सामाजिक स्वामित्व स्थापित करना, (ख) एक शस्त्रहीन एवं शासनहीन समाज का निर्माण, (ग) मताधिकार का अन्त करके सर्व सम्मति द्वारा निर्णय तथा (घ) मद्य अवज्ञा और असहयोग द्वारा सम्मिलित सुरक्षा व्यवस्था करना है।

प्रारम्भ और प्रगति

भूदान का समारम्भ आन्ध्र प्रान्त के तेलगाना क्षेत्र में हुआ। तेलंगाना के लोगों ने अपनी भूमि समस्या हल करने के लिये हिंसा का मार्ग अपनाया। परिणाम यह हुआ कि हजारों की हत्या हुई और हजारों की जमीन छीनी गई। लोगों का आराम से रहना दुष्कर हो गया। एक ओर रात के राजाओं, कम्युनिस्टों की तोड़-फोड़ और मार-धाड़ और दूसरी ओर सरकार का दमन चक्र और इन दोनों के बीच जनता पिस गई। महात्मा गांधी के परम शिष्य विनोबा जी तेलगाना के लोगों की दुखदर्द कहानी सुनकर उधर जा निकले। उनसे नलगोंडा जिले के पोचमपल्ली गांव के हरिजन भाइयों ने ८० एकड़ भूमि की याचना की। विनोबा जी ने अपनी प्रार्थना सभा में यह मांग उपस्थित की। तुरन्त श्री रामचन्द्र रेड्डी नामक जमींदार ने उन्हें १०० एकड़ भूमि दान में दे दी। इस प्रकार १८ अप्रेल १९५१ को भूदान यज्ञ का सूत्रपात हुआ। इस दान को विनोबा जी ने भगवान की प्रेरणा का संकेत समझकर गांव-गांव पैदल चलकर भूदान मांगना आरम्भ कर दिया। उन्होंने तेलंगाना की ५१ दिन की यात्रा की; ५१ गांवों में पड़ाव डाले, वे २०० गांवों में घूमे और दो लाख व्यक्तियों से बातचीत की, इस यात्रा में उन्हें १२,२०१ एकड़ भूमि दान में मिली। उन्होंने गांवों के ५०० झगड़ों का भी निबटारा किया। २७ जून को विनोबा जी अपने पौनार आश्रम पहुँच गए। पंडित नेहरू के निमन्त्रण पर १२ सितम्बर १९५१ को उन्होंने दिल्ली की पदयात्रा प्रारम्भ की। १३ नवम्बर को वे दिल्ली पहुँचे। ६२ दिन की इस पदयात्रा में उन्हें १६,४३६ एकड़ भूमि दान में मिली। २ अक्टूबर को सागर नगर में उन्होंने १९५७ तक पाँच करोड़ एकड़ भूमि संचित करने की घोषणा की। १८ अप्रेल १९५२ को सेवापुरी (उ० प्र०) के सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर सर्व सेवा संघ ने २५ लाख एकड़ भूमि आगामी दो वर्ष में प्राप्त करने का संकल्प किया। इस भांति भूदान का प्रथम चरण समाप्त हुआ।

२३ अक्टूबर १९५२ में अपनी बिहार प्रान्त की यात्रा में विनोबा जी ने सम्पत्तिदान का नया आन्दोलन प्रारम्भ किया जो भूदान का द्वितीय चरण माना जा सकता है। भूमि की भांति सम्पत्ति में भी व्यक्तिगत स्वामित्व न मानकर समाज का स्वामित्व माना जाए और अपनी आवश्यकता से अधिक को दान में दिया जाए। जिन्हें यज्ञ की भूमि दी जाती है उन्हें हल, बैल, बीज इत्यादि के लिये सम्पत्ति की आवश्यकता भी है।

मई १९५३ में मगरौठा का प्रथम ग्रामदान हुआ। यह भूदान आन्दोलन का तृतीय चरण माना जा सकता है। ग्रामदान के अन्तर्गत सम्पूर्ण गांव भूमि से निजी स्वामित्व त्यागकर उसे 'ग्राम समाज' को अर्पण कर देता है। ग्राम सभा अथवा पंचायत भूमि का जोतने के लिये वितरण करती अथवा सहकारी खेती करानी है। यह गांव के पुनर्निर्माण एवं उसके अन्न व वस्त्र स्वावलंबन का एक नूतन ढंग है।

मार्च १९५३ में शासन मुक्त व शोषण विहीन समाज रचना की घोषणा की गई, अप्रेल १९५४ में प्रथम जीवन-दान प्राप्त हुआ और एक नया अध्याय भूदान

आन्दोलन में जुड़ा। कालान्तर मे श्रमदान, ताल्लुकदान, सर्वस्वदान इत्यादि अनेक दान-मूलक शब्द इसमे सम्मिलित हुए।

अप्रेल १९६० तक भूदान में ८०० लाख एकड भूमि सात लाख दाताओं से प्राप्त हो चुकी थी। इन नौ वर्ष में विनोबा जी ने ३०,००० मील की पदयात्रा की है। लगभग पाँच हजार सम्पूर्ण गाँव भी दान में प्राप्त हुए हैं। अन्य सम्पत्ति, श्रमदान, जीवनदान के भी अनेक आदर्श उपस्थित किये गए हैं।

इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिये २० लाख रुपये की आर्थिक सहायता राज्य सरकारो से और २२ लाख रुपये की केन्द्रीय सरकार से प्राप्त हुई है। लगभग सभी राज्यो में भूदान सम्बन्धी नियम और कानून भी बन चुके हैं। इस भाँति भूदान एक देशव्यापी आर्थिक पुनर्निर्माण और पुनर्जागरण का आन्दोलन बन गया है।

लाभ

इस आन्दोलन से अनेक लाभ हुये हैं: (१) अनेक भूमिहीनो को भूमि के रूप में निर्वाह साधन प्राप्त हुए हैं और देश की एक गभीर समस्या का हल निकला है। (२) भूदान ने भूमि के सदुपयोग और उत्पादन वृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया है, क्योकि भूदान में बहुधा परती और बंजर भूमि ऐसे लोगों को दी गई है जो उसे परिश्रम से कमा सकें। (३) भूमि के स्वामित्व में स्थिरता आई है, क्योकि दान में मिली भूमि के बेचने और गिरवी रखने का अधिकार नही दिया जाता। (४) इस भाँति भूदान ग्रामीण जनता की आर्थिक स्थिति सुधार रहा है और उन्हे कर्त्तव्यपरायणता एवं स्वावलंबन का पाठ पढ़ा रहा है। (५) भूदान से सबसे बडा लाभ एक नूतन विचार क्रान्ति को जन्म देना और नैतिकता वृद्धि है। आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य प्रेम वृद्धि है। (६) भूदान अहिंसक क्रान्ति द्वारा एक सर्वोदयी कल्याणकारी समाज की स्थापना करने में रत है। (७) इस आन्दोलन से देश को निष्काम कर्म की दीक्षा मिल रही है। (८) भारत की भूमि समस्या के हल करने के साथ ही यह आन्दोलन विश्व को एक नया सन्देश दे रहा है कि कानून और बल प्रयोग के स्थान पर हमारी अनेक समस्यायें प्रेम, शान्ति और अहिंसा के मार्ग से सहज हल हो सकती हैं। (९) भूदान से खादी, ग्रामोद्योग, नई शिक्षा, सहकारी समितियो एव पंचायत व्यवस्था को विशेष बल प्राप्त हुआ है। (१०) भूदान जाति भेदो का निरसन चाहता है। वह संसार के सभी लोगो के सुख समृद्धि की कामना करता है।

आलोचना

भूदान आन्दोलन की कुछ लोगों ने कडी आलोचना भी की है। (क) प्राप्त भूमि का वितरण अत्यन्त मन्द गति से हो रहा है। ८० लाख एकड़ भूमि में से अभी तक ८॥ लाख एकड अर्थात् १० प्रतिशत का ही वितरण हुआ है। (ख) दान में प्राप्त भूमि का एक बडा भाग बंजर और बेकार भूमि बताई जाती है। कुछ लोग ६० प्रतिशत और कुछ ९० प्रतिशत ऐसी भूमि बताते हैं। (ग) भारतीय किसान की जोतें

यों ही छोटी हैं। भूदान उनके उपविभाजन और अपखण्डन को प्रेरणा देता है। यह शंका निराधार है, क्योंकि जोत की अनार्थिकता का ध्यान रखकर ही भूमि का वितरण किया जाता है और सहकारी खेती को प्रोत्साहित किया जाता है। (घ) भूमि बहुधा साधनहीन एवं योग्यता रहित व्यक्तियों के अधिकार में चली जाती है जो आवश्यक अनुभव के अभाव में उसका उपयोग नहीं कर पाते। साधनहीन लोगों के महाजन के चंगुल में फँसने की संभावना रहती है। (ङ) नये किसानों के लिये हल, बैल, बीज आदि साधनों के अभाव में भूमि बेकार पड़ी रहती है और उत्पादन घटता है।

उपसंहार

भूदान आन्दोलन ने देश में एक नई क्रांति और नई विचारधारा को जन्म दिया है जो लोगों में आत्मीयता और प्रेम बढ़ा कर पारस्परिक कलह और द्वेषों को मिटा रहा है। इस भौतिकवादी युग में भूदान विचार शुद्धि, न्याय-प्रियता, सत्य एवं अहिंसा का एक अद्भुत अस्त्र है। भूदान के द्वारा कानून बनाने के लिए अनुकूल वातावरण बनाने में सहायता मिली है। इससे रचनात्मक कार्यक्रम में लोगों की आस्था बढ़ रही है और उनकी विध्वंसात्मक प्रवृत्ति का निराकरण हो रहा है। ग्रामराज्य और राम-राज्य के आदर्श की ओर यह एक नूतन प्रयोग है जो भारतीय गाँवों के जागरण एवं पुनर्निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

"जिस राष्ट्र को अपना अन्न परदेश से लाना पड़ता है, उसकी स्वतन्त्रता हमेशा खतरे में है।"

—काका कालेलकर

३—खाद्यान्न समस्या

रूप-रेखा

१. प्रस्तावना
२. समस्या का स्वरूप
३. हल की आवश्यकता
४. अन्नाभाव के कारण
५. हल करने के प्रयत्न
६. अशोक मेहता समिति
७. कुछ अन्य सुझाव
८. उपसंहार

प्रस्तावना

यह हास्यास्पद एवं आश्चर्यजनक बात है कि इस कृषि प्रधान और साधन सम्पन्न देश में लोगों को अन्न-संकट का सामना करना पड़े। द्वितीय युद्ध के वर्षों में इस समस्या का जन्म हुआ जबकि बंगाल के अकाल जैसे संकट भारत पर आए। तब से अनेक प्रयत्नों के उपरान्त भी इस समस्या को हल करने में हम असमर्थ रहे हैं और देश को करोड़ों रुपए के खाद्यान्न प्रति वर्ष विदेश से आयात करने पड़ते हैं। खाद्यान्न का अभाव देश में द्वितीय युद्ध से पूर्व भी था, किन्तु वह ग्रामीण क्षेत्र में सीमित था। ग्रामीण जनता के मूक स्वभाव के कारण वह समस्या के रूप में हमें नहीं प्रतीत होता था। खाद्यान्न (मुख्यतः गेहूँ) का थोड़ा निर्यात और सस्ते मूल्य इस समस्या पर आवरण डाले रहते थे। द्वितीय युद्धकाल में यह कमी नगरों में भी पहुँच गई जहाँ के लोग संगठित होकर हू हल्ला मचाने लगे। अतएव यह समस्या अपना विकराल रूप धारण कर हमारे सम्मुख खड़ी दिखाई दी।

समस्या का स्वरूप

इस समस्या का मुख्य पहलू खाद्यान्न का भौतिक अभाव है। यह अभाव देश

की आवश्यकता के लगभग १०% के बराबर है। देश की जनसंख्या के लगभग एक तिहाई को पर्याप्त भोजन नही मिलता। १९५२ मे खाद्यान्न की कमी का अनुमान ४८ लाख टन लगाया गया था। इस कमी की खाद्यान्न के आयात द्वारा पूर्ति की जाती है जो १९४७ और १९५९ के तेरह वर्ष मे ७ से ४७ लाख टन तक घटता बढता रहा है और जिसका औसत लगभग २७३२ लाख टन वार्षिक होता है। १९५९ मे ३८ लाख टन खाद्यान्न का आयात किया गया। यदि देश के सभी लोगों को पर्याप्त भोजन दिया जाए तो यह कमी लगभग ७५ लाख टन होती है जिसमे अन्न की कमी ६० लाख टन और दालो की १५ लाख टन है।

खाद्य समस्या का दूसरा पहलू खाद्यान्न के मूल्यो मे उत्तरोत्तर होती हुई वृद्धि है जिससे निम्न श्रेणी के लोगो की क्रय-शक्ति क्षीण होती जाती है। १९३९ की अपेक्षा प्रथम योजना के प्रारम्भ (१९५०-५१) तक खाद्यान्न के मूल्य ४२१ प्रतिशत ऊँचे हो गए थे। १९५२-५३ से कुछ गिरावट हुई, किन्तु १९५५ से फिर वृद्धि होती गई। १९५८ का वर्ष इस सम्बन्ध मे एक ऐतिहासिक महत्व का है जबकि मूल्यो मे अपूर्व वृद्धि हुई।

इस समस्या का तीसरा पहलू भारतीय जनता के भोजन मे पोषक पदार्थों का अभाव है। भारतीय जनसंख्या के केवल ३९% को उपयुक्त भोजन मिलता है, ४१ प्रतिशत को निम्नकोटि का और २० प्रतिशत को अति न्यून कोटि का भोजन मिलता है। आधुनिक स्वास्थ्य विशेषज्ञो ने भारत के प्रति व्यक्ति के उपयुक्त पोषण के लिए २५०० कैलोरी का उपभोग आवश्यक बताया है, किन्तु इस समय हमारे यहाँ का उपभोग स्तर केवल १,८८० कैलोरी है। इङ्गलैंड के प्रति व्यक्ति के भोजन मे ३२०० कैलोरी, अमेरिका मे ३१५०, कनाडा मे ३१४० और जापान मे २११२ कैलोरी का समावेश होता है। डाक्टर आक्रोयड ने भारतीय जनता के उपयुक्त पोषक तत्व प्राप्ति के लिए अन्न के उपभोग में १० प्रतिशत, दालो में २० प्रतिशत, घी-तेल में २५० प्रतिशत, फलों में ५० प्रतिशत, शाको मे १०० प्रतिशत और दूध में ३०० प्रतिशत की बढ़ोतरी का सुझाव दिया है।

हल की आवश्यकता

भोजन का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के स्वास्थ्य, उसकी कार्यशक्ति एवं कार्यकौशल से है। उपयुक्त एवं पोषक भोजन मिलने मे मनुष्य के स्वास्थ्य और उसकी कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। दुर्बल व्यक्ति को रोग भी अधिक सताते हैं। कभी-कभी दुर्बलता भयानक रोग और मृत्यु का कारण भी बन जाती है।

अन्नाभाव के कारण देश के कुछ भागो में भुखमरी फैल जाती है और घोर संकट आ जाता है। १९४३ के बंगाल के अकाल मे लगभग ३२ लाख लोगो की जानें जाती रहीं।

खाद्यान्न जैसे जीवनोपयोगी पदार्थ के लिए कृषि प्रधान कहे जाने वाले देश के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहना अत्यन्त हेय व लज्जाजनक बात है।

अतएव इस समस्या का शीघ्र हल आवश्यक है।

अन्नाभाव के कारण

(क) जनसंख्या वृद्धि—इस समस्या के कारणों में प्रमुख कारण जनसंख्या की अपार वृद्धि है। जिस गति से देश की जनसंख्या बढ़ती जा रही है उसी गति से खाद्यान्न उत्पादन नहीं बढ़ रहा। सन् १९०० और १९३४ के बीच जनसंख्या में २१% वृद्धि हुई जबकि जोती जाने वाली भूमि में केवल ११% वृद्धि हुई। सन् १९११-१२ और १९४०-४१ की अवधि में जनसंख्या २८% बढ़ी जबकि भूमि का क्षेत्रफल ५% और अन्नोत्पादन ४%। सन् १९११ में प्रति व्यक्ति पीछे कृषि क्षेत्र ०.९० एकड़ था जो सन् १९५१ में केवल ०.६२ एकड़ रह गया। उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में देखा गया है कि १९२१ और १९५१ के बीच प्रति व्यक्ति पीछे जोते जाने वाले क्षेत्रफल में भारी कमी हो गई है और भूमि पर दिनों दिन भार बढ़ता जा रहा है। गोरखपुर-देवरिया में सन् १९२१ में प्रति व्यक्ति कृषि क्षेत्रफल ०.७४ एकड़ था जो सन् १९५१ में ०.५० एकड़ रह गया। इसी अवधि में गाज़ीपुर में ०.७३ से ०.५४, बहराइच में ०.९२ से ०.७४, फैज़ाबाद में ०.६० से ०.४६ तथा बस्ती में ०.६७ से ०.५७ एकड़ रह गया। इसके विपरीत देवरिया में कृषि पर निर्भर रहने वाली जनसंख्या सन् १९०१ में ७१.६% थी जो सन् १९५१ में ६३.५% हो गई, बस्ती में ६४.७% से ९०.७%, आजमगढ़ में ५९.४% से ८३.३% तथा गोंडा में ६३.४% से ८६.३% होगई। गोरखपुर में सन् १९२१ में ६२.३% जनसंख्या खेती पर निर्भर रहती थी, किन्तु सन् १९५१ में ८५.७% होगई। १९५०-५१ और सन् १९५५-५६ के पांच वर्ष में उत्तर प्रदेश में प्रति व्यक्ति पीछे खाद्यान्न का उत्पादन ४.२२ मन से घट कर ४.०७ मन रह गया।

(ख) वर्षा की अनिश्चितता—भारतीय कृषि बहुधा वर्षा पर निर्भर है। वर्षा समय कुसमय होती है और फसलें खराब हो जाती हैं। वर्षा वर्ष के कुछ ही महीनों में सीमित होती है और वह भी सर्वदैव सर्वत्र निश्चित नहीं। अतएव अन्नोत्पादन में भारी उतार चढ़ाव और अनिश्चितता रही आती है। १९५०-५१ और १९५५-५६ की अवधि में उत्तर प्रदेश के १४ पूर्वी जिलों में वर्षा की इस अनिश्चितता के कारण उच्चतम और निम्नतम उत्पादन चावल का १२३९ हजार टन व ६९५ हजार टन, गेहूँ का ६९२ हजार टन व ४७३ हजार टन तथा मक्का का ३५८००० टन व ५४००० टन हुआ अर्थात् प्रतिशत अन्तर क्रमशः ५४, ३७ और १२३ था।

(ग) दैवी प्रकोप—कभी-कभी अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, भूकम्प अथवा, अन्य दैवी प्रकोपों के कारण भी फसलें खराब हो जाती हैं। ओले, आँधी, कृषि रोग

कीटाणु, टिड्डी इत्यादि से भी फसलें नष्ट होती देखी गई हैं। उत्तर प्रदेश के कुछ पूर्वी जिलो तथा बिहार मे बाढ माना वर्षा ऋतु की वार्षिक घटना है।

(घ) असंतुलित और पिछड़ी कृषि—भारतीय कृषि अत्यन्त पिछड़ी हुई है। प्रति एकड उपज अन्य देशो की अपेक्षा बहुत कम है। कृषि के असंतुलन के कारण भी पर्याप्त खाद्यान्न उत्पादन संभव नही है। मूल्यो के उतार-चढाव को ध्यान मे रखकर किसान अपना उच्चतम लाभ देखकर फसलें बोता है। फसलो के संतुलन की कोई व्यवस्था देश मे नही है। अतएव कभी गन्ना, कभी कपास, कभी तिलहन इत्यादि का क्षेत्रफल अधिक हो जाता है और खाद्यान्न का कम।

(ङ) देश विभाजन—ब्रह्मा के अलग होने और पाकिस्तान बनने से भी खाद्यान्न के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडा है। ब्रह्मा के अलग होने से चावल के लिए देश भारी कमी मे आ गया। देश विभाजन के उपरान्त भारत मे ८१ प्रतिशत जनसंख्या रह गई जबकि भूमि का क्षेत्रफल केवल ७७ प्रतिशत, चावल का ७३ प्रतिशत, गेहूँ का ७० प्रतिशत तथा सिंचाई क्षेत्रफल ७० प्रतिशत ही देश मे रहा। इससे खाद्यान्न की स्थिति बडी भयानक हो गई।

(च) उपभोक्ता की खाद्य मनोवृत्ति मे परिवर्तन—युद्ध और उपरान्त काल मे राशनिंग एवं मूल्य नियन्त्रण व्यवस्था लागू की गई जिसके अन्तर्गत गेहूँ और चावल निम्न आय-वर्ग को सस्ते मूल्य पर मिलने लगे। इससे उन लोगो को मोटे अन्नो (जौ, चना, ज्वार, बाजरा) के स्थान पर गेहूँ और चावल अधिक खाने की आदत पड गई। अतएव गेहूँ और चावल की माँग मे अपार वृद्धि होती गई है और होती जा रही है तथा उनका अभाव बढता जा रहा है।

(छ) व्यापारी वर्ग की संग्रह प्रवृत्ति एवं मुनाफाखोरी भी देश मे कृत्रिम कमी उत्पन्न करने के लिये उत्तरदाई है।

(ज) ग्रामीण जनता का शहरो मे अधिकाधिक बसते जाना भी गेहूँ और चावल की माँग बढ़ाकर अग्नि मे आहुति का काम करता है।

हल के प्रयत्न

खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिये समय-समय पर सरकार द्वारा अनेक यत्न किये गये हैं। सन् १९४२ मे अन्न के मूल्यों पर नियन्त्रण लगाया गया और अन्त मे बड़े-बडे नगरों मे राशनिंग व्यवस्था जारी की गई। साथ ही साथ 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' प्रारम्भ किया गया। बगाल के अकाल के पश्चात् खाद्यान्न का निर्यात वर्जित घोषित कर दिया गया तथा विदेश से आवश्यकतानुसार अन्न आयात करने की व्यवस्था की गई। राज्य की सरकारो ने किसानों से अन्न मोल लेना प्रारम्भ किया। १९४७ मे स्वावलंबन आन्दोलन छेड़ा गया जिसके अनुसार विविध यत्नो द्वारा देश को १९५२ तक स्वावलंबी बनाने का लक्ष्य अपनाया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना मे खाद्यान्न की उपज बढ़ाने पर विशेष जोर दिया गया और ६५ लाख टन

अधिक अन्न उत्पन्न करने का लक्ष्य अपनाया गया जिसमे अपूर्व सफलता मिली। द्वितीय योजना मे १०० लाख टन अधिक अन्न उपजाने का लक्ष्य भी पूरा हो चुका है। तृतीय पंचवर्षीय योजना मे १०० से १०५ लाख टन अधिक अन्न उपजाने का लक्ष्य रखा गया है और यह आशा की जाती है कि इस योजना के अन्त तक देश अन्न स्वावलंबन प्राप्त कर लेगा और विदेश से अन्न आयात करने की आवश्यकता नही रहेगी।

अशोक मेहता समिति

सन् १९५७ मे इस प्रश्न पर विचार करने के लिये श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता मे एक विशेषज्ञ समिति बिठाई गई जिसने निम्नांकित सुझाव दिये : (क) सरकार खुले बाजार म आवश्यकतानुसार अन्न के क्रय-विक्रय की नीति अपनाए, (ख) अन्न का व्यापार सरकार अपने अधिकार म ले, (ग) अन्न के थोक व्यापारियों पर लाइसेन्स द्वारा नियंत्रण लगाये जाएं, (घ) देश मे गेहूँ और चावल के पर्याप्त भण्डार रखे जाएं, (ङ) बाहर से अन्न आयात करने की समुचित व्यवस्था की जाए, (च) मोटे अन्नों के उपभोग पर विशेष जोर दिया जाए (छ) मूल्य स्थिर रखने के लिये एक स्थायी संगठन स्थापित किया जाए; (ज) खाद्य मंत्रालय के संगठन म परिवर्तन किए जायें।

कुछ अन्य सुझाव

(क) इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते कि अन्न का उत्पादन बढ़ाकर ही खाद्य समस्या हल हो सकती हैं। अन्नोत्पादन के विविध मार्ग अनेक विशेषज्ञों एवं समितियों ने बताए हैं। सिंचाई सुविधाएं बढ़ाना, उत्तम खाद, उन्नति बीज एवं आधुनिक यन्त्र किसान को देना, फसलों का समुचित हेर-फेर, फसल बोने के नए ढंग (खूंटी की बुवाई, चावल का जापानी ढंग), संतुलित खेती, पशुओं की नस्ल सुधार, इत्यादि ऐसी युक्तियाँ हैं जिनके द्वारा उत्पादन वृद्धि संभव है।

(ख) बंजर, दलदल युक्त, खादर, तराई, मूंज कास आच्छादित भूमि को खेती योग्य बनाकर खेती का क्षेत्रफल बढ़ाया जा सकता है।

(ग) जनसंख्या पर रोक लगाए बिना समस्या पर काबू पाना कठिन है क्योंकि २% प्रति वर्ष बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये प्रति वर्ष १० लाख टन अन्न अधिक उत्पन्न होना चाहिए जो असंभव सा ही है।

(घ) लोगो को गेहूँ-चावल के स्थान पर जौ, चना, ज्वार, बाजरा इत्यादि मोटे अन्न तथा फल, तरकारियां, घी-दूध अधिक उपभोग करने की आदत डालनी चाहिए। एक बड़ी सीमा तक यह समस्या हमारी मनोवृत्ति से सम्बन्धित है।

(ङ) वितरण व्यवस्था दोष हीन होनी चाहिए।

उपसंहार

यह देश की सभी समस्याओं में सर्वोपरि है। अत इसे सुलझाने मे बिना भेदभाव के किसान, मजदूर, वणिक वर्ग, उद्योगपति एवं जन-साधारण सभी के सहयोग की आवश्यकता है। सरकारी कर्मचारियों का इस सम्बन्ध म विशेष उत्तरदायित्व है,

क्योंकि बिना उनकी लगन और अध्यवसाय के कोई योजना सफल नहीं हो सकती। हम सभी को दृढ निश्चय करके खाद्यान्न की कमी को दूर करने के काम म जुट जाना चाहिए। मनुष्य जैसा समर्थ प्राणी क्या नहीं कर सकता? ब्रिटेन के प्रसिद्ध भूगोल विशेषज्ञ ने सिद्ध करके दिखाया है कि भूमि का पूर्ण उपयोग करके विश्व की वर्तमान जनसंख्या के चौगुने का पालन-पोषण सहज संभव है। कई देशों के वैज्ञानिकों ने क्लोरैला (Chlorella) नामक एक खाद्य पदार्थ का आविष्कार किया है जिसका प्रति एकड़ उत्पादन आजकल के उत्पादन का बीस गुना हो सकता है। भारत इन आविष्कारों से लाभ उठा सकता है।

आवश्यकता

भारतीय कृषि के पिछड़ेपन, निम्नकोटि के उत्पादन तथा प्रति एकड़ कम उपज का मुख्य कारण भारतीय किसान का पिछड़े यन्त्रों का प्रयोग ही है। लकड़ी के हल, फावड़े, खुरपी, दराँती इत्यादि परम्परागत उपकरणों की कार्य-क्षमता और कार्य कौशल बहुत कम होता है। इससे उत्पादन व्यय बढ़ता है और उपज कम एव महँगी होती है। इसी कारण भारतीय किसान अपनी गरीबी के लिए, अपने ऋण भार के लिए, अपने रूढ़िवाद एव अज्ञान के लिए जगत प्रसिद्ध है। इसी कारण देश मे खाद्यान्न का अभाव है। आज जब हम देश के आर्थिक विकास की योजनायें बना रहे है तो इस बात की अवश्यकता है कि अन्य अग्रगामी राष्ट्रों की भाँति कृषि का भी सुधार करें और अपनी खाद्यान्न एव औद्योगिक कच्चे माल की कमी की पूर्ति करें। बिना कृषि के आधुनिकीकरण के हमारी औद्योगिक आधुनिकीकरण की कोई योजनायें पूरी नही हो सकती।

लाभ

कृषि के यन्त्रीकरण के निम्नांकित मुख्य लाभ बताए जाते हैं :—

(क) किसान को भारी-भारी काम और कठिन परिश्रम करना पड़ता है तथा उसे हास-परिहास व मनोरंजन के लिए कोई अवसर नही मिलता। इसका उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कृषि के यन्त्रीकरण से वह बहुत से भारी एवं थकावट उत्पन्न करने वाले काम से बच जाएगा तथा उसे मनोरंजन, हास-परिहास, स्वास्थ्य-सुधार इत्यादि के लिए अवसर मिल सकेगा।

(२) कृषि मे काम आने वाले पशु बहुत-सी उत्पन्न उपज स्वय खा जाते हैं जिससे मानवी आवश्यकताओं के लिए अन्नादि की कमी हो जाती है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका म १,२०,००,००० घोड़े और खच्चर हटा कर ट्रैक्टरों से काम लिए जाने पर ३,३०,००,००० एकड़ भूमि जिस पर उनके लिए चारा उगाया जाता था की बचत हो गई।

(३) पिछड़े यन्त्रों के स्थान पर आधुनिक यन्त्रों के प्रयोग से उत्पादन मे अपार वृद्धि होगी और हमारी खाद्यान्न एव औद्योगिक कच्चे माल की कमी अनायास ही दूर हो जाएगी।

(४) यन्त्रीकरण के उपरान्त उत्पादन की नई-नई रीतियाँ और नए-नए साधन विकसित हो सकेंगे जिनमे कि विचलित जनसख्या को काम मिल सकेगा।

(५) देश के साधनों का पूर्ण उपयोग होगा और देश की गरीबी दूर होगी।

(६) आज भारतीय किसान कृषि कार्य मे इसलिए लगा रहता है कि उसे और कोई व्यवसाय उपलब्ध नही है। कृषि के यन्त्रीकरण के उपरान्त अनेक सहायक धन्धे खड़े हो सकेंगे और उन्हें अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठाने का अवसर मिलेगा।

(७) भारत म हजारों लाखों एकड़ भूमि ऊसर, बन्जर, दलदली अथवा अन्य प्रकार कृषि के अयोग्य है। यन्त्रों के प्रयोग से ऐसी भूमि का कृषिकरण हो सकेगा।

सरकारी नीति

देश की कृषि के पिछड़ेपन एवं खाद्यान्न और औद्योगिक कच्चे माल की कमी के कारण कृषि उपज बढ़ाने के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी यत्न काम में लाए जा रहे हैं। इन्ही यत्नों में से एक यत्न भारत सरकार की कृषि के यन्त्रीकरण के प्रति प्रोत्साहित करने की नीति है। इसी कारण भारत सरकार ने कृषि कार्यों के लिए प्रयोग किए जाने वाले ट्रैक्टरों एवं डीजिल तेल से उत्पादन कर घटाने का निश्चय किया है। कई वर्ष से केन्द्रीय सरकार की अनुमति ले कर राज्यों की सरकारें उन्नतशील किसानों को ट्रैक्टर अथवा अन्य आधुनिक यन्त्र-उपकरण लेने के निमित्त तकावी ऋण देते हैं। यह सिद्ध होने पर कि कोई ट्रैक्टर वस्तुत: खेती के लिए ही प्रयोग किया जाएगा, उस पर आयात-कर में भी छूट दे दी जाती है। हमारे प्रधान-मन्त्री राजस्थान के सूरतगढ़ फार्म की प्रगति से इतने प्रभावित हुए हैं कि उन्होंने तृतीय योजना काल में देश के अन्य क्षेत्रों में ऐसे ही दस और फार्म खोलने का विचार व्यक्त किया है जहाँ आधुनिक यन्त्रों की सहायता से खेती की जाएगी। देश में ट्रैक्टर बनाने के कारखाने खोले जाने के प्रश्न पर भी गंभीरता से विचार किया जा रहा है और १९६० में इस विषय का अध्ययन करने के लिए एक ट्रैक्टर समिति भी नियुक्त की जा चुकी है। इस भांति भारत सरकार की नीति कृषि-यन्त्रीकरण को पूर्णतः प्रोत्साहन देने की है।

सन् १९५१ में देश में ९ लाख ट्रैक्टर, ९३० लाख लोहे के हल तथा २१ लाख बिजली चालित गन्ना पेलने वाले कोल्हू थे जिनकी संख्या १९५६ तक क्रमशः २१ लाख, १३६७ लाख और २३ लाख हो गई। इन आंकड़ों से विदित होता है कि ट्रैक्टरों में १३३%, लोहे के हलों में ४७% तथा कोल्हुओं में १०% की वृद्धि हुई, तो भी देश के कृषि क्षेत्रफल का एक बड़ा भाग अभी भी लकड़ी के हल और बैल से चलाए जाने वाले कोल्हू पर निर्भर है। ट्रैक्टर कई कारणों से अधिकाधिक प्रयोग में आ रहा है। पंजाब के आर्थिक जांच बोर्ड (Board of Economic Inquiry) के एक हाल के प्रतिवेदन से ज्ञात हुआ है कि पंजाब में १९५१ में केवल ८५८ ट्रैक्टर थे, किन्तु १९५७ में इनकी संख्या ४१७२ अर्थात् लगभग चार गुनी हो गई। इस प्रगति के निम्नांकित मुख्य कारण बताए गए हैं जो देश के अन्य क्षेत्रों पर भी लागू होते हैं : (१) केन्द्रीय व राज्यों की सरकारों एवं अनेक किसानों ने नई भूमि तोड़ने के लिए ट्रैक्टरों का प्रयोग किया है ; (२) भूमि सुधार सम्बन्धी कानूनों से भयभीत हो कर अनेक भूस्वामियों ने ट्रैक्टरों की सहायता से अधिक भूमि अपनी जोत में ले ली है ; (३) शिक्षित वर्ग की बढ़ती हुई बेकारी ने अनेक युवकों को ट्रैक्टर द्वारा खेती करने पर बाध्य किया है ; (४) अनेक भू-स्वामियों को कृषि जन्य पदार्थों के बढ़ते हुए मूल्यों के कारण ट्रैक्टरों की सहायता से स्वयं खेती करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। (५) कुछ क्षेत्रों में श्रम की कमी ने भूपतियों को स्वयं खेती करने के लिए विवश किया है। यह ध्यान रखना चाहिए कि बांध, नहरें, नलकूप, सड़कें

इत्यादि बनाने की अनेक योजनाओं के कारण अनेक क्षेत्रों में कृषि-श्रम की भारी कमी हो गई है।

भविष्य

ट्रैक्टर के गत वर्षों में अधिकाधिक प्रयोग होते हुए भी इसके प्रयोग का क्षेत्र सीमित है और यह देश के लिए लोकप्रिय साधन नहीं बन सकता, क्योंकि भारतीय किसान की कंगाली, उसकी छोटी जोतें एवं उनका बिखरापन उसके मार्ग की भारी बाधायें हैं। पंजाब के आर्थिक जाँच बोर्ड के आँकड़ों के अनुसार ट्रैक्टर से खेती करने के लिए प्रति एकड़ भूमि के निमित्त किसान को २४१ रु० विनियोग करने पड़ते हैं जबकि बैल की खेती के लिए केवल ११८ रु० अर्थात् ट्रैक्टर की खेती के लिए दुगुने धन की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त ट्रैक्टर की खेती के लिए सिंचाई वाली भूमि पर ४७ रु० और बिना सिंचाई भूमि पर ४३ रु० प्रति एकड़ केवल शक्ति के लिए व्यय करने पड़ते हैं। सिंचाई भूमि पर वास्तविक व्यय का अनुमान ट्रैक्टर की खेती का १८१ ५ रु० और बैल की खेती का १५० रु० प्रति एकड़ है। ट्रैक्टर का प्रारम्भिक मूल्य, उसकी मरम्मत एवं सञ्चालन व्यय सभी साधारण भारतीय किसान की हैसियत से बाहर हैं। इस सब भारी व्यय से यदि आय में अधिक वृद्धि हो जाए तो किसान ऋण लेकर ट्रैक्टर खरीद सकता है और शनैः शनैः ऋण चुकता कर सकता है, किन्तु आय में व्यय के अनुरूप वृद्धि नहीं होती। सिंचाई की जाने वाली भूमि से प्रति एकड़ ट्रैक्टर की खेती से १२१ रु० शुद्ध आय होती है जबकि बैल की खेती से १२३ रु०। इसी भाँति सिंचाई रहित भूमि से यह आय क्रमशः २० रु० और ७५ रु० है। प्रति एकड़ उपज भी ट्रैक्टर से बैल की अपेक्षा सभी फसलों में अधिक नहीं होती। सिंचाई युक्त भूमि में हल से ट्रैक्टर की अपेक्षा कपास, चना, जौ और मक्का की उपज अधिक होती है। देशी कपास सिंचाई युक्त और सिंचाई हीन दोनों ही प्रकार की भूमि में हल से अधिक होती है। गेहूँ, गन्ना, मक्का, चावल इत्यादि सिंचाई हीन भूमि में हल से ट्रैक्टर की अपेक्षा बहुत अधिक उपज देते हैं। आय, व्यय, उपज इत्यादि सभी बातों को विचार कर यह निष्कर्ष निकलता है कि शारीरिक श्रम में ट्रैक्टर से कुछ कमी अवश्य हो जाती है, किन्तु खर्च बढ़ जाने से इस सारी कमी का सर्वथा लोप हो जाता है। अतएव ट्रैक्टर का बड़े पैमाने पर प्रयोग लाभदायक नहीं है। यही बात कृषि सम्बन्धी अन्य यन्त्रों के लिए सत्य है। अतएव देश में कृषि यन्त्रीकरण करते समय बड़े सोच विचार कर पग बढ़ाना चाहिए।

"सरकारी और निजी क्षेत्रों का पृथक् अस्तित्व नही माना जा सकता, वे एक ही शरीर के दो अंगो के समान हैं और इसी भांति उन्हे मिल-जुल कर काम करना चाहिए।"

—योजना आयोग

५—औद्योगिक नीति

रूप-रेखा

१. औद्योगिक नीति की आवश्यकता।

२ परतन्त्र भारत मे औद्योगिक नीति का अभाव और उसके दुष्परिणाम।

३. हमारी औद्योगिक नीति का आविर्भाव।

४. स्वतन्त्र भारत की औद्योगिक नीति—अप्रैल १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा :

(क) उद्देश्य।

(ख) बडे उद्योगो का वर्गीकरण।

(ग) छोटे उद्योगो के प्रति दृष्टिकोण।

(घ) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था।

(ङ) पूंजी-श्रम के सम्बन्ध।

(च) प्रशासन व्यवस्था।

(छ) विदेशी पूंजी।

५. औद्योगिक नियन्त्रण एवं नियमन।

६. संशोधन की आवश्यकता।

७ १९५६ की नई औद्योगिक नीति :

(क) उद्देश्य,

(ख) बडे उद्योगों के तीन वर्ग,

(ग) लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन,
(घ) उद्योगो का क्षेत्रीय वितरण,
(ङ) उद्योगो का नियन्त्रण नियमन।
(च) विदेशी पूंजी सम्बन्धी नीति।

८. आलोचना

औद्योगिक नीति की आवश्यकता

आज के उद्योग प्रधान युग मे प्रत्येक देश की औद्योगिक उन्नति आवश्यक है। बिना किसी निश्चित नीति के यह उन्नति सर्वांगपूर्ण एवं सन्तुलित नहीं हो सकती। इसी कारण आज सभी देशो की अपनी कोई औद्योगिक नीति होती है, जिसके अनुसार सारा औद्योगिक ढाँचा एक पूर्व निश्चित ढाँचे में ढाला जाता है, सरकार और पूंजीपतियो के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथा उद्योगो का क्षेत्रीय विभाजन निर्धारित किया जाता है।

परतंत्र भारत मे औद्योगिक नीति का अभाव

अंग्रेजी शासन काल मे भारत का प्राचीन औद्योगिक संगठन छिन्न-भिन्न हो गया, किन्तु उसके स्थान पर कोई नया संगठन नहीं स्थापित किया गया। जो कुछ औद्योगीकरण देश में हुआ वह किसी निश्चित नीति के अभाव मे अव्यवस्थित ढग से हुआ। केवल कुछ उपभोग्य पदार्थ सम्बन्धी उद्योग स्थापित हुए, मूल एवं आधारभुत उद्योगो का देश मे सर्वथा अभाव बना रहा। एक शताब्दी के औद्योगीकरण के उपरात भी देश औद्योगिक दृष्टि से अपग अवस्था मे था। हमे अपनी आवश्यकता की सभी महत्वपूर्ण वस्तुएं विदेश से आयात करनी पड़ती थी। देश के औद्योगिक साधनो का कोई उपयोग न हो सका।

औद्योगिक नीति का आविर्भाव

प्रथम विश्व-युद्ध काल मे भारत को अपने दुर्बल औद्योगिक ढांचे के दुष्परिणाम ज्ञात हुए और १९१६ मे भारतीय औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की गई। आयोग के सुझावो तथा तत्सम्बन्धी विचार-विमर्श के उपरान्त १९२१-२२ का तटकर आयोग बिठाया गया। अन्त मे १९२३ से भेद-भावपूर्ण संरक्षण की नीति अपनाकर कुछ उद्योगो का विदेशी प्रतियोगिता से बचाव किया गया। द्वितीय युद्ध-काल मे हमे और भी अधिक अपनी भूल ज्ञात हुई। देश के औद्योगिक ढांचे मे कुछ सुधार करने के विचार से १९४४ मे भारत सरकार ने आयोजन एवं विकास विभाग खोला जिसने अप्रैल १९४५ मे औद्योगिक नीति सम्बन्धी एक वक्तव्य प्रकाशित किया और सरकार एवं निजी पूंजीपति का औद्योगिक उत्तरदायित्व बताया। अक्टूबर १९४६ मे सलाहकार आयोजन बोर्ड (Advisory Planning Board) और दिसम्बर १९४७ मे औद्योगिक सम्मेलन ने महत्वपूर्ण निर्णय किए जिन्होंने कुछ उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की ओर संकेत किया। इसी समय अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति द्वारा नियुक्त आर्थिक कार्यक्रम समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ जिसमे कुछ क्षेत्रो मे सभी नए

रहेगी। यदि इस क्षेत्र के किसी उद्योग की प्रगति सन्तोषजनक नहीं होती है तो उसमे सरकार हस्तक्षेप कर सकती है। इस क्षेत्र के कुछ उद्योगों को सरकार चलाने भी लगी थी जैसे बिजली, नदी घाटी योजनायें, उर्वरक निर्माण, औषधि निर्माण, इत्यादि।

(४) नियंत्रित उद्योग—कुछ महत्वपूर्ण आधारभूत उद्योगो का केन्द्रीय सरकार की देख-रेख मे आयोजन और नियमन आवश्यक समझा गया। इस सूची मे १८ उद्योगो के नाम लिखे गए जिनमे नमक, मोटर, ट्रैक्टर, मशीनी यन्त्र, रबड, सूती व ऊनी वस्त्र, सीमेंट, चीनी, कागज, विमान व समुद्र परिवहन, खनिज इत्यादि सम्मिलित थे।

(ग) लघु एवं कुटीर उद्योग—इस नीति के अनुसार कुटीर और लघु उद्योगो के राष्ट्रीय महत्व पर पूर्ण ध्यान दिया गया। उनके विस्थापितो के पुनर्संस्थापन, स्थानीय साधनो के उपयोग तथा स्थानीय स्वावलम्बन सम्बन्धी महत्व को भली भांति स्वीकार किया गया। आवश्यक सरकारी संगठन स्थापित करके उनकी अनेक समस्याओ के सुलझाने का निश्चय किया गया।

(घ) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था—बडे उद्योगों के वर्गीकरण का मुख्य उद्देश्य देश के उद्योगो का सरकार और उद्योगपति के लिए अलग-अलग उत्तरदायित्व एवं स्वामित्व निर्धारित करना था।

(ङ) पूंजी व श्रम के सम्बन्ध सुधारने के लिए आवश्यक संगठन और व्यवस्था की गई।

(च) प्रशासन संगठन—इस नीति के लागू करने के लिए केन्द्र में, राज्यों मे और क्षेत्रो मे प्रशासन संगठन स्थापित करने का निश्चय किया गया।

(छ) विदेशी पूंजी—देश के औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूंजी और ज्ञान का उपयोग आवश्यक बताया, उसका महत्व पूर्णतः स्वीकार किया तथा उसके उपयोग के नियम बनाए गए।

इस घोषणा के उपरान्त विदेशी पूंजी हतोत्साहित होती दिखाई दी। अतएव ६ अप्रैल १९४९ को प्रधान मन्त्री ने विदेशी पूंजी सम्बन्धी नीति का खुले शब्दो मे स्पष्टीकरण किया कि (१) सरकार विदेशी औद्योगिक संस्थाओं से देश की औद्योगिक संस्थाओ की भांति ही देश की औद्योगिक नीति के आदर की आशा करती है, किन्तु उनके मार्ग मे कोई बाधा नही खडी करना चाहती; (२) विदेशी पूंजी को लाभ कमाने के पूर्ण अवसर दिए जायेंगे और उसके देशगमन पर कोई रुकावट नहीं खडी की जाएगी, तथा (३) राष्ट्रीयकरण के समय उन्हें उचित हानिपूर्ति दी जाएगी।

उद्योगों का नियंत्रण और नियमन

भारत सरकार की औद्योगिक नीति के अन्तर्गत एक वर्ग ऐसे आधारभूत

उद्योगो का था जिनका देश हित मे सरकारी नियमन आवश्यक था। इसी निर्णय के अनुसार १९५१ का श्रौद्योगिक विकास एवं नियमन कानून बनाया गया जिसके अन्तर्गत एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् और विविध उद्योगो के लिए विकास परिषदें स्थापित की गई। इस क्षेत्र के उद्योगो का स्थापन, विस्तार, उत्पादन इत्यादि सभी क्रियायें एक लाइसेंस समिति की अनुमति द्वारा ही सभव हैं। प्रारम्भ मे यह कानून केवल ३७ उद्योगो पर लागू होता था। अब इसकी परिधि के अन्तर्गत १६५ उद्योग आ गए हैं। इस कानून के अन्तर्गत अब उन सभी उद्योगो को सरकारी लाइसेंस लेना आवश्यक है जिनमे १०० अथवा अधिक मजदूर काम करते हैं और जिनकी १० लाख रुपए से अधिक स्थायी सम्पत्ति है।

संशोधन की आवश्यकता

१९४८ की श्रौद्योगिक नीति बनने के उपरान्त के वर्षों मे देश का आर्थिक विकास तेजी से होता गया। आठ वर्ष की अवधि मे देश की अर्थ-व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गए। १९५० में भारत का नया विधान लागू हुआ जिसके अनुसार देशवासियो को कुछ मूल-अधिकार दिए गए जिनमें आर्थिक अधिकार भी सम्मिलित थे। दूसरे, प्रथम पचवर्षीय योजना पूर्ण हो चुकी थी और द्वितीय योजना देश के सम्मुख रखनी थी। द्वितीय योजना मे श्रौद्योगीकरण को प्राथमिकता देने की चर्चा देश भर में चल रही थी। तीसरे, ससद ने समाजवादी समाज की रचना का अन्तिम ध्येय स्वीकार कर लिया था। चौथे, १९४८ की नीति के अनुसार कुछ उद्योगो के *राष्ट्रीयकरण का प्रश्न दस वर्ष उपरान्त स्पष्ट करना आवश्यक था।* इन्ही कारणो से देश के लिए एक नई श्रौद्योगिक नीति की आवश्यकता थी।

१९५६ की श्रौद्योगिक नीति

इन्ही परिवर्तित परिस्थितियो का ध्यान रखकर भारत सरकार ने ३० अप्रैल १९५६ को नई श्रौद्योगिक नीति की घोषणा की। इस के मुख्य पहलुओ पर नीचे विचार किया जाता है।

(क) उद्देश्य—नई नीति के मुख्य उद्देश्य (१) आर्थिक विकास और *श्रौद्योगीकरण की गति बढ़ाना,* (२) विशेषत भारी एव मशीन निर्माण उद्योगो का विकास, (३) सरकारी क्षेत्र का विस्तार (४) एक विस्तृत एव उन्नतशील सहकारी क्षेत्र स्थापित करना, (५) काम के साधन बढ़ाना व रहन-सहन ऊँचा उठाना, (६) आय और सम्पत्ति की विषमता मिटाना, तथा निजी एकाधिकार एवं आर्थिक *शक्ति का केन्द्रीयकरण रोकना, इत्यादि गिनाए गए।*

(ख) बड़े उद्योगों के तीन वर्ग—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के लक्ष्य के अनुरूप सरकारी क्षेत्र को यथा सम्भव विस्तृत करने की नीति अपनाई गई और बड़े उद्योगो के तीन वर्ग किए गए :

आलोचना

यद्यपि देश मे इस नीति का स्वागत हुआ है और भारत के औद्योगीकरण मे इससे भारी प्रगति भी हुई है, तो भी कई क्षेत्रों मे इसकी कडी आलोचना भी हुई है। कुछ लोगों का कहना है कि यह नीति निजी क्षेत्र की उपेक्षा करती है तथा निजी साहस को मन्द करती है। वस्तुत ऐसी लचीली नीति की आवश्यकता थी जिसमे सरकारी और निजी क्षेत्र दोनो ही देश के औद्योगीकरण मे यथाशक्ति योग देते रहते। उद्योगों का सरकारी और निजी क्षेत्रो मे विभाजन अनावश्यक बताया जाता है, क्योकि भारत की मुख्य समस्या औद्योगिक विकास और उत्पादन वृद्धि की है न कि स्वामित्व परिवर्तन की। राष्ट्रीयकरण की गति बडी तेज और स देहात्मक है। कुछ लोग भारी मशीनो का निर्माण और अधिक प्रयोग गांधीजी के सिद्धान्तो के विरुद्ध बताते हैं।

"भौतिक सभ्यता की लोहा अधिकतम लाभदायक धातु है, इसका अर्थ सयत्र, औजार एव मशीनें है।"

—ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका

६—लोहा एवं इस्पात उद्योग

रूप रेखा

१ लोहे एवं इस्पात का महत्व
२. उद्योग का प्राचीन स्वरूप
३ आधुनिक उद्योग का इतिहास
   (क) तीन कारखाने
   (ख) सरक्षण -
   (ग) द्वितीय युद्ध
   (घ) १६४५ का विशेषज्ञ दल (Steel Panel)
   (ङ) तीन नए कारखाने
   (च) वर्तमान स्थिति एवं उत्पादन
४. उद्योग की समस्यायें
   (क) वित्त
   (ख) प्रशिक्षित व्यक्ति
   (ग) परिवहन
   (घ) अभिनवीकरण
   (ङ) श्रम
   (च) कच्चा माल
५ भविष्य।

लोहे-इस्पात का महत्व

लोहा-इस्पात आधुनिक आर्थिक जीवन का प्राण है। छोटे-बड़े उद्योग, भवन-निर्माण, परिवहन सेवाएं, बांध, शक्ति संचय सभी क्षेत्रों में लोहे-इस्पात का प्रयोग

अनिवार्य है। लोहे-इस्पात को आधुनिक सभ्यता का आधार कहे तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इस धातु के इस महत्व के कारण ही किसी देश अथवा जाति की प्रगति लोहे-इस्पात के उत्पादन और उपभोग से आंकी जाती है। इसी कारण विश्व के सभी देश इसका उत्पादन बढाने के विविध प्रयत्न कर रहे हैं। १९३७ और १९५५ की अवधि में विश्व का इस्पात उत्पादन दूना हो गया।

प्राचीन वैभव

भारत इस्पात के प्राचीनतम उत्पादकों में से है और आज से दो हजार वर्ष पूर्व लोहा-इस्पात उत्पन्न करता था। दिल्ली का लौह-स्तम्भ इसका जीता-जागता प्रमाण है जो ४१५ ईस्वी का बताया जाता है। यह लगभग २३ फीट लम्बा है और इसका व्यास १२॥ इन्च से १५॥ इन्च तक है। इसकी तोल लगभग ६ टन है। अति प्राचीन काल में हैदराबाद से दमिश्क को इस्पात निर्यात किया जाता था जिससे वहाँ के प्रसिद्ध छुरे और तलवारें बनते थे। भारत इस्पात का प्रयोग अस्त्र-शस्त्रों व यंत्र-उपकरणों के निर्माण तथा सजावट के कामों में करता था। यहाँ की अगरिया और लोहार जातियाँ इस उद्योग के विशेषज्ञ थे। इसके भग्नावशेष अब भी भट्टियों के रूप में मिलते हैं।

विदेशी शासन-काल में अन्य उद्योगों की भाँति इस उद्योग का भी पतन हुआ। अब भारत लोहे-इस्पात के उत्पादन में अन्य देशों से अत्यन्त पीछे है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का इस्पात का उत्पादन १०६२ लाख टन, रूस का ४५३ लाख टन, पश्चिमी जर्मनी का २१३ लाख टन, ब्रिटेन का २०१ लाख टन, फ्रांस का १०७ लाख टन तथा भारत का १८ लाख टन है। लोहे का प्रति व्यक्ति पीछे उपभोग संयुक्त राष्ट्र में ३३५ किलोग्राम और विश्व मे ३६ किलोग्राम है, जबकि भारत मे केवल ६ किलो-ग्राम है।

आधुनिक उद्योग का इतिहास

सन् १७७७ और १८७५ के बीच बंगाल, बिहार, मद्रास, उत्तर-प्रदेश तथा गुजरात मे लकड़ी के कोयले द्वारा लोहा-इस्पात बनाने के अनेक प्रयत्न सरकार और यूरोपियन लोगो ने किए, किन्तु विफल रहे। १८७५ मे बंगाल (अथवा बाराकर) लोहा कम्पनी (Bengal Iron Co) आसनसोल और रानीगंज की कोयले की खान के निकट कुल्टी नामक स्थान पर स्थापित हुई। इसने पत्थर के कोयले का प्रयोग प्रारम्भ किया। चार वर्ष उपरान्त यह बन्द हो गई और १८८१ मे इसे सरकार ने ले लिया तथा आठ वर्ष तक चलाया। सरकार ने इसे १८८९ मे एक नई कम्पनी को बेच दिया जिसका नाम बंगाल लोहा-इस्पात कम्पनी (Bengal Iron & Steel Co) रखा गया। १८९४ मे मार्टिन एण्ड क०, कलकत्ता इसके प्रबन्ध अभिकर्त्ता नियुक्त हुए। प्रथम युद्धकाल मे इसे अच्छा अवसर मिला और १९१९ मे पुनर्सङ्गठित होकर इसका नाम बंगाल लोहा कम्पनी (Bengal Iron Co.) रखा गया। १९१८ मे हीरापुर मे एक नई कम्पनी भारतीय

लोहा-इस्पात कम्पनी (Indian Iron & Steel Co) और बनी जिसके अधिकांश अंश पुरानी बंगाल लोहा कम्पनी ने ले लिए। भारत मे सर्व प्रथम आधुनिक ढग से लोहा-इस्पात बनाने का श्रेय इन्ही दोनो कारखानो को है। सन् १९३६ मे कुल्टी के कारखाने को भारतीय लोहा-इस्पात कम्पनी ने अपने अधिकार मे ले लिया। इस कम्पनी ने १९३७ म इस्पात बनाने के लिए बर्नपुर मे बंगाल स्टील कारपोरेशन नामक सहायक कारखाना स्थापित किया। १९५३ मे इसे भारतीय लोहा-इस्पात कम्पनी ने अपने अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया।

दूसरा लोहे-इस्पात का कारखाना श्री जमशेदजी नसरवानजी ताता के अथक प्रयत्न से सकची नामक स्थान पर बिहार मे स्थापित हुआ। श्री ताता बम्बई के एक पारसी थे जिन्होने सूती वस्त्र व्यवसाय म अच्छा लाभ कमाने के उपरान्त १८८२ मे लोहे-इस्पात उद्योग के विकास की ओर ध्यान दिया। सरकारी सहयोग के अभाव मे उनके प्रयत्न तुरन्त सफल न हुए, किन्तु उन्होंने साहस न छोडा। बीस वर्ष उपरान्त जब जॉर्ज हैमिल्टन (George Hamilton) भारत मंत्री हुए तो सरकारी नीति म परिवर्तन आया और ताता को प्रोत्साहित किया गया। अतएव १९०३ मे उन्होने फिर प्रयत्न प्रारम्भ किया। फलस्वरूप १९०८ मे जमशेदपुर का कारखाना स्थापित हुआ। इसने १९११ मे लोहा और १९१३ मे इस्पात बनाना प्रारम्भ किया।

तीसरा लोहे का कारखाना मैसूर सरकार द्वारा १९२० मे भद्रावती नामक स्थान पर स्थापित हुआ। १९३४ में इसके साथ एक इस्पात कारखाना भी चालू कर दिया गया। अब इसे मैसूर लोहा-इस्पात कारखाना कहा जाता है।

प्रथम विश्व युद्धकाल में ताता कम्पनी को उन्नति करने का अवसर मिला, किन्तु युद्ध के उपरान्त विदेशी प्रतियोगिता के कारण उसकी स्थिति बिगडने लगी। अतएव १९२३ में इसे संरक्षण मिल गया। सरक्षण के उपरा त उसकी स्थिति म सुधार हुआ। इस्पात का उत्पादन १९२३-२४ में १,६३,००० टन था जो १९३८-३९ में बढ़कर ७,०१,००० टन हो गया। १९२३-२४ में यह कम्पनी देश के इस्पात की माँग के १७ ६ प्रतिशत की ही पूर्ति करती थी, किन्तु १९३३-३४ तक यह ७६% माँग की पूर्ति करने लगी।

द्वितीय युद्धकाल में भी उद्योग को संरक्षण मिलता रहा। साथ ही माँग बढ़ने से उत्पादन बढाने और आकार-विस्तार का भी अवसर इस उद्योग को मिला। १९४७ तक इस उद्योग की स्थिति इतनी अच्छी हो गई थी कि इसके लिये सरक्षण अनावश्यक बताया गया और उसे समाप्त कर दिया गया। इस भाँति २३ वर्ष तक सरक्षण मिलने के उपरान्त इस उद्योग को अपने पैरो पर खडे होने की सामर्थ्य प्राप्त हुई।

युद्धोत्तर काल में विशेषत स्वतन्त्रता के उपरान्त औद्योगीकरण की प्रगति के साथ-साथ देश में लोहे-इस्पात की माँग अत्यन्त बढ गई और तीनो कारखानों का उत्पादन अपर्याप्त सिद्ध होने लगा। प्रथम पचवर्षीय योजना के बनते समय योजना

आयोग ने इस्पात का उत्पादन देश की माँग के केवल ५०% के बराबर आँका और उसमें वृद्धि करने की बात पर विशेष जोर दिया। अतएव लोहे का उत्पादन १५,७२,००० टन (१६५०-५१) से १६,५०,००० टन (१६५५-५६) और इस्पात का उत्पादन ६,७६,००० टन से १२,८०,००० टन करने का लक्ष्य निर्धारित किया।

सन् १६४८ की भारत सरकार की औद्योगिक नीति के अनुसार इस उद्योग को सरकारी क्षेत्र में लेने की घोषणा की गई थी। उत्पादन बढाने के विचार से एक ओर भारत सरकार ने तत्कालीन उत्पादकों को आर्थिक सहायता देकर बढावा दिया और दूसरी ओर सरकारी क्षेत्र में नए कारखाने खोलने के लिए विदेशी उत्पादकों से सम्पर्क स्थापित किया एवं परामर्श लिया। फलस्वरूप १६५५-५६ तक लोहे का उत्पादन देश मे बढकर १६,१५,४०० टन और इस्पात का १२,८५,७०० टन हो गया। द्वितीय योजना काल में तीन नए इस्पात कारखाने राउरकेला (उड़ीसा), भिलाई (मध्य प्रदेश) और दुर्गापुर (प० बंगाल) में क्रमशः जर्मनी, रूस और ब्रिटेन की सहायता से खोले। इनमें से प्रत्येक का लक्ष्य १० लाख टन इस्पात उत्पन्न करने की क्षमता का है। सन् १६५६ में इन नए कारखानों ने उत्पादन प्रारम्भ कर दिया। तृतीय योजना मे एक चौथा इस्पात कारखाना बिहार के बोकरो नगर में और खोला जायेगा। इस समय इस्पात का वार्षिक उत्पादन २६ लाख टन है जो तृतीय योजना के अन्त तक ६६ लाख टन हो जाएगा। आशा की जाती है कि तृतीय योजना के अन्त तक देश लोहे-इस्पात में स्वावलम्बी ही नही हो जाएगा, कुछ लोहा-इस्पात निर्यात् भी करने लगेगा।

१६५७ की औद्योगिक गणना के अनुसार देश में इस समय छोटे-बडे १४७ कारखाने हैं जिनमें १२१ करोड रुपए पूँजी (८१ करोड रु० अचल और ४० करोड रु० चल) लगी हुई है तथा ६० हजार व्यक्ति काम करते हैं जिनमें से ७४००० श्रमिक हैं। इस समय कच्चे लोहे का देश में उत्पादन १२० लाख टन और तैयार लोहे का ८६ लाख टन है। इस्पात का वर्तमान उत्पादन २६ लाख टन है जिस के तृतीय योजना के अन्त तक ६६ लाख टन होने की सम्भवना है।

उद्योग की समस्यायें

उद्योग की मुख्य समस्यायें: (क) कच्चे माल, (ख) परिवहन (ग) पूँजी (घ) श्रम तथा (ङ) अभिनवीकरण से सम्बन्धित हैं।

कच्चे माल मे खनिज लोहा, कोयला, खनिज लोहक (manganese) मुख्य हैं जो भारत मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हैं। खनिज लोहे और लोहक का उत्पादन बढ़ाने के यत्न किए जारहे हैं। उच्च कोटि के कोयले और तापसह ईंटों (refractories) की कमी उद्योग के लिए विशेष समस्या है। कोयला धोने के कारखाने खोलकर कोयले की कमी दूर की जारही है।

इस्पात कारखानो के लिए लाखों टन माल और उपकरणों की ढुलाई के लिये पर्याप्त रेल सुविधायें प्रदान करना भी एक कठिन समस्या है। द्वितीय योजना मे सारी

नई रेलें केवल इस्पात कारखानों के क्षेत्र में बनाई गई। तृतीय योजना में भी यह नीति जारी रहेगी।

इस्पात उद्योग को सरकारी क्षेत्र में लेकर पूंजी सम्बन्धी कठिनाई दूर की गई है। गैर सरकारी क्षेत्र के दोनों कारखानों को भारत सरकार ने आर्थिक सहायता दी है और विश्व बैंक से ऋण भी दिलाए हैं।

श्रम संघर्ष भी उद्योग की एक कठिन समस्या है। श्रमजीवी ऊँची मजदूरी के लिए संघर्ष करते रहते हैं, किन्तु उनकी कार्यक्षमता बहुधा गिरती जा रही है। श्रम-कल्याण, निर्वाह निधि (P F) तथा आवास-व्यवस्था द्वारा श्रम-संघर्ष कम किया जा सकता है।

इंजीनियरों और अन्य प्रशिक्षित व्यक्तियों की भारी कमी है जिसे जमशेदपुर, बर्नपुर और भद्रावती के तीन शिक्षण केन्द्रों द्वारा दूर किया जारहा है।

पुराने कारखानों में अभिनवीकरण की समस्या को शनैः शनैः सुलझाया जारहा है, क्योंकि इसके लिए एक साथ पूंजी जुटाना सम्भव नहीं है।

भविष्य

अभी भारत में अपनी आवश्यकता के लिये पर्याप्त लोहा और इस्पात नहीं बनता और बहुत सा माल आयात करना पड़ता है। सरकारी क्षेत्र के तीनों कारखानों के पूरी क्षमता तक उत्पादन करने और चौथे कारखाने के चालू होने पर स्थिति सुधर जायगी। आधुनिक युग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं पर ध्यान दें तो उसका उत्तरोत्तर विकास होता जाएगा और कुछ ही दिन में यह उद्योग अपने प्राचीन वैभव को प्राप्त करने में सफल हो सकेगा।

"सूती वस्त्र-उद्योग भारत का प्राचीन गौरव, भूत व वर्तमान का दारुण दु:ख, किन्तु सदैव अटूट आशा का साधन रहा है।"

—डॉ० एच० बकनन

७—सूती वस्त्र-उद्योग

रूप-रेखा

१. प्रस्तावना
२. प्राचीन भारत मे सूती वस्त्र उद्योग
३. आधुनिक उद्योग की स्थापना और विकास
४. संरक्षण
५. योजना काल मे प्रगति
६. वर्तमान स्थिति
७ समस्यायें।

प्रस्तावना

विश्व के सूती वस्त्र निर्माताओ और निर्यातको मे भारत का महत्वपूर्ण स्थान है। उत्पादको मे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के उपरान्त और निर्यातको मे जापान के उपरान्त उसका स्थान है। यह उद्योग भारत का सबसे बडा और सुसंगठित उद्योग है।

इस उद्योग के दो प्रमुख अंग हैं—एक आधुनिक सूती मिल उद्योग और दूसरा परम्परा से चला आने वाला हथकरघा उद्योग। सूती मिल उद्योग का संगठित उद्योगो मे और हथकरघा का कुटीर एव छोटे उद्योगो मे देश मे सर्वोपरि स्थान है। ये दोनो ही उद्योग देश के गौरव हैं।

प्राचीन भारत मे सूती वस्त्र-उद्योग

यह व्यवसाय भारत मे अनन्त काल से चला आरहा है। यह अधिकृत रूप से ज्ञात हो चुका है कि भारत इस उद्योग का जन्मदाता है। विलासप्रिय मुगलो से इस उद्योग को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। फलतः इस उद्योग की अपूर्व उन्नति हुई और विश्व

मे इसका गुणगान होने लगा। ढाका, कासिम बाजार और सुनारगांव की मलमल तथा कारोमण्डल तट की छीट की विश्व भर मे भारी मांग और प्रशसा होने लगी। मेगस्थनीज, एरियन, स्ट्राबो, बर्नियर, टैवनियर, सरटामसरो, पीटरमडी इत्यादि विदेशी यात्रियो ने अपने यात्रा विवरणो में भारत के इस उद्योग की भूरि-भूरि प्रशसा की है। टैवनियर ने लिखा है कि एक पौंड रुई से भारत मे २५० मील लम्बा सूत काता जा सकता था। वस्तुत भारतीय मलमल और छीट की खोज मे ही ईस्ट इडिया कम्पनी का भारत आगमन हुआ था।

आधुनिक उद्योग की स्थापना और विकास

सन् १८१८ म सर्व प्रथम कलकत्ता मे एक सूती वस्त्र मिल स्थापित हुई जिसे इस क्षेत्र मे एक प्रयोग मात्र समझना चाहिए। इस उद्योग का वास्तविक श्रीगणेश बम्बई सिद्ध हुआ जहाँ सन् १८५१ म कावसजी नानाभाई डावर नामक पारसी के प्रयत्न से एक कारखाना स्थापित हुआ जिसने १८५४ मे उत्पादन प्रारम्भ किया। सन् १८५६ मे रनछोडलाल छोटेलाल के संरक्षण मे एक मिल अहमदाबाद मे और खुली। इन प्रयत्नो की सफलता के उपरान्त कुछ ही काल मे इस क्षेत्र मे अनेक मिलें खुल गई। इसी समय अमरिका मे गृह-युद्ध छिड गया और भारतीय रुई के व्यापारियो को अपार धन कमाने का अवसर मिला। इस धन से अवसर आने पर नई मिलें खोलने का लालच बढता गया और १८७६ तक ४७ मिलें खुल गई जिनमे दस लाख से ऊपर तकुए और ९ हजार से ऊपर कर्घे थे। सन् १८७७ से यह उद्योग देश के अन्तर्गत भागो (नागपुर, कानपुर, शोलापुर, अहमदाबाद) मे भी फैलने लगा। जापान, चीन, अरब और स्ट्रेट सैटिलमेंट को यहाँ से सूत जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दस वर्ष इस उद्योग के लिए कठिनाई के दिवस थे। तो भी १९०० तक देश मे १९३ कारखाने चालू हो गए जिनम ५० लाख तकुए और ४० हजार करघे थे। इन कारखानो म १,६१,००० कर्मचारी काम करते थे और १४,५३,००० रुई की गाँठें काम आती थीं।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे जापान मे यह उद्योग उन्नत हो उठा और वहाँ भारतीय सूत जाना बन्द हो गया। जापान अब चीन म भी हमारी प्रतियोगिता करने लगा। अतएव हमारी मिले अब सूत कातने के साथ-साथ कपडा बुनने लगी। १९०५-०७ के स्वदेशी आन्दोलन से भी इसको प्रेरणा मिली। १९१० तक देश मे २६३ मिलें खुल गई जिनम ६२ लाख तकुए, ८३ हजार कर्घे और २,३४,००० कर्मचारी थे तथा १९,३५,००० रुई की गाँठों की खपत होती थी। प्रथम युद्ध के वर्षों मे मशीनो के आयात की कठिनाई के कारण नई मिलें तो न खुल सकी, किन्तु पुरानी मिलो को उत्पादन बढाने का अच्छा अवसर मिला क्योकि विदेशी कपडा आना बन्द हो गया था। युद्ध के उपरान्त भी चार-पाँच वर्ष अच्छे सिद्ध हुए। सन् १८९९-१९०० म भारतीय मिलें हमारी वस्त्र की आवश्यकता का केवल ९% की पूर्ति करती थी, २५% की पूर्ति करघे के गृह-उद्योग से और शेष ६५% की पूर्ति आयात से होती थी। १९२१-२२ मे ये दरें क्रमशः ४२, २६ और ३२ थीं। इसके उपरान्त इस उद्योग को घोर मन्दी के सकट

का सामना करना पडा। १६२५ मे स्थिति इतनी बिगड गई कि मिलो को मजदूरी मे भारी कटौती करनी पडी जिससे मजदूरो ने हड़ताल करदी। इस ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किए जाने पर उद्योग से उत्पादन-कर उठा लिया गया। तो भी उद्योग की स्थिति मे विशेष सुधार न हुआ। अब जापान से भारी प्रतियोगिता आरम्भ होगई। विवश होकर उद्योग को संरक्षण के लिए प्रार्थना करनी पड़ी।

सरक्षण

उद्योग की माँग पर विचार करने के लिये एक विशेष शुल्क मडल (Tariff Board) विठाया गया जिसकी अनुमति के अनुसार १६२७ मे उद्योग को संरक्षण दिया गया। यह सरक्षण १६४७ तक चलता रहा। संरक्षण के कारण उद्योग को उन्नति करने का अच्छा अवसर मिला।

द्वितीय युद्ध के पूर्व तक मिलो की संख्या ३८६ हो गई जबकि १६२६ मे केवल ३३४ थी। इसी अवधि मे तकुओ की संख्या ८७ लाख से १०१ लाख, करघो की १५६ हजार से २०० हजार और कर्मचारियो की संख्या ३,७४,००० से ४,३०,००० हो गई। इस भाँति मिलो की सख्या मे १६ ५% तकुओं मे १५ ४%, करघो मे २५ ४% तथा कर्मचारियो मे १५ २% की वृद्धि हुई। रुई की खपत इसी अवधि मे २१ लाख गाँठो से बढकर ३७ लाख गाँठें हो गई अर्थात् ७४% बढ़ोत्तरी हुई। कपडे का उत्पादन ६३% अधिक हो गया। मिलो ने उच्चकोटि का सूत कातना और कपड़ा बुनना भी प्रारम्भ कर दिया।

द्वितीय युद्धकाल में यद्यपि कच्चे माल और मशीनो के सम्बन्ध मे उद्योग को कुछ कठिनाइयो का सामना करना पडा, किन्तु तो भी स्वाभाविक और सरकारी संरक्षण के कारण उद्योग उन्नति ही करता रहा। १६४५ तक मिलो की संख्या ४१७ होगई जबकि १६३६ मे ३८६ थी। इसी अवधि में तकुओ की संख्या १०१ लाख से १०२ लाख, कर्मचारियो की संख्या ४,४२,००० से ५,१०,००० और रुई की खपत ३८ लाख से ४६ लाख गाँठे हो गई। करघो की संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई, यद्यपि चालू करघो की संख्या में ४% वृद्धि होगई थी।

योजना काल मे प्रगति

कपडे की कमी के कारण प्रथम योजना काल में उद्योग का यथाशक्ति विस्तार करने और तत्कालीन उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग करने का निश्चय किया गया। विस्तार का ध्येय मुख्यत. कताई विभाग से सम्बन्धित था। कुछ नई इकाइयाँ स्थापित करने और कुछ अलाभकर पुरानी इकाइयो के प्रसार द्वारा विस्तार का कार्य किया जाना था। प्रथम योजना के प्रारम्भ (अप्रैल १६५१) में मिलो की संख्या ३७८, तकुओ की १०६ लाख, करघो की १,६४,००० थी जो जनवरी १६५६ तक बढ़कर क्रमश. ४१२,१२१ लाख और २,०३,००० होगई। कपड़े के उत्पादन का लक्ष्य ४७० करोड़ गज रखा गया था जो १६५३ तक ही प्राप्त किया जा सका

और १९५५ तक उत्पादन ५०६·४ करोड गज पहुँच गया। सूत के उत्पादन का लक्ष्य १६४ करोड पौंड निर्धारित किया गया था जिसे पूर्णत प्राप्त किया जा सका।

हथकरघा उद्योग के विस्तार की नीति भी अपनाई गई थी। इसका उत्पादन १७० करोड गज के स्थान पर केवल १५० करोड गज हो सका अर्थात् लक्ष्य से कुछ पीछे रह गया। इसी भाँति निर्यात का लक्ष्य १०० करोड गज के स्थान पर केवल ६०४ करोड गज हो सका। देश में कपडे की खपत प्रति व्यक्ति पीछे १९५० मे ९७ गज से बढकर १९५५ तक १५ ८ गज हो गई। १९५० मे एक कार्यकारी दल (Working Party) ने और १९५४ मे कानूनगो समिति ने मिल उद्योग की स्थिति पर और कर्वे समिति ने हथकरघा उद्योग की स्थिति पर विचार किया तथा सुधार विस्तार के सुझाव दिए।

द्वितीय योजना काल मे मिल के कपडे का उत्पादन ५०० करोड गज और हथकरघे का २६१ करोड गज हो गया अर्थात् ३४% और १८६% की वृद्धि हुई। तृतीय योजना के लिए मिल के कपडे के उत्पादन का लक्ष्य ५८० करोड गज और हथकरघा के कपडे का ३५० करोड गज रखा गया है। गत वर्षो में सूती कपडे का निर्यात् विदेशी प्रतियोगिता के कारण गिर गया है। अत निर्यात का तृतीय योजना का लक्ष्य ८५ करोड गज है।

वर्तमान स्थिति

१९५७ की औद्योगिक गणना के अनुसार देश मे ४६७ सूती वस्त्र कार्यालय थे जिनमें से २३६ बम्बई मे, १२१ मद्रास म, ४१ प० बंगाल में, २८ उत्तर प्रदेश में, २५ मैसूर में और शेष अन्य राज्यों मे थे। उद्योग में ३२८ करोड रु० पूंजी लगी है जिसम से १३२ करोड रु० स्थायी और १९६ करोड रु० कार्यशील पूंजी है। इसमे ७ ८७ लाख व्यक्ति काम करते हैं। वर्तमान उत्पादन ५०० करोड गज कपडा तथा १९५ करोड पौंड सूत है।

देश मे लगभग २० लाख हथकरघे हैं जिनमे से ४,५०,००० आसाम के घरेलू करघे हैं और शेष १५,५०,००० व्यापारिक करघे हैं जिनका ८० प्रतिशत अर्थात् १२,५०,००० चालू स्थिति मे हैं जो २६१ करोड गज कपडे का उत्पादन करते हैं।

देश में कपडे का प्रति व्यक्ति उपभोग इस समय १७·५ गज है जो तृतीय योजना के अन्त तक २० ३ गज हो जाएगा।

यह उद्योग देश को सब उद्योगो से अधिक विदेशी विनिमय देता है, इससे सरकार को उत्पादन कर भी सबसे अधिक प्राप्त होता है तथा यह सब उद्योगो से अधिक काम देने का भी साधन है। लगभग ८ लाख व्यक्तियो को मिल उद्योग और ५० लाख को हथकरघा उद्योग काम देता है।

समस्यायें

गत वर्षो मे इस उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडा है। इसकी मुख्य समस्याओ पर विचार कर लेना आवश्यक है।

(१) कच्चा माल—देश विभाजन के कारण रुई की देश में भारी कमी हो गई। बडे रेशे की रुई की स्थिति और भी अधिक बिगड गई। गत दो योजनाओ में रुई का उत्पादन २६ लाख गाँठो से बढकर ५४ लाख गाँठे हो गया है अर्थात् ८६ प्रतिशत वृद्धि हुई है तो भी अभी बडे रेशे की रुई बडी मात्रा में प्रयात करनी पडती है।

(२) अलाभकर इकाइयाँ—देश मे लगभग १५० अलाभकर इकाइयाँ हैं जिनमें से कई बन्द पडी हैं और कई हानि उठाकर काम कर रही हैं। सूती वस्त्र सलाहकार समिति जिसकी १६५० मे स्थापना हुई थी, इस ओर ध्यान दे रही है।

(३) माल सचय—अनेक अवसरो पर उद्योग को सरकारी प्रतिबन्धो के कारण माल की बिक्री में कठिनाइयो का सामना करना पडा है और माल सचित होता रहा है। इससे स्थान और पूँजी की कमी होकर उत्पादन कम हो जाता है। कभी-कभी परिवहन कठिनाइयो के कारण भी माल सचय हो जाता है।

(४) प्रतियोगिता—इस उद्योग की प्रतियोगिता में कृत्रिम रेशम उद्योग खडा हो गया है जिसकी उन्नति तीव्र गति से होरही है। यह नया उद्योग सूती वस्त्रो के अनेक स्थानापन्न वस्त्र उत्पन्न करके इस उद्योग को हानि पहुँचाता है। हमारे इस उद्योग को विदेशी बाजारो में जापान, चीन, हागकाग, ब्रिटेन आदि देशो से टक्कर लेनी पडती है। इसी प्रतियोगिता के कारण गत दोनो योजनाओ के निर्यात लक्ष्य हमे प्राप्त न हो सके।

(५) अभिनवीकरण—देश के सूती मिलो में बहुधा मशीनें ३५ से ५० वर्ष तक पुरानी है जिनकी मरम्मत और घिसावट का व्यय बहुत ऊँचा होता है तथा उत्पादन निम्न कोटि का और ऊँचे मूल्य पर होता है। राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम (N I D C.) आर्थिक सहायता देकर इनके आधुनिकीकरण का यत्न कर रहा है। निगम ने इस काम के लिये १६५६ में एक कार्यकारी समुदाय (Working Group) भी नियुक्त किया था।

(६) पूँजी का अभाव—देश के लगभग सभी उद्योगो को पूँजी सम्बन्धी कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है। देश में गत वर्षों मे कई वित्तीय सस्थाये खुल गई हैं जो इस कमी की पूर्ति करने का यत्न कर रही हैं।

(७) मिलों और हथकरघा के बीच समन्वय—बाहरी प्रतियोगिता के साथ-साथ इस उद्योग को आन्तरिक प्रतियोगिता का भी सामना करना पडता है। सूती वस्त्र (नियंत्रण) आदेश द्वारा भारत सरकार ने मिल उद्योग को अनेक बन्धनो मे बांध दिया है जिससे उसे भारी कठिनाइयो का ही सामना नही करना पडता, हानि भी उठानी पडती है। सूती वस्त्र सलाहकार समिति इन कठिनाइयो को दूर करने में बहुत कुछ सफल हुई है और उसके प्रयत्न जारी हैं।

"भारत ईख का जन्म स्थान है। हमने हजारो वर्षों से इस का उन रूपों मे प्रयोग किया है जो सफेद चीनी की अपेक्षा मनुष्य के लिए अधिक पुष्टिकर हैं।"

—प्रो० महेशचन्द्र (ग्रर्थ-सन्देश)

८—चीनी उद्योग

रूप-रेखा

१. चीनी का महत्व
२. चीनी उद्योग का महत्व
३. चीनी उद्योग का इतिहास
   (क) प्राचीन भारत मे चीनी उद्योग
   (ख) आधुनिक उद्योग की स्थापना
   (ग) संरक्षण
   (घ) योजना काल।
४. वर्तमान स्थिति
५. समस्यायें
६. भविष्य

चीनी का महत्व

चीनी मनुष्य के भोजन का एक आवश्यक पदार्थ है। संतुलित भोजन मे इसका विशेष महत्व है। यह भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए ही आवश्यक नहीं है, वरन् शक्ति देने वाला सबसे सस्ता भोजन भी है। चीनी सभी प्रकार की मिठाइयों का आधार है। यह अन्य कई उद्योगों के लिए कच्चा माल भी है जैसे शक्ति अलकोहल उद्योग तथा फल संरक्षण इत्यादि।

चीनी उद्योग का महत्व

क्यूबा के उपरान्त भारत चीनी (गुड और खाडसारी समेत) का विश्व का दूसरा बड़ा उत्पादक है। भारत विश्व का ३०% गन्ना उत्पन्न करता है। यह

भारत का दूसरा संगठित उद्योग है। गन्ने की खेती देश भर मे फैले हुए २० लाख किसानो को जीवन निर्वाह का प्रत्यक्ष साधन उपस्थित करती है। चीनी निर्माण उद्योग लगभग १.५ लाख कर्मचारियों और ४,००० विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त स्नातकों और स्नातकोत्तर लोगों के निर्वाह का साधन है। १९३४-३५ और १९५४-५५ के बीस वर्ष मे इस उद्योग ने १२२ करोड रुपए भारत सरकार को उत्पादन-कर के रूप में दिए। बैलगाडियो, मोटर ठेलो, रेलो और धूम्रांकश कम्पनियों को वर्ष मे इससे लाखों टन गन्ना ढोने का काम मिलता है। गन्ने की फसल अन्य सभी खाद्यान्नो की अपेक्षा प्रति एकड अधिक कैलोरी उत्पन्न करती है। यह उद्योग उत्तर प्रदेश और बिहार राज्यो की अर्थ व्यवस्था का तो जीवन-प्राण है।

इस उद्योग के तीन मुख्य अंग माने जा सकते हैं: (क) गुड, (ख) खाडसारी, (ग) चीनी-निर्माण।

उद्योग का इतिहास

(क) प्राचीन भारत मे चीनी उद्योग—*भारत ईख का जन्म-स्थान है।* अनन्त काल से यहाँ गन्ने की खेती होती आई है। गुड, खाडसारी और बूरा अन्य किसी देश मे होते थे, ऐसे कोई प्रमाण नही मिलते। वैदिक साहित्य मे इसका विवरण मिलता है। ईसा से पूर्व आठवी शताब्दी मे चीनी लोगो ने भारत से गन्ने और उसके उत्पादनों का ज्ञान प्राप्त किया। ६०० ईस्वी मे त्साई हेग (Tsai Heng) नामक चीनी सम्राट् ने चीनी बनाने की क्रिया सीखने के लिए अपने प्रतिनिधि बिहार भेजे थे।

(ख) आधुनिक उद्योग की स्थापना—आधुनिक चीनी उद्योग के स्थापित होने की ठीक-ठीक तिथि अधिकृत रूप मे ज्ञात नही है। इतना अवश्य कहा जाता है कि यह उद्योग सर्व प्रथम बिहार और उत्तर प्रदेश मे १९ वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों अथवा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे स्थापित हुआ। कुछ विद्वानो का मत है कि प्रथम आधुनिक कारखाना १९०३ मे बिहार मे खुला। इस समय तक यूरोप और जावा से भारत मे चीनी का आयात होने लगा था। इससे चीनी के मूल्यो मे भारी गिरावट आ गई और देश के खाँडसारी उद्योग को भारी आघात पहुँचा। अकेले उत्तर प्रदेश मे १८० खाँडसारी के कारखाने बन्द हो गए। ऐसी स्थिति मे विदेशी चीनी का आयात बढता गया।

प्रथम विश्व-युद्ध के वर्षों मे आयात की कठिनाई के कारण उद्योग को कुछ अवसर मिला, किन्तु युद्ध के उपरान्त फिर चीनी की कीमतें गिरने लगी। अतएव इस उद्योग की स्थिति के सुधार और जांच के उद्देश्य से भारत सरकार ने १९२० मे चीनी समिति नियुक्त की। १९२९-३० मे देश मे चीनी बनाने के २७ कारखाने थे जो ९,९०,००० टन गन्ना प्रति वर्ष पेलकर ५०,००० टन चीनी उत्पन्न करते थे। इनकी स्थिति अच्छी नहीं थी। १९२९ में कृषि अनुसंधान परिषद के सुझावो के

अनुसार भारत सरकार ने प्रशुल्क बोर्ड बिठाया। बोर्ड के सुझावों के अनुसार १६३२ में उद्योग को १५ वर्ष के लिए संरक्षण प्रदान किया गया। वस्तुतः भारत के आधुनिक चीनी उद्योग का इतिहास संरक्षण के उपरान्त ही प्रारम्भ हुआ।

(ग) संरक्षण—संरक्षण का इस उद्योग की उन्नति पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। १९३२-३३ में जब इसे संरक्षण दिया गया, देश में ५७ कारखाने जो ३३, ५०,००० टन गन्ना पेलकर २,६०,००० टन चीनी बनाते थे। १६३५-३६ तक के तीन वर्ष में कारखानों की संख्या १३७ और चीनी का उत्पादन ६,३२,००० टन हो गया अर्थात् क्रमशः १४०% और २२०% की वृद्धि हुई। गन्ने की खपत भी इसी अवधि में दूनी से अधिक हो गई। १६३६-४० तक कारखानों की संख्या में तो विशेष वृद्धि न हुई, किन्तु उत्पादन एक अपूर्व सीमा को पहुँच गया। उस वर्ष चीनी का उत्पादन १२,०७,८०० टन हुआ जो देश की माँग से भी अधिक था। फलस्वरूप उत्तर प्रदेश और बिहार राज्यों की सरकारों को चीनी के उत्पादन में कमी लाने का कार्य-क्रम लागू करना पड़ा। इस नीति का वाछनीय प्रभाव पड़ा और १६४१-४२ तक उत्पादन एक निम्नतम सीमा को (७,५१,४०० टन) पहुँच गया। तदुपरान्त चीनी की माँग के साथ-साथ उत्पादन भी बढ़ने लगा और १६४३-४४ तक अपनी प्राचीन उच्चतम सीमा को पहुँच गया और कारखानों की भी संख्या बढ़कर १४५ हो गई। तदुपरान्त प्रथम योजना के प्रारम्भ होने तक इस उद्योग की प्रगति रुकी सी रही।

(घ) पंचवर्षीय योजना काल—प्रथम योजना के प्रारम्भ में देश में १५८ कारखाने थे जिनकी उत्पादन-क्षमता १५ लाख टन थी। इनमें से केवल १३६ कारखाने चालू स्थिति में थे और ११ लाख टन चीनी उत्पन्न करते थे। प्रथम योजना के अन्त तक कारखानों की संख्या १६० हो गई जिनकी उत्पादन-क्षमता १७·४ लाख टन थी। इनमें से १४३ चालू स्थिति में थे और उनका वार्षिक उत्पादन १५·६० लाख टन था। १६५४ में ४३ नए कारखाने स्थापित करने के लाइसेन्स दे दिए गए और ४२ पुराने कारखानों के विस्तार की भी अनुमति दे दी गई। इन कारखानों के विस्तार के साथ चीनी का उत्पादन १६५५-५६ में १८ ६० लाख टन पहुँच गया अर्थात् ८८% वृद्धि हुई। चीनी का उपभोग १६४६-५० में प्रति व्यक्ति पीछे केवल ७ पौंड था जो १६५५-५६ में १२ पौंड अर्थात् ७०% अधिक हो गया।

द्वितीय योजना में उत्पादन क्षमता का लक्ष्य २५ लाख टन और उत्पादन का २२·५ लाख टन रखा गया था जिसे पूर्णतः प्राप्त कर लिया गया है। ६६ इकाइयों के विस्तार और ५४ नई इकाइयों के खोलने का भी निश्चय किया गया। तृतीय योजना के लिए उद्योग की उत्पादन-क्षमता और वास्तविक उत्पादन दोनों का लक्ष्य ३० लाख टन है।

वर्तमान स्थिति

१६५७ की औद्योगिक गणना के अनुसार देश में १८७ कारखाने हैं जिनमें से ६८ उत्तर प्रदेश में, ३० बिहार में, २१ बम्बई में, ११ आन्ध्र में और शेष मैसूर,

मध्य प्रदेश, मद्रास, पजाब, राजस्थान इत्यादि राज्यों में हैं। इसमें १२६ करोड रुपए की पूंजी लगी हुई है जिसमे से ४६ करोड रुपए अचल और ८० करोड रुपए चल पूंजी है। उद्योग में काम करने वाले व्यक्तियो की कुल सख्या १ ४० लाख है। जैसा कि द्वितीय योजना का लक्ष्य था वार्षिक उत्पादन २२ ५ लाख टन पहुँच चुका है। तृतीय योजना के अ त तक यह ३० लाख टन होने की सभावना है। वर्तमान कारखानो की प्रति दिन १ ७२ लाख टन गन्ना पेरने की क्षमता है। चीनी के कारखानो से प्रति वर्ष लगभग ८ लाख टन शीरा निकलता है जिसका अन्य उद्योगो में उपयोग किया जाता है।

समस्यायें

(क) **प्रति एकड कम उपज**—भारतवर्ष मे गन्ने का प्रति एकड उत्पादन अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। भारत मे एक एकड में केवल १४ टन गन्ने की उपज होती है जबकि जावा में ५६ टन, हवाई में ६२ टन, मिस्र में ३० टन, द० अफ्रीका में २१ टन, पीरू में ४१ टन और आस्ट्रेलिया में २१ टन होता है। उत्तम बीज, खाद और अधिक सिचाई एव अनुसधान द्वारा प्रति एकड उपज में बहुत कुछ बढ़ोतरी की सभावना है।

(ख) **निम्न कोटि का गन्ना**—भारतीय गन्ने में चीनी की मात्रा भी अन्य देशो की अपेक्षा कम बैठती है। आस्ट्रेलिया में १४%, क्यूबा में १२%, जावा में ११½% हवाई में १०½% तथा भारत में १०% चीनी की मात्रा निकलती है। अन्वेषण द्वारा इसे भी बढाया जा सकता है।

(ग) **उपोत्पादन**—चीनी उद्योग से शीरा और छोई पदार्थ बडी मात्रा में निकलते हैं। इनका समुचित उपयोग नही होता। शीरा से शक्ति अलकोहल और डी० डी० टी० उद्योग तथा छोई से कागज व पट्ठा बनाने के उद्योग चलाए जा सकते हैं। इनके समुचित उपयोग से चीनी का मूल्य सस्ता हो सकता है।

(घ) **समन्वय का अभाव**—इस उद्योग के मुख्य तीन अग हैं। चीनी, गुड और खाडसारी। इन तीनो के समुचित विकास के लिए तीनो का समन्वय आवश्यक है। गुड का मूल्य बढ़ने पर चीनी उद्योग को पर्याप्त गन्ना मिलना दुर्लभ हो जाता है। अतएव तीनो उद्योगों के बीच सतुलन और समन्वय की भारी आवश्यकता है।

(ङ) **उत्तरी भारत मे केन्द्रीयकरण**—यह उद्योग अब तक उत्तर प्रदेश और बिहार मे ही केन्द्रित रहा है, किन्तु योजना काल में इसे दक्षिण की ओर भी ले जाने का यत्न किया गया है जहाँ इसको अच्छे प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं और इसका कार्य-कौशल भी अधिक है।

(च) **ऊँचे कर**—इस उद्योग को कई प्रकार के कर देने पडते हैं जिनका भार बहुत बढ़ जाता है। उत्पादन कर, गन्ना-उपकर (Cane Cess), बिक्रीकर,

भायकर इत्यादि कर इस उद्योग को देने पड़ते हैं। गन्ने का मूल्य और चीनी का बिक्री मूल्य भी सरकारी निश्चित कर देती है। इस प्रकार उद्योग का लाभ सीमित हो जाता है।

(छ) पुरानी मशीनों के बदलाव, शीरे के लिए भण्डार स्थान का अभाव तथा ईंधन की कमी की समस्यायें भी कठिनाई उपस्थित करती हैं।

भविष्य

चीनी उद्योग भारत का अति प्राचीन उद्योग है। १६३२ से १६५० तक १८ वर्ष संरक्षण में रहकर इस उद्योग ने अच्छी उन्नति की और तदुपरान्त भी यह प्रगति करता चला गया है। यद्यपि इस उद्योग ने संरक्षण से लाभ उठाकर अपना मूल्य स्तर उचित सीमा पर ले जाने का यत्न नहीं किया, तो भी जब से संरक्षण उठाया गया है इसने अपनी भूल को समझा है और आवश्यक सुधार प्रवृत्ति जाग उठी है। अब न केवल हमारे देश की बढ़ती हुई मांग-पूर्ति इस उद्योग से हो रही है, वरन् कुछ चीनी का हम निर्यात भी करने लगे हैं। इस भाँति यह उद्योग अब आशाजनक उन्नति कर रहा है और यह उन्नति भविष्य में जारी रहने की सम्भावना है।

"भारतीय हस्तशिल्प का इतिहास अतीत के उन धुंधले पृष्ठों से प्रारम्भ होता है जब कि प्रथम बार मनुष्य का इतिहास लिखा गया।"
—कमलादेवी चट्टोपाध्याय

६—कुटीर एवं लघु उद्योग

१. परिभाषा।
२. प्राचीन वैभव।
३ अवनति के कारण।
४. जीवित रहने के कारण।
५. भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे स्थान एवं महत्त्व।
६. समस्यायें।
७ पंचवर्षीय योजनाएँ एवं प्रगति।
८. सरकारी नीति।
९. भविष्य।

परिभाषा

ग्रामोद्योग बहुधा कृषि से सम्बन्धित उद्योग हैं। इनका मुख्य उद्देश्य स्थानीय बाजार के लिए स्थानीय कच्चे माल का परिष्करण होता है। इनकी क्रिया-विधि सरल होती है। तेल पेरना, धान कूटना, गुड व खाड बनाना, चमडा पकाना, रस्सी बटना, मूढे और टोकरियाँ बनाना तथा जुलाहे, बढई, व लोहार का काम इनमे से विशेष उल्लेखनीय हैं। बर्तन बनाना तथा कपडे की छपाई-रंगाई इत्यादि शिल्पकलाएँ और अन्य ग्रामीण कुटीर उद्योग भी इनके अन्तर्गत आ जाते हैं।

कुटीर उद्योग वे हैं जो शिल्पी द्वारा अपनी कुटिया अर्थात् निवास-स्थान पर चलाए जाते हैं। इनमे शिल्पी का निजी अथवा पारिवारिक श्रम काम मे लिया जाता है; बाहरी श्रम की सहायता नहीं ली जाती। ये ग्रामीण क्षेत्र मे भी हो सकते हैं और नागरिक क्षेत्र मे भी। नागरिक क्षेत्र मे स्थित कुटीर उद्योगो मे बिजली अथवा भाप की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। इस श्रेणी मे कुशल कारीगरों के हस्तशिल्प भी सम्मिलित हैं।

लघु उद्योगों से तात्पर्य उन कुटीर और छोटे उद्योगों से है जिनका कारखाने कानून के अन्तर्गत पंजीयन आवश्यक नहीं है। भारत सरकार की वर्तमान परिभाषा के अनुसार इनमें उन सब उद्योगों का समावेश होता है। जिनमें पूँजी की मात्रा ५ लाख रुपए से अधिक न हो। इनमें कर्मचारियों की संख्या अथवा शक्ति के उपयोग इत्यादि बातों का कोई विचार नहीं किया जाता। इनमें से कुछ परम्परागत शिल्प-कलायें हैं (जैसे कपड़ा बुनना, ताले बनाना, बर्तन बनाना) और कुछ नवीन उद्योग हैं जो बड़े उद्योगों से सम्बन्धित हैं (जैसे साइकिल के कल-पुर्जे बनाना, शक्ति चालित करघा उद्योग)। ऐसे उद्योग ग्रामीण क्षेत्र में भी हो सकते हैं जैसे चाकू, कैंची, लकड़ी का समान, कृषि उपकरण इत्यादि बनाना।

सामान्यत: इन सब उद्योगों को कुटीर एवं लघु उद्योग कह कर पुकारा जाता है। ये देश के लिए आर्थिक ही नहीं सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व के भी हैं।

प्राचीन वैभव

अति प्राचीन काल से भारत अपने कुटीर एवं चतुर शिल्पियों के लिए जगत प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन भारत में खेती के पूरक और सहायक उद्योगों की कमी न थी। प्रत्येक गाँव में कारीगरों का एक समुदाय रहता था जिसमें बढ़ई, लुहार, कुम्हार, जुलाहे, तेली, सुनार, मोची, दर्जी, धुनिया इत्यादि ग्राम सेवकों के रूप में काम करते थे। भारतीय नगरों में रहने वाले अनेक शिल्पकार भी अपने कला-कौशल के लिये विश्व-विख्यात थे। ढाका की मलमल, मुर्शिदाबाद की छींट, बनारसी साड़ियाँ, काश्मीरी शाल तथा हाथी दाँत पर खुदाई का काम, सोने-चाँदी के आभूषण और तारों का काम, ताँबे और पीतल के बर्तन इत्यादि उत्पादन देश-विदेश में नाम पा चुके थे। इन उद्योगों की बनी वस्तुएँ बड़ी मात्रा में विदेश जाती थीं जिनके बदले में भारत को अपार सोना-चाँदी और अन्य बहुमूल्य पदार्थ मिलते थे और इसी धन संचय के कारण भारत विदेशों में सोने की चिड़िया कहलाता था। ये भारतीय उद्योग उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक उन्नतिशील अवस्था में रहे, किन्तु तदुपरान्त इनका पतन होने लगा। तब से ये दिनों-दिन गिरते ही चले गए हैं।

पतन के कारण

उन्नीसवीं शताब्दी से इन उद्योगों के पतन के मुख्य कारण निम्नांकित बताए जाते हैं: (क) देशी राजाओं और नवाबों का पतन और उनके संरक्षण का अन्त, (ख) देश में बड़े उद्योगों का स्थापना और उनकी विनाशकारी प्रतियोगिता, (ग) ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति, (घ) पश्चिमी सभ्यता का आकर्षण एवं लोगों की रुचि-स्वभाव तथा रहन सहन में परिवर्तन, (ङ) हमारे शिल्पकारों एवं कारीगरों का अपना अन्धविश्वास, रूढ़िवाद, अज्ञान एवं असंगठन; (च) रेलों और अन्य शीघ्रगामी परिवहन के आधुनिक साधनों ने भारतीय गाँवों के आर्थिक ढाँचे को बदल कर एवं उनके स्वावलम्बन का अन्त करके इन उद्योगों को भारी हानि पहुँचाई।

जीवित रहने के कारण

प्रतिकूल परिस्थितियो म भी इन उद्योगो का देश से सर्वथा लोप नहो हुआ। इनमे से अनेक उद्योग एसे हैं जो विषम परिस्थितियो का सामना करते हुये भी हमे अपने प्राचीन वैभव की याद दिलाते हैं और उनम सजीवता है। आधुनिक वृहत्काय उद्योगो की विनाशकारी प्रतियोगिता का सामना करते हुए वे आज तक जीवित रह सके हैं। इसके मुख्य कारण निम्नांकित हैं (क) हमारी जाति प्रथा ने वंश परम्परा के अनुसार वश कौशल को सुरक्षित रखा है, (ख) भारतीय श्रम की प्रगतिशीलता एव शिल्पियो का पारिवारिक मोह उन्हे अपने पैत्रिक व्यवसायो से बाहर जाने से रोकता है, (ग) ग्रामीण जनता की बेकारी और अर्द्ध-बेकारी हमारे किसान और शिल्पी को सहायक उद्योगो के रूप मे इन्हे अपनाने के लिए बाध्य करती हैं, (घ) देश मे पूँजी का अभाव बड़े उद्योगो के मार्ग मे बाधक एव लघु उद्योगो को प्रोत्साहन प्रदान करता है, (ङ) हमारे शिल्पी की निर्धनता और निरक्षरता भी उसे अपने पैत्रिक व्यवसाय से बँधे रहने के लिए विवश करती है, (च) राष्ट्रीय आन्दोलनो और देश प्रेम की भावना ने देशी वस्तुओ का प्रचार किया है, (छ) प्रयोग की परम्परा और उपभोक्ता की रुचि के कारण अनेक देशवासी मिल के स्थान पर घानी का तेल तथा चीनी के स्थान पर खाड का प्रयोग अधिक उत्तम समझते हैं (ज) इनमे से अनेक उद्योगो की बनी हुई वस्तुएँ अपने रग-रूप, गुण, टिकाऊपन एव कला के लिये मशीन की वस्तुओ की अपेक्षा उत्तम समझी जाती हैं, (झ) अनेक आन्तरिक क्षेत्रो मे मशीन की वस्तुओ का प्रवेश नहो हो सका किन्तु स्थानीय उद्योगो की बनी वस्तुएँ उपभोक्ता को सहज सुलभ हैं।

अर्थ-व्यवस्था मे स्थान

भारत की अर्थ व्यवस्था मे ग्रामीण एव लघु उद्योगो का विशेष महत्व है। भारत की ७० प्रतिशत जनसख्या का उद्यम कृषि है। कृषि लोगों को वर्ष भर एव पूरे समय काम नहो देती। (क) ग्रामीण जनता को पूरा काम देने के एक मात्र साधन ग्रामीण उद्योग हैं जो सहायक उद्यम के रूप मे उनके लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। (ख) ये उद्योग ग्रामीण क्षेत्र की बेकारी और अर्द्ध बेकारी के कम करने के लिए उत्तरदायी हैं। ये लगभग दो करोड व्यक्तियो को काम देते हैं। अकेला हथकरघा उद्योग ५० लाख लोगो को काम देता है जो कि देश के सभी बड़े उद्योगो (खनिज, चाय, जूट समेत) के बराबर है। (ग) इन उद्योगो के पतन के कारण देश के ग्रामीण एव नागरिक दोनो क्षेत्रो म हमारे अनेक शिल्पकार, (जुलाहे, मोची, दर्जी, बढई, लुहार) दुर्दिन की यातनाएँ भोग रहे हैं। इन लोगो का पुनस्सस्थापन और उद्धार पूर्णत इन परम्परागत उद्योगो के पुनर्जीवन पर निर्भर है। (घ) भारतीय कृषि से जनसख्या का भार कम करने के लिए भी इन उद्योगो का विशेष महत्व है। ' ' की बढ़ती हुई बेकारी को दूर करने के एकमात्र साधन यही उद्योग

सभी देश और सभी अर्थशास्त्री इस बात को मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं। (च) हमारे ग्रामीण क्षेत्र में शक्ति, परिवहन, प्रशिक्षित श्रम, पूंजी इत्यादि के अभाव में बडे उद्योगों के लिये अनुकूल वातावरण एवं परिस्थितियां नहीं हैं। वहां तो कुटीर-उद्योग ही पनप सकते हैं। ये उद्योग स्थानीय कच्चे माल, पूंजी, श्रम और बाजार के सहारे फलते-फूलते हैं और स्थानीय मांग-पूर्ति की पूर्ण क्षमता रखते हैं। (छ) भारतीय किसान और शिल्पी की दिनोदिन गिरती हुई क्रय-शक्ति, बढ़ती हुई बेकारी तथा पततोन्मुख जीवन-स्तर का एकमात्र इलाज कुटीर और लघु उद्योगों का विकास ही है। (ज) ग्राम सुधार की कोई भी योजना बिना कुटीर उद्योगों के विकास के अधूरी समझी जाएगी। बिना कुटीर उद्योगों के ग्राम सुधार सम्भव नहीं और बिना ग्राम सुधार के देश का उद्धार सम्भव नहीं। (झ) यदि देश में सहकारी खेती वाञ्छनीय है तो उसके द्वारा विस्थापित एवं बचे हुए श्रम को काम देने के लिये कुटीर उद्योगों का विकास एक आवश्यक कार्यक्रम समझना चाहिये। (ञ) देश की अर्थ-व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण एवं उसके सन्तुलित तथा सांगोपांग विकास के लिये और आय के उचित वितरण के विचार से भी कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्व है। वस्तुतः छोटे और बडे उद्योग भारत जैसे विशाल राष्ट्र रूपी हृदय में हृत्स्फार और हृत्कुंचन के समान हैं जो अपनी पूरी शक्ति से औद्योगिक दबाव डालकर धन-सम्पदा के रूप में राष्ट्र की आय और उत्पादन बढ़ाने के लिये अनिवार्य हैं।

समस्यायें

इन उद्योगों के पुनर्जीवन और विकास में अनेक कठिनाइयां हैं जिनमें से मुख्य ये हैं : (क) उचित मूल्य पर कच्चा माल न मिलना, (ख) पूंजी का अभाव, (ग) शिल्पकारों की अशिक्षा एवं रुढ़िवाद तथा प्रशिक्षण सुविधाओं का अभाव, (घ) शैल्पिक ज्ञान का अभाव, (ङ) प्राचीन यंत्र-उपकरणों का प्रयोग, (च) शिल्पियों में सङ्गठन का अभाव, (छ) बिक्री सम्बन्धी कठिनाइयां तथा (ज) बडे उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा इत्यादि।

प्रगति

इन उद्योगों के राष्ट्रीय महत्व का ध्यान रखकर स्वतन्त्रता के समय से इन्हें पुनर्जीवित और विकसित करने के अनेक यत्न किये गये हैं। इन्हें केन्द्रीय और राज्य की सरकारों ने विविध प्रकार की सहायता द्वारा प्रोत्साहन एवं सहायता प्रदान की है। फलतः इस क्षेत्र के पुराने उद्योगों की स्थिति में सुधार हुआ है और अनेक नए उद्योग स्थापित हुये हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में मुख्यतः दस चुने हुए ग्रामीण उद्योगों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया (१) ग्रामीण तेल उद्योग (घानी), (२) नीम के तेल से साबुन बनाना, (३) धान कूटना, (४) ताड से गुड बनाना, (५) गुड और खांड उद्योग, (६) ग्रामीण चमड़ा उद्योग, (७) ऊनी कंबल, (८) हाथ से कागज बनाना, (९) मधुमक्खी पालना, तथा (१०) कुटीर दियासलाई उद्योग। इनके अतिरिक्त हथकरघा एवं खादी हस्तशिल्प, रेशम के कीडे पालना,

नारियल की जटा एवं कई लघु उद्योगों को प्रोत्साहन और आर्थिक सहायता द्वारा बढ़ावा दिया गया। इन सब उद्योगों के निमित्त प्रथम योजना काल में लगभग ३३·६० करोड़ रुपये व्यय किये गये।

इन उद्योगों के संगठन और विकास के लिये ६ संस्थायें स्थापित की गईं : (१) अखिल भारतीय खादी एवं ग्राम्य उद्योग बोर्ड, (२) अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड, (३) अखिल भारतीय हथकरघा बोर्ड, (४) लघु उद्योग बोर्ड, (५) जटा बोर्ड, तथा (६) केन्द्रीय रेशम बोर्ड।

द्वितीय योजना में इन उद्योगों को और भी अधिक प्रोत्साहन और आर्थिक सहायता दी गई। २०० करोड़ रुपए की धनराशि इनके निमित्त रखी गई जिसमें से लगभग १८० करोड़ रुपए वास्तव में व्यय हो सके। उक्त प्रोत्साहन और सहायता के कारण १९५०-५१ और १९६०-६१ के बीच हथकरघे के कपड़े का उत्पादन ७४२० लाख गज से बढ़कर लगभग २१,२५० लाख गज, खादी का उत्पादन लगभग ७० लाख गज से बढ़कर लगभग ८०० लाख गज और कच्चे रेशम का उत्पादन २० लाख पौंड से बढ़कर लगभग ३७ लाख पौंड हो गया। भवन निर्माण सामग्री, हाथ के औजारों, सिलाई मशीनों, बिजली के पंखों और बाईसिकिलों के उत्पादन में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इन लघु उद्योगों की सहायता के लिये सभी राज्यों में लघु उद्योग-सेवा-संस्थानों की स्थापना की गई और ४२ विस्तार-केन्द्र भी खोले गये। लगभग ६० औद्योगिक बस्तियां भी स्थापित हो चुकी हैं जिनमें लगभग ७०० छोटे कारखाने हैं।

तृतीय योजना में इन उद्योगों के निमित्त २५० करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान है जिसका विवरण इस भांति है—

	करोड़ रुपये
हथकरघा उद्योग	३६
खादी और ग्रामोद्योग	८९
लघु उद्योग और औद्योगिक बस्तियां	१०७
हस्तशिल्प	८
रेशम के कीड़े पालना	७
जटा उद्योग	३
कुल जोड़	२५०

तृतीय योजना के अन्त तक हथकरघा वस्त्र उत्पादन २५३ करोड़ गज से २८० करोड़ गज, खादी का उत्पादन ८ करोड़ गज से ७० करोड़ गज तथा रेशम का ३७ लाख पौंड से ५० लाख पौंड हो जाने की सम्भावना है। औद्योगिक बस्तियों की संख्या तृतीय योजना के अन्त तक ३६० हो जायगी।

सरकारी नीति

स्वतन्त्रता के समय से ही भारत ने अपने कुटीर और लघु उद्योगों की ओर विशेष ध्यान दिया है और इनके महत्व को समझा है। ६ अप्रैल १९४८ के प्रथम औद्योगिक नीति प्रस्ताव में इन उद्योगों के स्थानीय साधनों के उपयोग और आवश्यक उपभोग्य पदार्थों में स्वावलम्बन प्राप्त करने के महत्व को पूर्णत स्वीकार किया गया था। ३० अप्रैल १९५६ के द्वितीय औद्योगिक नीति प्रस्ताव में इन्हें बड़े पैमाने पर कार्य देने, राष्ट्रीय आय के उचित वितरण तथा पूंजी और कार्यकौशल सम्बन्धी साधनों के सक्रिय संचालन के महत्वपूर्ण साधन मान लिया गया। १९५४ में भारत सरकार ने फोर्ड फाउण्डेशन की सहायता से इन उद्योगों की स्थिति का अध्ययन करने के निमित्त एक अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ दल को आमन्त्रित किया जिसके सुझावों के अनुसार इनके संगठन सुधार पर विशेष जोर दिया गया और सितम्बर १९५४ में एक नया विभाग खोला जिसके सर्वोच्च पदाधिकारी को लघु उद्योग विकास आयुक्त (Development Commissioner) नाम दिया गया। इसी भाँति प्रथम योजना के अन्तर्गत अपनाई कुटीर और ग्राम्य उद्योगों की नीति के अनुसार १९५२ में हस्तशिल्प बोर्ड, १९५३ में खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड तथा हथकरघा बोर्ड, लघु उद्योग बोर्ड, जटा बोर्ड एवं केन्द्रीय रेशम बोर्ड स्थापित किये गये। खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड एक सलाहकार संस्था थी। अप्रैल १९५७ में इस उद्योग के लिये खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग एक स्वतन्त्र संस्था और बना दी गई। इस भाँति देश भर में कुटीर एवं लघु उद्योगों के लिये एक व्यापक संगठन का जाल बिछा दिया गया है जो उनकी उन्नति और विकास की योजनायें कार्यान्वित करता है। ये संस्थायें उन उद्योगों को विकास सम्बन्धी कार्यक्रम बनाने और उन्हें कार्यान्वित करने के अतिरिक्त कर्मचारियों के प्रशिक्षण, यंत्र-उपकरणों के निर्माण और सुधार, कच्चे माल जुटाने, निर्मित माल की बिक्री, अनुसंधान व्यवस्था तथा विविध आर्थिक समस्याओं के सुलझाने के भरसक यत्न करती हैं।

खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड केवल सलाहकार संस्था रह गई जो खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग के अधीन मानी जाती है। बोर्ड का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में है। बोर्ड का सभापति चार विशेषज्ञ समितियों की सहायता से कार्य करता है। एक कार्यकारिणी समिति, दूसरी प्रशिक्षण समिति, तीसरी अन्वेषण समिति और चौथी आर्थिक समिति है। बोर्ड के मुख्य कार्यकारी अधिकारी की सहायता के लिए कई निदेशालय हैं जो आर्थिक अन्वेषण, प्रचार, अम्बर चर्खा, विकास, ग्राम्य उद्योगों तथा सहकारिता आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। बोर्ड के कार्यों के लिए देश को सात क्षेत्रों में बाँट दिया गया है और प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक-एक क्षेत्रीय निदेशक भी नियुक्त किया गया है। प्रत्येक ग्रामोद्योग के लिए एक अलग औद्योगिक सयोजक (Industrial Organiser) नियुक्त किया जाता है जो देश भर में भ्रमण करके तथा स्थिति का अध्ययन करके विविध विकास योजनाएं बनाता और बोर्ड की मंजूरी के लिये भेजता

है और अन्त में उनकी देख-रेख रखना है तथा पथ-प्रदर्शन भी करता है। संयोजकों का कार्य आदर्श प्रदर्शन-उत्पादन-प्रशिक्षण केन्द्र खोलना भी है। इस भांति ग्रामीण उद्योगों के स्थापन एवं पुनरुत्थान के लिए आवश्यक वातावरण बनाया जाता और आवश्यक सहायता एवं सुविधायें दी जाती हैं।

लघु उद्योग विकास आयुक्त के अधीन लघु उद्योगों के विकास के लिए एक विशाल संगठन बनाया गया है जिसमें लघु उद्योग बोर्ड के अतिरिक्त औद्योगिक विस्तार सेवा (Industrial Extension Service) और राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम मुख्य हैं। औद्योगिक विस्तार सेवा के अन्तर्गत चार प्रादेशिक लघु सेवा संस्थान मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, और नई दिल्ली में खोले गए हैं, प्रत्येक राज्य में एक सेवा-संस्थान है, चार शाखा संस्थान और ६६ विस्तार केन्द्र भी चालू हैं। इस सेवा संगठन द्वारा लघु उद्योगपतियों को प्राविधिक परामर्श, प्रशिक्षण, आर्थिक सहायता इत्यादि दी जाती है। सेवा संस्थान के अधीन देश भर में अनेक शिल्पिशालाएं, प्रयोगशालाएं और प्रदर्शन केन्द्र तथा चलती फिरती प्रदर्शन गाड़ियां हैं। सेवा संगठन के अन्तर्गत ही औद्योगिक बस्तियां स्थापित की जाती हैं, किराया-क्रय प्रणाली के अनुसार मशीनें खरीदने की व्यवस्था भी जाती है तथा सरकारी विभागों से लघु उद्योगों के माल के क्रय के लिए आग्रह किया जाता है।

भविष्य

ग्रामीण और लघु उद्योग देश की अर्थ-व्यवस्था के अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग हैं। देश की अर्थ-व्यवस्था के सतुलित विकास के लिए उनकी उन्नति आवश्यक है। ये काम दिलाने के महत्वपूर्ण साधन ही नहीं, राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को एक व्यापक और विकेन्द्रित आधार भी प्रदान करते हैं। प्रथम और द्वितीय योजनाओं की भांति तृतीय और भावी योजनाओं में भी इन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा और तदनुसार इन्हें प्रोत्साहन, प्रेरणा और सहायता दी जाएगी। केन्द्रीय और राज्य-सरकारों की इनके प्रति कल्याणकारी नीति जारी रहेगी। यह आशा की जाती है कि कुछ ही काल में ये उद्योग फिर से अपने खोए हुए प्राचीन वैभव को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे।

"अपने विभिन्न रूपों में भारत के ग्रामीण उद्योग देश की आर्थिक संरचना एवं राष्ट्रीय आयोजन के आवश्यक अंग एवं शाश्वत तत्व है।"
—योजना आयोग

१०—ग्रामीण उद्योगों का पुनरुत्थान

रूप-रेखा

१. प्रस्तावना।
२. खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड।
३. समस्याएं।
४. प्रशिक्षण।
५. आर्थिक सहायता।
६. संगठन।
७ गहन क्षेत्र योजना।
८. सरकार द्वारा माल का क्रय।
९. भविष्य।

प्रस्तावना

भारत की ८२ प्रतिशत जनसंख्या गाँवो मे रहती है। गाँव के लोगो का मुख्य धन्धा खेती है। लेकिन खेती पर इतना अधिक भार है कि वह उन्हे वर्ष भर काम देने मे असमर्थ है। गाँवो के अनेक लोग बेकार अथवा अर्द्ध-बेकार हैं। ऐसे लोगो के जीवन-निर्वाह का एकमात्र साधन ग्रामीण उद्योग हैं जो इस समय लगभग दो करोड़ ग्रामीणो को काम देते हैं।

हमारे ये उद्योग अति प्राचीन काल से ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग रहे हैं और उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ तक ये अत्यन्त उन्नतिशील अवस्था मे थे। तदुपरान्त कई कारणों से इनका पतन होने लगा। तब से इनका पतन जारी है और आज हमारे वे अनेक शिल्पकार जो अपनी कला के लिये विश्व विख्यात थे बेकार हैं। बढ़ई, लुहार, सुनार, तेली, मोची, दर्जी, नाई, कहार सभी निस्सहाय अवस्था मे हैं।

इनका और भूमिहीन किसान का उद्धार ग्रामीण उद्योगो के पुनरुत्थान से सम्बद्ध है। यही नहीं, सम्पूर्ण ग्राम्य समाज का उत्थान भी इन्ही उद्योगो के उत्थान पर निर्भर है।

अतएव वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में राष्ट्र पिता गाँधी ने इन उद्योगों के पुनर्निर्माण की ओर देशवासियो का ध्यान आकर्षित किया। उन्होने चर्खा, खादी, पशु-पालन तथा अन्य ग्राम उद्योगो को एक राजनैतिक महत्व का प्रश्न बना दिया। उन्होने अखिल भारतीय चर्खा संघ, अखिल भारतीय कताई संस्था, अखिल-भारतीय ग्राम्य उद्योग संघ स्थापित कर इस ओर प्रयत्न प्रारम्भ किए। क्रमश: यह विषय राष्ट्रीय काग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का एक अग बन गया।

स्वतन्त्रता के उपरान्त, भारत सरकार ने इन उद्योगो के पुनर्निर्माण का बीड़ा उठाया और प्रथम पंचवर्षीय योजना मे लघु और ग्रामीण उद्योगो पर ३३·६० करोड रुपये व्यय किये गये जिसमें से खादी और अन्य ग्रामीण उद्योगो पर १५·२० करोड व्यय हुआ। द्वितीय योजना म लघु उद्योगो के लिये २०० करोड रुपये रखे गये जिसमे से ५५·५० करोड रुपये खादी और ग्राम्य उद्योगो के निमित्त थे। विस्थापित लोगो के पुनर्वास के निमित्त १८ करोड रुपये का अनुमान था, जिसका एक अंश गृह उद्योगो मे लगाया गया। सामुदायिक विकास योजनाओं पर होने वाले व्यय मे से भी ४ करोड रुपये की धन-राशि ग्रामीण उद्योगो के निमित्त थी। यह अनुमान लगाया गया है कि लघु और ग्राम्य उद्योगो पर द्वितीय योजना के अन्त तक लगभग १८० करोड रुपये व्यय हुए जिनमे से ८०·५० करोड रुपये केवल खादी और ग्रामीण उद्योगो पर व्यय हुए। तृतीय योजना में लघु एवं ग्रामीण उद्योगो के निमित्त २५० करोड रुपये की धनराशि का अनुमान है जिसमे ८६ करोड रुपये खादी और ग्राम्य उद्योगो के लिये हैं।

खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड

यद्यपि लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के विकास का सारा उत्तरदायित्व राज्यो की सरकारो पर है, किन्तु तो भी केन्द्रीय सरकार ने उनके यत्नो को प्रोत्साहित करने के विचार से ६ बोर्ड स्थापित किये हैं। ये (१) अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड (२) (२) अखिल भारतीय हथकरघा बोर्ड, (३) खादी एवं ग्राम्य उद्योग बोर्ड, (४) लघु उद्योग बोर्ड, (५) जटा बोर्ड, (६) केन्द्रीय रेशम बोर्ड इत्यादि हैं। इनमे से खादी एवं ग्राम्य उद्योग बोर्ड का सम्बन्ध ग्रामीण उद्योगो की उन्नति और विकास से है। फरवरी १९५३ मे बोर्ड की स्थापना हुई थी। बोर्ड ने प्रथम पंचवर्षीय योजना काल मे खादी, धानी चावल कूटना, गुड एवं खाँडसारी, चमड़ा एव दियासलाई इत्यादि १० ग्रामीण उद्योगो के विकास की ओर ध्यान दिया। द्वितीय योजना मे छह उद्योग और ले लिये गये। ये उद्योग साबुन बनाना, ताड़ से गुड़ बनाना, कागज बनाना, शहद की मक्खियाँ पालना, बर्तन बनाना

तथा रेशा उद्योग थे। बोर्ड का मुख्य उद्देश्य इन उद्योगों के विकास का कार्यक्रम बनाना एवं उसे कार्यान्वित करना है। कर्मचारियों के प्रशिक्षण, आवश्यक यंत्र-उपकरणों का निर्माण और उपलब्धि, कच्चा माल जुटाना, निर्मित माल की बिक्री का प्रबन्ध करना, अनुसंधान व्यवस्था करना है। प्रत्येक उद्योग की आर्थिक समस्याओं के अध्ययन का उत्तरदायित्व भी बोर्ड ने अपने ऊपर ले लिया है। प्रारम्भ में बोर्ड केवल परामर्शदात्री संस्था थी, किन्तु कालान्तर मे वह स्वायत्त संस्था मान ली गई तथा उसे उद्योगों के विकास का कार्यक्रम बनाने और उसके कार्यान्वित करने के लिये आवश्यक धन देने का भी अधिकार मिल गया। अब बोर्ड के उक्त अधिकार अखिल भारतीय ग्राम्य उद्योग आयोग ने ले लिये हैं और बोर्ड पहले के समान केवल परामर्शदात्री संस्था रह गई है।

बोर्ड का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई मे है। बोर्ड का सभापति चार विशेषज्ञ समितियों की सहायता से कार्य करता है। एक कार्यकारिणी समिति है, दूसरी का काम प्रशिक्षण, तीसरी का सम्बन्ध अन्वेषण से तथा चौथी का उद्योगों की आर्थिक समस्याओं से है। बोर्ड अपने मुख्य कार्यकारी अधिकारी के द्वारा अपनी नीति लागू करता है। उसकी सहायता के लिये कई निदेशकों का अपना निदेशालय है। ये निदेशालय आर्थिक अन्वेषण, प्रचार, अम्बर चर्खा विकास, ग्राम्य उद्योग तथा सहकारिता से सम्बन्धित हैं। बोर्ड के कार्यों के लिये देश को सात क्षेत्रों मे बाँट दिया गया है और प्रत्येक क्षेत्र के लिये एक क्षेत्रीय निदेशक नियुक्त किया गया है।

समस्यायें

इन उद्योगों की अनेक समस्याओं मे से मुख्य शैलिक ज्ञान, पूंजी तथा प्रशिक्षित एवं अनुभवी पथ-प्रदर्शकों का अभाव, बड़े उद्योगों की प्रतियोगिता एवं माल की बिक्री की कठिनाइयाँ इत्यादि हैं। इन सभी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया जा रहा है। साथ ही प्रोत्साहन, प्रेरणा एवं विविध सुविधायें भी इन उद्योगों को प्रदान की जा रही हैं।

प्रशिक्षण

बोर्ड की स्थायी प्रशिक्षण समिति इस कार्य के लिये उत्तरदायी है और प्रशिक्षण निदेशक की देख-रेख में प्रशिक्षण व्यवस्था की जाती है। प्रशिक्षकों, संयोजकों एवं ग्रामीण शिल्पियों के प्रशिक्षण की पूर्ण व्यवस्था की गई है। सामुदायिक विकास क्षेत्रों में इन उद्योगों के विकास के विचार से उस क्षेत्र के प्रसार अधिकारियों (औद्योगिक) एवं ग्राम्यसेवक प्रशिक्षण केन्द्रों के प्रशिक्षकों के भी प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। चार प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। प्रथम दीर्घकालीन एवं गहन प्रशिक्षण है जो ऐसे संयोजकों, प्रशिक्षकों एवं प्रसार अधिकारियों के निमित्त है, जो सामुदायिक विकास क्षेत्रों अथवा खादी ग्रामोद्योग महाविद्यालयों मे काम करते हैं। दूसरे प्रकार का अल्पकालीन प्रशिक्षण है जो क्षेत्रीय ग्रामोद्योग महाविद्यालयों के शैल्पिक सहायकों एवं शिक्षकों को दिया जाता है।

इसमें खादी और ग्रामोद्योगों सम्बन्धी ज्ञान कराया जाता है। तीसरा विशेष गहन प्रशिक्षण है जो ग्राम विशेष के उद्योगों से सम्बन्धित होता है तथा वहाँ के उत्पादन केन्द्रों के निरीक्षण करने वाले कर्मचारियों को दिया जाता है। चौथा प्रशिक्षण सामयिक पुनरभ्यास पाठ्यक्रम है जो कार्यकर्त्ताओं एवं शिल्पकारों को अन्तिमतम प्रयोगों एवं अन्वेषणों की जानकारी कराने के निमित्त दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अम्बर-चर्खा सम्बन्धी विशेष प्रशिक्षण सुविधायें भी की गई हैं।

आर्थिक सहायता

नये ग्रामोद्योगों के स्थापन और वर्तमान उद्योगों को प्रोत्साहन देने के विचार से विविध प्रकार की आर्थिक सहायता दी जाती है। यह सहायता प्रत्यक्ष अर्थ-साहाय्य, अनुदान, बिना ब्याज ऋण अथवा ब्याज सहित ऋण इत्यादि विविध प्रकार की हो सकती है। नये उद्योग स्थापित करने के लिये पूँजी के रूप में भी सहायता दी जाती है। कच्चा माल मोल लेने, बने माल की बिक्री के लिये अथवा यन्त्र-उपकरण लेने के लिये धन दिया जाता है। उत्पादन मूल्य मे कमी करने के लिये भी सहायता दी जाती है, ताकि उद्योग विशेष बड़े उद्योगों की प्रतियोगिता में अपना माल सुविधापूर्वक बेच सकें। रेशमी खादी व पश्मीना पर १० नये पैसे प्रति रुपया तथा अन्य प्रकार की खादी व सिले कपड़ों पर १६ नये पैसे प्रति रुपया छूट दी जाती है। जो लोग निजी प्रयोग के लिये खादी बुनते हैं उन्हें ५ आने गज अर्थ-सहायता दी जाती है तथा ६ पाई रुपया खादी-उत्पादन अथवा बिक्री केन्द्र को। घानी के तेल पर भी अर्थ-साहाय्य दिया जाता है। सभी उद्योगों के सम्बन्ध में प्रशिक्षण पाने वाले विद्यार्थियों को छात्र वृत्तियाँ दी जाती हैं।

वैधानिक राज्य बोर्डों अथवा सहकारी समितियों द्वारा सहायता उद्योगों अथवा कारीगरों को वितरित की जाती है। जिन राज्यों में वैधानिक बोर्ड हैं उन्हें आर्थिक सहायता सीधी पहुँचाई जाती है, किन्तु जहाँ ये बोर्ड केवल सलाहकार मात्र हैं उन्हें उस राज्य की सरकार द्वारा सहायता दी जाती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, प्रथम योजना काल मे खादी और ग्रामोद्योग पर १६ करोड़ रुपए व्यय किए गए और द्वितीय योजना में ५५.५० करोड़ रुपए की व्यवस्था थी। इसमें से ४ करोड़ रुपए केन्द्रीय सरकार की योजनाओं पर और शेष ५१.५० करोड़ रुपये राज्यों द्वारा बनाई गई योजनाओं में व्यय हुए। इन उद्योगों के निमित्त विशेष निधि स्थापित करने का भी विचार है।

संगठन

प्रत्येक ग्राम्य उद्योग के विकास का पूरा उत्तरदायित्व एक औद्योगिक निदेशक के हाथ मे है। वह देश भर मे घूमता रहता है और उद्योग की स्थिति एवं प्रसार की पूरी जानकारी प्राप्त करके विकास योजना बनाता है तथा उसे बोर्ड के सम्मुख रखता है। बोर्ड अपनी कार्यकारिणी की सहायता से इन योजनाओं की पर्यालोचन करके उनकी मंजूरी देता है एवं आवश्यक धन की व्यवस्था करता है। निदेशक बोर्ड

होने के उपरान्त उसकी देखभाल और पथ-प्रदर्शन भी यही संयोजक करता है। ये संयोजक शिल्पकारों की विविध प्रकार की जानकारी और सहायता करते हैं, उन्हें सहकारी समितियाँ बनाने की प्रेरणा देते हैं, उनके माल की बिक्री के सम्बन्ध में परामर्श और पथ-प्रदर्शन करते हैं, उन्हें स्थानीय, क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय प्रदर्शनियों और प्रतियोगिताओं में भाग लेने को कहते हैं, उन्हें उत्पादन के नए ढंग एवं यन्त्र प्रयोग करने का परामर्श देते हैं, तथा विकास योजनाओं व उपलब्ध आर्थिक सहायता की सूचना देते हैं। ये आदर्श प्रदर्शन उत्पादन-प्रशिक्षण केन्द्र भी खोलते हैं जिन्हें देखकर कारीगर नई विधियाँ एवं नये यन्त्रों का प्रयोग सीख सकें। इस भाँति इन संयोजकों का कार्य ग्रामीण उद्योगों के स्थापन एवं पुनरुत्थान के लिये आवश्यक वातावरण बनाना और सहायता देना है।

गहन क्षेत्र योजना

आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन के सिद्धान्त को आधार मानकर बोर्ड ने एक गहन क्षेत्र योजना नामक कार्यक्रम चलाया है जिसका मुख्य ध्येय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का संगठित विकास है। इस योजना के अन्तर्गत ग्रामीण उद्योगों को बेकारों अथवा अर्द्ध बेकारों को काम देने के लिए सहायक अथवा वैकल्पिक उद्योगों के रूप में लाया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र में अपना एक बिरादरी उत्पादन एवं प्रशिक्षण केन्द्र होता है। केन्द्रों में अब क्षेत्र के निवासियों को ऐसी सुविधा दी जाती है कि वे अपने अन्न को आटे में और तिलहन को तेल में परिवर्तित करा सकें। प्रत्येक क्षेत्र के प्रत्येक गाँव में एक ग्राम विकास मण्डल होता है जो बिरादरी केन्द्रों की देख-रेख रखता है। एक क्षेत्र समिति प्रत्येक मण्डल का पथ-प्रदर्शन करती है। इस योजना के लिए आर्थिक सहायता अथवा ऋण के रूप में आवश्यक धन बोर्ड देता है। यह योजना देश के २१,००० गाँवों में चालू है। १९५५-५६ में ऐसी योजनायें चालू की गई थी। अब इनकी संख्या २०० हो गई है।

सरकार द्वारा माल का क्रय

ग्राम्य उद्योगों की अनेक समस्याओं में सबसे अधिक जटिल समस्या माल की बिक्री की है। इन उद्योगों का बड़े उद्योगों की भाँति कोई विक्रय संगठन नहीं होता। अतएव उपभोक्ता तक पहुँचना उनके लिये कठिन होता है। इस समस्या को सुलझाने के निमित्त बिक्री केन्द्र व दूकानें खोलकर तथा प्रदर्शन केन्द्रों एवं प्रचार द्वारा माल की बिक्री की व्यवस्था की जाती है। साथ ही भारत सरकार और राज्यों की सरकारों ने अपनी आवश्यकता का कुछ माल छोटे अथवा ग्रामीण उद्योगों से लेने का निश्चय कर लिया है। सरकारी कर्मचारियों की वर्दियों के लिए खादी का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है जिससे इस उद्योग को अप्रत्यक्ष सहायता और प्रोत्साहन मिलता है। करोड़ों रुपये की खादी प्रतिवर्ष सरकार खरीदती है। केन्द्रीय सरकार चार लाख कम्बल और ५०,००० गज ऊनी कपड़ा प्रतिवर्ष अपने लिये खादी उद्योग से

लेती है। सरकारी विभागों को खादी उपलब्ध करने के लिये सरकार ने एक विशेष निदेशालय स्थापित कर दिया है।

भविष्य

इस भांति विविध प्रकार की सहायता व प्रोत्साहन द्वारा ग्रामीण उद्योगों का पुनर्निर्माण किया जा रहा है। फलस्वरूप १९५०-५१ और १९६०-६१ के बीच हथकरघे के कपडे व उत्पादन ७४·२० करोड गज से २१२ ५७ करोड गज, खादी का उत्पादन ७० लाख गज से ८०० लाख गज और रेशम का उत्पादन २० लाख पौंड से ३७ लाख पौंड हो गया। तृतीय योजनाकाल मे हथकरघे के कपडे का उत्पादन २८० करोड गज, खादी का ७० करोड गज तथा रेशम का ५० लाख पौंड होने की संभावना है। ऐसी उन्नति अन्य उद्योगो मे भी हुई है। जो काम गत वर्षों मे हो चुका है उसकी जडें मजबूत करने के अतिरिक्त तीसरी योजना मे कुछ चुने हुये क्षेत्रों मे सघन प्रयोग करने और इन उद्योगो के कार्यक्रमो को ग्राम विकास के दूसरे कार्यक्रमो से पूरी तरह समर्थित करने पर जोर दिया गया है। ऐसे व्यापक कार्यक्रम बनाए जा रहे हैं जिनमे गांवो के शिल्पकारो और कारीगरों की विभिन्न आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा जाता है, जैसे प्रशिक्षण सुविधाएं, उचित ब्याज पर सरल ऋण-व्यवस्था, विस्तार सेवाओ द्वारा दी जाने वाली तकनीकी सहायता, सभरण, कच्चे माल के क्रय सम्बन्धी सुविधाएं, बिक्री-केन्द्रो द्वारा माल की बिक्री व्यवस्था तथा उद्योगशालाओ का निर्माण इत्यादि। विशेषतः नए यन्त्रो और बिजली की शक्ति के प्रयोग द्वारा इन उद्योगो की कायापलट करने का हमारा लक्ष्य है ताकि ये उद्योग भारत के भावी गांवो की नवीन आवश्यकताओ को भली भांति पूर्ति कर सकें और अपने प्राचीन वैभव को प्राप्त कर सकें।

"अभिनवीकरण को रोकना व आधुनिकीकरण की क्रिया के मार्ग में बाधाएं डालना न केवल अतार्किक है, वरन् भारतीय उद्योगों को बरबस अस्थिरता और अवनति की ओर ले जाना है।"

—अन्तर्राष्ट्रीय श्रीर आयोजन समुदाय।

११—अभिनवीकरण

रूप-रेखा

१. परिभाषा
२. सिद्धान्त और विधियां
३. उद्देश्य
४. लाभ
५. श्रम द्वारा विरोध
६. कठिनाइयाँ
७. भारत में आवश्यकता
    (क) कारण
    (ख) अनुमतियाँ
८. उपसंहार।

परिभाषा

अभिनवीकरण का शाब्दिक अर्थ किसी कार्य में नवीनता, विज्ञान, युक्ति अथवा विवेक के समावेश से है। इसका प्रयोग किसी उद्योग में युक्ति, विवेक, विज्ञान अथवा नवीनता लाने के लिए किया जाता है। अतएव सयुक्तीकरण, विवेकीकरण, वैज्ञानिकन, नवीनीकरण अथवा नवीकरण इत्यादि शब्द भी इसके पर्यायवाची माने जाते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में अवैज्ञानिक ढंग से सगठित विवेकहीन कोई भी उद्योग उन्नत नहीं हो सकता और न वह उच्च कोटि का उत्पादन ही दे सकता है। अत अभिनवीकरण आधुनिक उद्योग के आधुनिकीकरण का प्रतीक है।

सर्व प्रथम इस शब्द का प्रयोग मनोवैज्ञानिकों द्वारा मनुष्य के स्वाभाविक कार्यों के लिए युक्तिसंगत कारण जानने के लिए किया गया। सन् १९२४ में जर्मनी मे इस शब्द का प्रयोग औद्योगिक पुनर्गठन के लिये किया गया। अन्त मे १९२७ मे जेनेवा मे हुये विश्व आर्थिक सम्मेलन ने इसे एक औद्योगिक क्रान्ति का पद दिया तथा इसकी व्यापक व्याख्या की। इस परिभाषा के अनुसार अभिनवीकरण युक्ति (Technique) और संगठन (Organization) की वे विधियाँ हैं जो श्रम (Effort) और साधनों (material) का अपव्यय कम से कम करने के लिये अपनाई जाती हैं। इसके अन्तर्गत (क) श्रम का वैज्ञानिक संगठन, (ख) उत्पादन और पदार्थों का प्रतिमानीकरण, (ग) प्रक्रियाओं का सरल करना तथा (घ) परिवहन एवं बिक्री-व्यवस्थाओं मे सुधार इत्यादि बातें सम्मिलित हैं। अभिनवीकरण का सम्बन्ध परम्परागत प्रक्रियाओं के स्थान पर आर्थिक और सामाजिक आयोजनाओं के लागू करने और सर्वाङ्गपूर्ण औद्योगिक सुधार से है। १९५६ की कानपुर सूती वस्त्र उद्योग अभिनवीकरण समिति ने इसका अर्थ विवेकपूर्ण एवं वैज्ञानिक सुधार बताया जिसके द्वारा न्यूनतम श्रम और धन व्यय करके अधिकतम उत्पादन प्राप्त हो सके। यह सुधार कार्य उद्योग के विविध पहलुओं मनुष्यों, माल, मशीनों, पूँजी और प्रबन्ध इत्यादि मे आवश्यक समझा गया।

सिद्धान्त और विधियाँ

अभिनवीकरण के चार मुख्य रूप हैं:—(क) तकनीकी, (ख) संगठनात्मक, (ग) वित्तीय, तथा (घ) सामाजिक अथवा मानवीय।

वस्तुतः अभिनवीकरण एक यान्त्रिक प्रक्रिया है और उद्योग के यंत्रीकरण से इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। श्रम की अपेक्षा आधुनिक उद्योग अपने माल के गुण-सुधार और मूल्य कम करने के लिए आधुनिकतम मशीनों का अधिक आश्रय लेता है। उद्योग के यंत्रीकरण के साथ-साथ, विशेषीकरण की गति बढ़ाई जाती है; उत्पादन और माल का प्रतिमानीकरण किया जाता है, उत्पादन क्रिया को अधिकाधिक सरल बनाया जाता है और वैज्ञानिक प्रबन्ध का पूरा-पूरा उपयोग किया जाता है।

संगठनात्मक अभिनवीकरण के अन्तर्गत दुर्बल इकाइयों को सबल और कार्य कुशल इकाइयों के साथ मिलाकर उद्योग को पुनर्गठित किया जाता है। इससे अस्वस्थ प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है और उच्च कोटि का उत्पादन होने लगता है। समामेलन के द्वारा सभी इकाइयों को आधुनिकतम इकाई बनाया जाता है और अपव्यय कम से कम होने दिया जाता है।

वित्तीय अभिनवीकरण के द्वारा उद्योग की आर्थिक स्थिति मे सुधार किया जाता है। न तो उद्योग अति पूँजीकरण के दोष से दूषित हो और न कम पूँजी के कारण निम्न कोटि का उत्पादन करता हो। पूँजी के प्रत्येक रुपए का पूर्ण उपयोग होता रहना चाहिए। आधुनिकतम क्रियाओं और मशीनों के प्रयोग के लिए उद्योग के पास पर्याप्त धन व्यवस्था आवश्यक है।

अभिनवीकरण एक यांत्रिक क्रिया ही नही, मानवीय कला भी है। अतएव श्रम की भर्ती मे, उसके हटाने में, मजदूरी मे, काम के घंटों मे, उसके बँटवारे मे श्रमिक के कल्याण और उसकी सुख-सुविधाओं एवं भावनाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है और इस भाँति पूँजी और श्रम के सम्बन्ध अच्छे किये जाते हैं। समाज हित का ध्यान रख कर उत्पादन किया जाता है। कोई राष्ट्र विरोधी उद्योग अभिनवीकरण का अधिकारी नहीं।

कोई उद्योग अभिनवीकरण की उक्त विधियों मे से किसी एक अथवा अधिक को अपना सकता है, सभी का एक साथ समागम आवश्यक नही है, यद्यपि वाञ्छनीय है।

उद्देश्य

अभिनवीकरण के मुख्य उद्देश्य : (क) उत्पादन वृद्धि, (ख) माल का गुण सुधार, (ग) उत्पादन व्यय मे कमी और (घ) श्रमिक वर्ग की स्थिति मे सुधार हैं। (ङ) इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उद्योग को विवेकपूर्ण निर्देश और प्रबन्ध के अन्तर्गत संगठित किया जाता है तथा उद्योग की सम्पूर्ण इकाइयों को एक बड़ी इकाई के अंग-प्रत्यंग माना जाता है और उनका पारस्परिक विरोधी भाव समाप्त हो जाता है।

लाभ

अभिनवीकरण से होने वाले मुख्य लाभ निम्नांकित हैं :—

(क) विशालकाय उत्पादन सम्बन्धी मितव्ययता और लाभ,
(ख) जीवन-स्तर ऊँचा उठाना,
(ग) उद्योग की आन्तरिक एवं बाह्य प्रतियोगिता शक्ति बढ़ाना,
(घ) संघर्ष के कारण हटाकर औद्योगिक वातावरण मे स्थिरता स्थापित करना।

ये लाभ समाज के किसी एक वर्ग तक ही सीमित नही। इनका स्वस्थ प्रभाव देश और जाति के सभी वर्गों पर पड़ता है। मुख्यत. उद्योगपति, उपभोक्ता और श्रमजीवी वर्ग को अभिनवीकरण से विशेष लाभ पहुँचता है।

उद्योगपति को अभिनवीकरण का लाभ अनार्थिक इकाइयों और प्रतियोगिता के हटने, उत्पादन क्षमता के पूर्ण उपयोग, अपव्यय कम होने तथा उद्योग के विवेकपूर्ण निर्देश और प्रबन्ध के अन्तर्गत आने से मिलता है। उद्योगपति की साख और धन-साधन जुटाने की क्षमता बढ़ जाती है। अभिनवीकरण से श्रमिक वर्ग का कार्य-कौशल बढ़ता है, उसे थकावट कम से कम होती है, उसे पारिश्रमिक अधिक मिलने लगता है तथा वह एक स्वस्थ वातावरण मे काम करता है। उसका जीवन-स्तर दिनों-दिन उच्चतर होता चला जाता है। अभिनवीकरण से उपभोक्ता को भी भारी लाभ होता है। उसे सस्ता और उच्चकोटि का माल आवश्यकतानुसार मिलने लगता है तथा उसकी क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। अभिनवीकरण का उद्देश्य उद्योगपति एवं श्रमजीवी को ही लाभ पहुँचाना नही है, वरन् देश और समाज को भी गौरवान्वित करना है। अभिनवी-

करण से देश के साधनों का समुचित उपयोगी होता है और उत्पादन मे वृद्धि होती है। संगठित औद्योगिक व्यवस्था के कारण अन्वेषण द्वारा नए-नए उत्पादनो और क्रियाओ का आविर्भाव होता है जिससे धन-वैभव और सुख-शान्ति मे वृद्धि होती है।

श्रम द्वारा विरोध

यद्यपि अभिनवीकरण से समाज के सभी अंगो को अपार लाभ होते हैं, किन्तु श्रमिक वर्ग की ओर से ऐसी योजनाओं का भारी विरोध होता है। इस विरोध के अनेक कारण हैं (१) बेकारी फैलने का भय, (२) कार्य भार बढ़ने की सम्भावना और फलस्वरूप अधिक थकावट की आशका तथा (३) अभिनवीकरण से होने वाले लाभो का अनुचित एवं असमान वितरण इत्यादि इस विरोध के मुख्य कारण हैं। अभिनवीकरण की योजनायें लागू करते समय उत्तम से उत्तम और आधुनिकतम मशीनें स्थापित की जाती हैं। अतएव अनेक श्रमजीवी काम से हटा दिये जाते हैं। अनेक अलाभकर इकाइयाँ बन्द करदी जाती हैं जिनमे काम करने वाले कर्मचारी बेकार हो जाते हैं। उत्पादन को माँग के अनुरूप समायोजित करना पड़ता है जिससे काम के साधन बहुधा कम हो जाते हैं। साथ ही कम कार्यकुशल व्यक्तियो को हटा कर उच्च शिक्षा प्राप्त एव कार्यकुशल कर्मचारियो की भर्ती किया जाता है। इन सभी का सम्मिलित प्रभाव तत्कालीन बेकारी होती है। अतएव श्रमिक वर्ग का विरोध स्वाभाविक है। वस्तुतः यह विरोध संकुचित दृष्टिकोण और अदूरदर्शिता का सूचक है, क्योकि अन्ततोगत्वा अभिनवीकरण से कार्य के साधनो मे वृद्धि होती है। उत्पादन सस्ता और उच्चकोटि का होने एव उपभोक्ता की क्रय-शक्ति बढने से औद्योगिक प्रसार होता है, अनेक नई इकाइयाँ स्थापित होती हैं, अनेक सहायक उद्योग और सहायक साधनो व सेवाओं का जन्म होता है। इस भाँति अधिकाधिक लोगो को काम मिलता है। गत अनुभव से मशीन कार्य वृद्धि का एक अपूर्व साधन सिद्ध हो चुकी है। ब्रिटेन मे शक्ति चालित तकुए व करघो के चालू होने के उपरान्त एक पीढ़ी की अवधि मे दस गुने अधिक लोग उस उद्योग मे काम करने लगे थे। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे ६० वर्ष की अवधि में श्रमजीवियो की संख्या १८० लाख से बढ़कर ६०० लाख हो गई, १९३९ और १९५३ के बीच वहाँ के निर्माण उद्योगो मे काम करने वाले लोगो की संख्या मे ७५% बढ़ोतरी आँकी गई,

मशीन के प्रयोग से मनुष्य को अनेक भारी, थकावट पूर्ण और कठिन कार्यों से छुटकारा मिल गया है। जर्मनी में जिस मोटर के बनने मे चार महीने लगते थे, नई युक्ति द्वारा उसे केवल तीन सप्ताह में बनाया जाने लगा। ब्रिटेन में जिस मरम्मत के काम मे १९२० में २½ महीने लगते थे, १९३० मे उसे ४७ घण्टे में किया जाने लगा।

यदि अभिनवीकरण का कार्य-क्रम चढते हुए मूल्यो और बढ़ती हुई माँग के समय लागू किया जाता है तो हटाए गए श्रम को काम मे लगाने मे कोई कठिनाई

नहीं होती। गिरते हुए मूल्यों और घटती हुई माँग के समय इन योजनाओं को लागू न करने की सावधानी बरतनी आवश्यक है।

कठिनाइयाँ

(क) श्रमिक वर्ग का विरोध अभिनवीकरण के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। (ख) धनाभाव दूसरी भारी कठिनाई है। मूल्यवान नई मशीनें और उपकरण लेने के लिए अमित धन की आवश्यकता होती है जो सभी उद्योग अथवा इकाइयाँ जुटाने में असमर्थ रहती हैं। हमारे जूट उद्योग के लिए ५० करोड़ रुपए और सूती वस्त्र के लिए ३०० क० रु० की पूँजी का अभिनवीकरण के निमित्त अनुमान लगाया गया है। (ग) एकाधिकार सम्बन्धी दोष तीसरी बड़ी कठिनाई है। सम्मिलित इकाइयों के एकाधिकार स्थापित होने का भय सदैव बना रहता है। (घ) अभिनवीकरण के लिए उच्च योग्यता और शिक्षण प्राप्त व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जिनकी हमारे देश में भारी कमी है। (ङ) बहुधा कार्य मशीनों द्वारा किया जाता है। अतएव व्यक्तिगत योग्यता और साहस दिखाने के कम अवसर आते हैं। इससे लोगों में आगे बढ़ने की रुचि कम होती है और अन्वेषण मार्ग रुकता है। (च) हमारे देश में अनुसंधान सुविधाओं और प्रतिमानीकरण प्रयोगशालाओं का अभाव भी इसके मार्ग की एक बड़ी बाधा है।

भारत में अभिनवीकरण की आवश्यकता

(क) देश की तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या को काम देने के लिए अन्य देशों की अपेक्षा भारत को अभिनवीकरण की अधिक आवश्यकता है। पुरानी मशीनों से उत्पादन कम होता है और मूल्य ऊँचा चढ़ जाता है तथा मजदूरी की दर कम हो जाती है। इससे माँग और क्रय-शक्ति कम होकर उत्पादन और भी कम होता जाता है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम गरीबी और बेकारी होता है जिससे छुटकारा पाने का एक मात्र मार्ग अभिनवीकरण है।

(ख) देश में औद्योगिक उत्पादन वृद्धि सर्वमान्य है। इसका एक मात्र साधन उच्च कोटि की मशीनों और उत्पादन क्रियाओं का प्रयोग ही है।

(ग) भारतीय सीमेंट उद्योग ने अभिनवीकरण का सहारा लेकर अपना संगठन सुदृढ़ कर लिया है, किन्तु देश के कई अन्य उद्योग जैसे सूती वस्त्र, जूट, कोयला, लोहा-इस्पात और चीनी इत्यादि, इस दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए हैं। विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने के लिए उन्हें प्रतियोगी देशों की भाँति ही अभिनवीकरण करना आवश्यक है।

(घ) सन् १९४५ से भारत का विदेशी व्यापार घाटे में है। इस घाटे को कम करने के लिए निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता है। हमारे निर्यात पदार्थों में कुछ गिनी चुनी परम्परागत वस्तुएँ ही महत्वपूर्ण हैं। इन वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए उच्च कोटि का सस्ता माल बनना आवश्यक है जो अभिनवीकरण द्वारा ही

संभव है। हमारे सूती वस्त्र और जूट निर्मित माल, चाय इत्यादि का निर्यात गत वर्षों में विदेशी प्रतियोगिता के कारण कम हो गया है।

(ङ) हमारे कुछ उद्योग अति प्राचीन मशीनों से काम चला रहे हैं जिससे उत्पादन निम्न कोटि का होता है और उत्पादन व्यय ऊँचा। सूती वस्त्र उद्योग के कताई विभाग में ३०% मशीनें १९१० से पहले की और ६५% मशीनें १९२५ से पहले की लगी हुई हैं। उसके बुनाई विभाग में ४९% मशीनें १९१० से पहले की और ७५% मशीनें १९२५ से पूर्व की हैं। वस्त्र उद्योग में संयुक्त राष्ट्र में शतप्रतिशत, फ्रांस में ५२%, इटली में ५१%, रूस में ४१%, प० जर्मनी में २८%, पाकिस्तान में २६%, जापान में १८%, ब्रिटेन में १५%, चीन में १२% करघे स्वचालित हैं जबकि भारत में केवल ७%।

(च) १९५४ में अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ दल तथा कानूनगो समिति ने यह सुझाव दिया कि भारतीय उद्योगों का अभिनवीकरण वांछनीय ही नहीं आवश्यक है। इस सुझावों के अनुसार उसी वर्ष संसद में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार सूतीवस्त्र और जूट उद्योगों में कुछ शर्तों के साथ अभिनवीकरण की आज्ञा दी गई। सूतीवस्त्र उद्योग समिति १९५८ ने और योजना आयोग ने भी इन उद्योगों के अभिनवीकरण की अनुमति दी है।

उपसंहार

विदेशी बाजारों में बढ़ती हुई प्रतियोगिता का सामना करने और उच्च कोटि का सस्ता माल बनाने के विचार से देश के सूती वस्त्र, जूट, लोहा-इस्पात, कोयला और चीनी उद्योगों में अभिनवीकरण की नितान्त आवश्यकता है, किन्तु अभिनवीकरण की योजना लागू करते समय बेकारी का बचाव होना चाहिए। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय मजदूरी बोर्ड ने कुछ सिद्धान्त बना दिए हैं जिनका पालन करने से बेकारी की आशंका दूर हो जाती है।

"देश के निजी औद्योगिक क्षेत्र मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति का आज भी बोलवाला है जिसका ७० प्रतिशत सार्वजनिक सीमित दायित्व कम्पनियो पर अधिकार है।"

—पी० एस० लोकनाथन

१२—प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति

रूप-रेखा

१. परिभाषा
२. इतिहास (जन्म और विकास)
३. वर्तमान स्थिति
४. कार्य
   (क) प्रवर्तक
   (ख) प्रबन्धकर्त्ता
   (ग) वित्तपोषक
   (घ) क्रय-विक्रय
५. दोष
   (क) अधिक पारिश्रमिक
   (ख) एकाधिकार
   (ग) अनेक कम्पनियो का प्रबन्ध
   (घ) एक कम्पनी का धन दूसरी मे लगाना
   (ङ) अंशधारियो और संचालको पर आधिपत्य
६. सुधार
   (क) १९३६ के नियन्त्रण
   (ख) १९५१ का अध्यादेश
   (ग) १९५६ का कानून
७. वर्तमान सरकारी नीति
८. भविष्य

परिभाषा

प्रबन्ध प्रभिकर्त्ता पद्धति भारतीय विशालकाय उद्योग के प्रबन्ध का एक अनुपम ढग है। परिमित दायित्व कम्पनियो का प्रबन्ध या तो एक सचालक मण्डल किसी प्रबन्धकर्त्ता अथवा प्रबन्धकारी सचालक की सहायता से करता है या वह किसी समझौते द्वारा एक प्रबन्ध प्रभिकर्त्ता की नियुक्ति करता है। यह प्रबन्ध प्रभिकर्त्ता कम्पनी के प्रबन्ध सम्बन्धी प्रतिनिधि समझे जाते हैं जो समझौते के अनुसार संचालक मण्डल की देख रेख मे कम्पनी के सम्पूर्ण प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी माने जाते हैं। यह कोई व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी हो सकते हैं। इनके समझौते के नियमो का कम्पनी के अधिकार पत्र (Memorandum) अथवा अन्तर्नियमो (Articles) मे भी समावेश हो सकता है और अलग किसी सविदे मे भी। इन्हे अपना काम बहुधा सचालक मण्डल की देख रेख मे करना पडता है। यद्यपि कुछ पाश्चात्य देशो मे भी कम्पनियो का प्रबन्ध ऐसी सस्थाओ के हाथ मे है, किन्तु भारतीय पद्धति उन सबसे सर्वथा भिन्न और विचित्र है जो देश की परिस्थितियो के पूर्णत अनुकूल है।

जन्म और विकास

भारत मे बडे उद्योगो का आविर्भाव यूरोप के उद्योगपतियो और पूंजीपतियो के द्वारा हुआ। उस समय भारत के लोगो को बडे उद्योगा के विशाल सगठन का अनुभव नही था, यहाँ महाजनी सुविधाये भी विकसित नही हुई थी, लोगो मे बचत और विनियोग की प्रवृत्ति भी नही थी। भारत का लगभग सम्पूर्ण विदेशी व्यापार अँग्रेज और यूरोप के लोगो के हाथ मे चला गया था। ब्रिटेन के व्यापारी लोग भारत मे ब्रिटिश कम्पनियो अथवा साझेदारी सस्थाओ के प्रतिनिधि होकर आए। इन लोगो को बडे व्यवसाय के सगठन, प्रवर्तन तथा प्रबन्ध का अच्छा अनुभव था। भारत म आकर इन्होने यहाँ औद्योगिक विकास-विस्तार के लिए विशाल क्षेत्र देखा। अतएव यहाँ नए-नए उद्योग स्थापित करने लगे। ऐसे किसी व्यक्ति अथवा सस्था ने प्रथम जूट मिल स्थापित किया, तो उसके लिए शक्ति साधन जुटाने के लिए कोयला कम्पनी चालू की और फिर कोयले की ढुलाई के निमित्त नौपरिवहन व्यवसाय हाथ मे ले लिया। इस भाति एक ही उद्योगपति विविध उद्योग चलाने लगा।

भारत और ब्रिटेन की दूरी और जलवायु की उष्णता के कारण कुछ ही लोग भारत मे रह कर इन उद्योगो को चलाते थे। अतएव प्रवर्तन, वित्तपोषण एव प्रबन्ध इत्यादि सभी कार्य इन्हे करने पडते थे। कभी कुछ ऐसे उद्योगो का भी प्रबन्ध इन्हे करना पडता था जिनके ये स्वामी नही थे। यही लोग अथवा सस्थाये प्रबन्ध प्रभिकर्त्ता कहलाए। प्रारम्भ मे ये बहुधा पारिवारिक साझेदारी सस्थाये थी। कालान्तर मे कुछ कम्पनियाँ बन गई और कुछ व्यक्ति भी इस काम को करने लगे। इन लोगो ने पूर्वी क्षेत्र अर्थात् बगाल और आसाम म जूट कार्यालय, चाय उद्योग, कोयला कम्पनियाँ, नौपरिवहन सस्थायें तथा चीनी उद्योग प्रारम्भ किये और इस क्षेत्र मे विशेषज्ञ बन गए।

इसी भाँति पश्चिमी क्षेत्र (बम्बई, अहमदाबाद) मे भारत के व्यापारी लोगो ने सूती वस्त्र और अन्य उद्योग स्थापित किए और उनके सर्वेसर्वा बन गए। पूर्वी क्षेत्र मे यूरोपीय और पश्चिमी क्षेत्र म भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का एकाधिकार स्थापित हो गया। भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ता बहुधा पारसी, मुसलमान, यहूदी, भाटिया इत्यादि होते हैं। कालान्तर मे मारवाडी लोग भी नामी प्रबन्ध अभिकर्त्ता बन गए।

१८५० से अब तक भारत मे जितने बडे-बडे उद्योग (सूती वस्त्र, जूट, चाय, कोयला, लोहा-इस्पात, चीनी, सीमेंट) स्थापित हुए हैं उनके प्रवर्तन, संचालन, वित्त-पोषण और प्रबन्ध इत्यादि का सारा श्रेय इन्ही प्रबन्ध विशेषज्ञो को है। आज विविध प्रतिबन्धो के उपरान्त भी ये देश की लाभदायक सेवा कर रहे हैं।

वर्तमान स्थिति

१९५६ मे कम्पनी कानून के लागू होने से पूर्व देश म ३,९४४ प्रबन्ध अभि-कर्त्ता थे। ये २९,६२५ कम्पनियों में से ५,०५५ कम्पनियो का प्रबन्ध करते थे अर्थात् प्रत्येक ६ कम्पनियो मे स एक कम्पनी इनके प्रबन्ध के अन्तर्गत थी। प्रबन्ध अभिकर्त्ता लगभग ४८% प्राप्त पूँजी के लिए उत्तरदायी थे। ३९४४ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ मे से २५२२ साझेदारी संस्थायें थी, १२३८ निजी कम्पनियां और १८४ सार्वजनिक कम्पनियाँ। इनमे से १७ ऐसे अभिकर्त्ता थे जिनके नीचे १० अथवा अधिक कम्पनियाँ थीं। पश्चिमी बंगाल मे १६०१, बम्बई मे ८३५, मद्रास म ४३७ और उत्तर प्रदेश मे १६० प्रबन्ध अभिकर्त्ता थे। शेष अन्य राज्यो मे फैले हुए थे।

१९५६ के कानून के लागू होने के उपरान्त यह पद कम आकर्षक रह गया और प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के भाग्य का सूर्य ढलने लगा। १९५६ और १९५९ के बीच तीन वर्ष की अवधि मे देश मे २९०४ नई कम्पनियाँ बनी। इनमे से २११४ कम्पनियो ने संचालक मण्डल द्वारा प्रबन्ध करने का निर्णय किया, ६७४ ने प्रबन्ध सचालक द्वारा और केवल ३६ कम्पनियों ने प्रबन्ध अभिकर्त्ता द्वारा प्रबन्ध करना उचित समझा। १६ अगस्त १९६० को केवल १३०८ कम्पनियो का प्रबन्ध अभि-कर्त्ताओं के हाथ मे था। इस दिन उनकी संख्या केवल ९११ थी। इनमे से ७७६ अर्थात् ८४% के हाथ मे केवल एक-एक कम्पनी का प्रबन्ध था।

कार्य

प्रबन्ध अभिकर्त्ता एक बहु उद्देशीय संगठन है जिसके मुख्य कार्य तीन हैं : (क) कम्पनी प्रवर्तन और स्थापन, (ख) वित्तपोषण, तथा (ग) प्रबन्ध, यद्यपि (घ) क्रय-विक्रय और बीमा से सम्मिलित इनकी सेवायें भी कम महत्व की नहीं हैं।

कम्पनी प्रवर्तन—जितनी देश मे नई कम्पनियाँ स्थापित हुई हैं, लगभग ९०% इन्हो के साहस और परिश्रम से बनी हैं। इन्हे विविध उद्योगो का ज्ञान और अनुभव प्राप्त है। ये लोग उद्योग के स्थापन की योजना बनाते हैं, इन्जीनियरो, लेखा विशेषज्ञो, व वकीलो से परामर्श लेते हैं, उद्योग का पूँजी सम्बन्धी ढांचा प्रस्तुत करते है, अधिकार पत्र, अन्तर्नियम और उद्देश्य-पत्र लिखाते हैं और सारी कानूनी कार्यवाही करते हैं। पाश्चात्य देशो की भांति भारत मे विशेषज्ञ प्रवर्तकों का सर्वथा अभाव है।

अतएव प्रबन्ध अभिकर्त्ता ही इस काम को करते हैं। सूती वस्त्र, लोहा-इस्पात, जूट, सीमेंट, कोयला, बिजली इत्यादि भारत के उद्योगों के स्थापित करने का गौरव इन्हीं को प्राप्त है। यही नहीं हाल के वर्षों में इन्जीनियरी, रसायनिक, मोटर, मशीन निर्माण और अल्युम्यूनियम इत्यादि नए उद्योग भी इन्हीं के साहस और परिश्रम से स्थापित हुए हैं।

वित्तपोषण—प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रारम्भिक स्थायी पूँजी, कार्यशील पूँजी और *वृद्धि-विस्तार व आधुनिकीकरण सम्बन्धी दीर्घकालीन पूँजी* उद्योग के लिए जुटाते हैं। वे कम्पनी के अनेक अंश व ऋण-पत्र स्वयं ले लेते हैं अथवा अपने मित्रों और व्यवसाय सहयोगियों को लेने का आग्रह करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर ये कम्पनियों को स्वयं ऋण देते हैं अथवा बैंकों से दिलाते हैं। जनता अथवा कर्मचारियों से रुपया जमा कराने के लिये भी यही उत्तरदायी हैं। ये आरम्भ से अब तक और जीवन भर उद्योग *की सभी प्रकार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।* अनेक उद्योगों को इन्होंने संकटकाल में आर्थिक सहायता देकर डूबने से बचाया है।

प्रबन्ध—प्रबन्ध अभिकर्त्ता वस्तुत: प्रबन्ध विशेषज्ञ होते हैं। अपने लम्बे और विविध अनुभव के कारण ये प्रबन्ध कार्य में बड़े चतुर और सुलझे हुए होते हैं। आधुनिक व्यवसाय की अनेक गुत्थियों को सुलझाना और कानूनी जटिलताओं को सुविधा में परिवर्तन करना इनके बायें हाथ का खेल है। एक प्रबन्ध अभिकर्त्ता अनेक कम्पनियों का प्रबन्ध करने में समर्थ है।

विविध सेवाएँ—प्रबन्ध अभिकर्त्ता उद्योग द्वारा बनाए माल की बिक्री, मशीनों व कच्चे माल के क्रय तथा बीमा सम्बन्धी क्रियाओं में भी सहायता करते हैं। आवश्यकतानुसार ये आयात-निर्यात कार्य भी कम्पनी के लिये करते हैं।

दोष

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की औद्योगिक सेवायें अत्यन्त बहुमूल्य हैं, किन्तु इन्होंने अपने औद्योगिक एकाधिकार का दुरुपयोग भी किया है। प्रथम विश्व-युद्ध के आरम्भ से द्वितीय युद्ध के अन्त तक इनके अनेक दोषों की ओर संकेत किया गया। इनके मुख्य दोष निम्नांकित हैं: (क) अधिक पारिश्रमिक—पारिश्रमिक लेने के इनके अनेक ढंग रहे हैं जिनके द्वारा वे उद्योग को आर्थिक दृष्टि से दुर्बल बनाने लगे। कार्यालय का भत्ता, लाभ का एक भाग, मासिक वेतन और क्रय-विक्रय कमीशन इत्यादि इस पारिश्रमिक के *विविध ढंग अपनाए गये। १९५६ के कानून के अन्तर्गत उनका पारिश्रमिक वार्षिक* लाभ के प्रतिशत के रूप में सीमित कर दिया गया है। (ख) वंश परम्परा द्वारा उद्योग का एकाधिकार, (ग) अंशधारियों और संचालकों पर आधिपत्य, (घ) कम्पनी के धन का दुरुपयोग, (ङ) कम्पनी के स्थान पर निजी हित सर्वोपरि रखना, (च) अन्तर्कम्पनी विनियोग, (छ) मित्रों व सम्बन्धियों को ऋण देना, (ज) कम्पनी के *व्यवसाय के साथ प्रतियोगिता करना, (झ) बिना कम्पनी की* अनुमति के उसके प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकारों को दूसरे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को हस्तान्तरित करना इत्यादि इसके अन्य महत्वपूर्ण दोष हैं।

सुधार

प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के दोष सर्वप्रथम अन्तयुद्ध काल मे लोगो पर प्रगट हुए और उन्हे दूर करने की मांग की जाने लगी। अतएव १९३६ के भारतीय कम्पनी कानून द्वारा उन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध और नियन्त्रण लगा दिये गए। इनमे से मुख्य निम्नांकित थे : (क) प्रबन्ध अभिकर्त्ता का अवधिकाल २० वर्ष के लिए सीमित कर दिया गया, (ख) दोष प्रमाणित होने पर अशधारियो को उसे निकाल देने का अधिकार दे दिया गया, (ग) पद (Office) अथवा पारिश्रमिक का दूसरे को सौपना अथवा हस्तातरण निषेध घोषित कर दिया गया; (घ) पारिश्रमिक का मुख्य ढंग वार्षिक लाभ का प्रतिशत मान लिया गया, (ङ) केवल उन्हे एक तिहाई सचालको की नियुक्ति का अधिकार दिया गया, (च) कम्पनी द्वारा प्रबन्ध अभिकर्त्ता अथवा उसके साथियो को ऋण देना अथवा ऋण की गारन्टी देने पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये, (छ) एक कम्पनी से अपने प्रबन्ध के अन्तर्गत अन्य कम्पनियो को प्रबन्ध अभिकर्त्ता द्वारा ऋण देना अवैध ठहरा दिया गया, (ज) उन्हे कम्पनी के व्यवसाय मे प्रतियोगिता करने का निषेध कर दिया गया।

द्वितीय युद्ध के अभिवृद्धि काल मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ ने इन प्रतिबन्धो और नियन्त्रणो का उल्लंघन करके अपने अधिकारो का और भी दुरुपयोग किया। अधिक पारिश्रमिक लेने के गुप्त ढङ्ग निकाल लिए। इनके विरुद्ध इतनी शिकायतें आने लगी कि सरकार को समय-समय पर लगभग प्रतिवर्ष कानून मे कुछ न कुछ संशोधन करने पडे और १९५१ मे एक अध्यादेश जारी करके इन की शक्तियो, अधिकारो और नियुक्ति पर नए प्रतिबन्ध लगाने पडे। स्थिति मे विशेष सुधार न होते देख कर १९५६ का कानून बनाया गया जिसके अनुसार प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ पर भारी प्रतिबन्ध और नियंत्रण लगा दिए। इनमे से मुख्य निम्नांकित हैं : (क) मूल कानून मे इनका अवधि काल १० से १५ वर्ष तक सीमित कर दिया था, किन्तु १९५९ के एक संशोधन द्वारा इसे ५ से १० वर्ष ही सीमित कर दिया गया है, (ख) प्रबन्ध अभिकर्त्ता की नियुक्ति की अवधि बढ़ाने का समय निश्चित कर दिया गया है, (ग) नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति कम्पनी के अंशधारियो और केन्द्रीय सरकार की अनुमति ले कर ही संभव है, केन्द्रीय सरकार उन्ही लोगो की दुबारा नियुक्ति की आज्ञा देगी जिन्हे वह भले आदमी समझती है ; (घ) कोई प्रबन्ध अभिकर्त्ता अब १० से अधिक कम्पनियो का एक साथ प्रबन्ध नही कर सकता, (ङ) पद का हस्तातरण करने के लिए कम्पनी और केन्द्रीय सरकार दोनो की अनुमति आवश्यक है; (च) उन्हे निकाले जाने पर कोई हानि पूर्ति नही दी जाती, (छ) उनका पारिश्रमिक अब केवल लाभ का १०% से अधिक नही हो सकता तथा यह ४% से १०% तक घटता बढता रहेगा, (ज) प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के लिये देश मे क्रय-विक्रय नही कर सकते, (झ) दो से अधिक संचालको की नियुक्ति अब वे नहीं कर सकते; (ञ) अब कोई प्रबन्ध अभिकर्त्ता वंशपरम्परा के अनुसार

नियुक्त नही किया जा सकता। उनके पदत्याग, ऋण लेने अथवा देने, शक्तियो व अधिकारो तथा उनके साथियो पर भी कडे प्रतिबन्ध लगा दिए गये हैं। सरकार ने किसी भी उद्योग अथवा व्यवसाय से इस व्यवस्था का सर्वथा अन्त करने का भी अधिकार अपने हाथ मे ले लिया है।

सरकारी नीति

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओ के गुण-दोषो पर विचार करके भारत सरकार ने इनका शनै. शनै. अन्त करने की नीति अपनाई है। बैंक और बीमा के क्षेत्र से इस व्यवस्था का अन्त कर दिया गया है। सरकारी कम्पनियो का प्रबन्ध भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता द्वारा नही हो सकता। किसी कम्पनी के प्रबन्ध के लिये अब प्रबन्ध अभिकर्त्ता के साथ-साथ कोई प्रबन्धकर्त्ता (Manager), सचिव व कोषाध्यक्ष, अथवा प्रबन्ध सचालक नही नियुक्त किया जा सकता। अगस्त १९६० से इस पद्धति का अन्त करने की अभी सरकार ने कोई घोषणा नही की। इससे सिद्ध होता है कि सरकार इसे अभी उपयोगी समझती है।

भविष्य

युद्धोत्तर काल मे प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति के प्रति भारी विरोध भाव उठ खड़ा हुआ। यहाँ तक कि १९५५ मे जब कम्पनी बिल पर संसद मे विवाद हो रहा था तो इसका सर्वथा अन्त करने के तर्क उपस्थित किए गए। अन्त मे अगस्त १९६० तक इस पर अन्तिम निर्णय स्थगित करने की बात पर समझौता हुआ। अप्रैल १९५६, जब कि नया कानून लागू हुआ, और अगस्त १९६० के बीच इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार विमर्श होता रहा। इस सम्बन्ध मे राष्ट्रीय फलित आर्थिक गवेषणा परिषद ने एक खोज की और बताया कि देश को प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति की अभी बडी आवश्यकता है। परिषद ने बताया कि यह पद्धति निजी औद्योगिक क्षेत्र की ७०% कम्पनियो पर अभी आधिपत्य रखती है तथा साहस पूंजी संचित करने मे इसका बड़ा हाथ है। संभवत. इन्हीं सुझावो के कारण १५ अगस्त १९६० को भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में कोई घोषणा नही की और इसे कुछ समय के लिये अपना सुधार करने का और भी अवसर दिया है। साथ ही १९६० के कम्पनी कानून मे किए गए संशोधनो मे इस पर और भी कडाई की निगाह रखने की नीति अपनाई गई है। इस भांति प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति यद्यपि देश के लिये भी आवश्यक एवं लाभदायक है, तो भी इसका भविष्य अभी सन्देह मे पडा हुआ है। यदि परिवर्तित परिस्थितियो के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपना रंग-ढङ्ग बदल लेते हैं तो इनकी सेवाओ का देश उपयोग करता रहेगा और यदि वे अपने पुराने ढर्रे पर ही चलते रहते हैं तो एक दिन सरकार को विवश होकर उन्हे जयहिन्द कह कर बिदा कर देना ही पडेगा। यह तो सभी जानते हैं कि देश मे इस व्यवस्था का स्थान ग्रहण करने के लिये सचिव एवं कोषाध्यक्ष की एक नई व्यवस्था खड़ी की जा चुकी है और उसे प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

"पूँजी आधुनिक युग में उत्पादन का प्रमुख साधन है, वस्तुतः यह आधुनिक उद्योग का जीवन-रस है।"

१३—औद्योगिक पूँजी

रूप-रेखा

१. पूँजी का महत्व
२. पूँजी के प्रकार
   (क) स्थायी और अस्थाई पूँजी
   (ख) दीर्घकालीन और अल्पकालीन पूँजी
३. पूँजी जुटाने वाली संस्थाएँ
   (क) परम्परागत संस्थायें
   (ख) नई संस्थायें
४. दीर्घकालीन पूँजी की कठिनाई

पूँजी का महत्व

इस पूँजीवादी युग मे पूँजी उत्पादन का प्रमुख साधन है। आधुनिक उद्योग के लिए पूँजी प्राण है। कोई उद्योग जितना ही अधिक आधुनिक ढग का होगा, उसे उतनी ही अधिक मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता होगी, यहाँ तक कि रेल उद्योग मे पूँजी की मात्रा वार्षिक उत्पादन से पाँच से दस गुनी तक अधिक होती है। निर्माण उद्योगो के लिए उतनी अधिक पूँजी की आवश्यकता नही है जितनी रेलो के लिए, तो भी किसी निर्माण उद्योग की उत्पादन क्रिया जितनी ही अधिक जटिल होगी उसमे उतनी ही अधिक पूँजी लगी होगी। रासायनिक उद्योग मे पूँजी का परिमाण वार्षिक उत्पादन का १२७%, काँच उद्योग मे १२०%, कागज उद्योग मे १११%, तथा सिमेंट में १०४% है।

पूँजी के प्रकार

बहुधा दो प्रकार की पूँजी की किसी उद्योग को आवश्यकता होती है:—स्थायी (अथवा अचल) और अस्थायी (अथवा चल)। अस्थायी पूँजी को कार्यशील पूँजी भी

कहते हैं। स्थायी पूँजी स्थायी एवं आवश्यक सम्पत्ति जैसे भूमि, भवन, मशीनें, यंत्र-उपकरण, फर्नीचर, सड़के, पुल, गाडियो तथा प्रयोगशाला-उपकरण इत्यादि प्राप्त करने के लिए आवश्यक होती है। अस्थायी पूँजी दैनिक व्यय और प्रबन्ध सम्बन्धी व्यय के लिए होती है। कच्चे माल, भण्डार, निर्मित माल, खुले औजार इत्यादि मे लगी पूँजी अथवा वेतन, मजदूरी, मरम्मत इत्यादि के लिए संचित धन अस्थायी पूँजी समझी जाती है। आधुनिक उद्योगों मे स्थायी पूँजी की मात्रा अधिक होती है। भिन्न-भिन्न उद्योगो मे व भिन्न-भिन्न देशो मे स्थायी और अस्थायी पूँजी का अनुपात भिन्न-भिन्न होता है, किन्तु १ . २ का अनुपात सामान्य समझा जाता है।

पूँजी दीर्घकालीन, मध्यकालीन और अल्पकालीन भी हो सकती है। इस सम्बन्ध मे सब देशो व सब उद्योगो मे एक समान नीति नही बरती जाती। तो भी अल्पकालीन पूँजी एक वर्ष तक की अवधि के लिए, मध्यकालीन एक से पाँच वर्ष (कभी कभी ७ वर्ष) तक और दीर्घकालीन ५ से अधिक वर्ष की अवधि के लिए होती है।

आधुनिक उद्योगों मे अंश अथवा ऋण-पत्र निर्गमित करके, ऋण लेकर अथवा निक्षेप (Deposit) प्राप्त कर पूँजी जुटाई जाती है। पूँजी का एक बड़ा भाग अंशो के रूप मे संचित किया जाता है। अंश दो प्रकार के होते हैं : साधारण और पूर्वाधिकारी। हमारे देश मे साधारण अंश कम मूल्य के होते हैं। अतएव इन्ही का अधिक प्रचार है।

पूँजी जुटाने वाली संस्थाएं

(क) परम्परा से चली आने वाली संस्थायें—औद्योगिक क्षेत्र मे पूँजी लगाने वाली अनेक संस्थायें हैं। इनमे से प्राचीनकाल से चली आने वाली संस्थायें : (१) जनता, (२) प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति, (३) वित्तीय संस्थायें (बैंक, बीमा कम्पनियां तथा विनियोग निन्यास), (४) केन्द्रीय व राज्यो की सरकारें, (५) विदेशी पूँजीपति, तथा (६) स्वयं औद्योगिक संस्थाये इत्यादि हैं।

जनता—उद्योग-धन्धो को अंश पूँजी का एक बड़ा भाग जनता से मिलता है। बड़े उद्योगो के आदि काल मे भारतवासियो मे उद्योगो मे पूँजी लगाने की प्रवृत्ति कम थी। अब ऐसा नही है। तो भी गत वर्षों मे उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के भय से तथा जमींदारी के उन्मूलन के कारण व्यक्तिगत पूँजी हतोत्साहित हो गई है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति—प्रबन्ध अभिकर्त्ता देश मे उद्योगो के प्रमुख प्रवर्तक, प्रबन्धकर्त्ता और वित्तीय संस्था हैं। ये उद्योगो को न केवल प्रारम्भिक पूँजी देते हैं, वरन् ऋण के रूप मे अतिरिक्त पूँजी भी देते हैं। प्रथम युद्ध के उपरान्त इसमे कुछ ऐसे दोष आ गए कि १९३६ मे इन पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए गए। १९५६ के कम्पनी कानून ने इन पर और भी कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए हैं और इनका कार्य क्षेत्र सीमित कर दिया है। तो भी औद्योगिक पूँजी मे इनका लगभग ५०% योग है और इनका महत्व कम नही हुआ।

वित्तीय संस्थायें—भारतीय वाणिज्य बैंक केवल अल्पकालीन पूंजी देते हैं। कभी-कभी मध्यकालीन पूंजी भी प्रदान करते हैं। दीर्घकालीन पूंजी अधिक मात्रा मे देने मे वे असमर्थ हैं, क्योंकि उनका संचित धन बहुधा अल्पकालीन होता है। बीमा कम्पनियो का योग भी पूंजी जुटाने मे बहुत कम है। देश मे पाश्चात्य देशों की भाँति विनियोग न्यास संस्थाओ का विकास नही हुआ। इनकी संख्या देश मे बहुत कम है।

केन्द्रीय व राज्यों की सरकारें—यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त से सरकारें उद्योगो को आर्थिक सहायता देने लगी थी, किन्तु यह सहायता बहुत कम थी। द्वितीय युद्ध के उपरान्त के वर्षों मे सरकारें विविध प्रकार की आर्थिक सहायता करने लगी हैं। वे ऋण, ऋण की प्रत्याभूति अथवा अनुदान के रूप मे उद्योगो को धन देकर पूंजी जुटाने में सहायक होती हैं। वार्षिक आय व्यय मे विकास व्यय के नाम से सहायतार्थ दिये जाने वाले धन को दिखाय जाता है।

विदेशी पूंजी—उन्नीसवी शताब्दी मे भारत के औद्योगीकरण का श्रेय मुख्यत विदेशी पूंजी को रहा। अब भी विदेशी पूंजी की सहायता से ही औद्योगीकरण की गति बढ़ाई जा रही है।

निजी धन—उद्योगपति स्वयं निजी बचत को भी नए उद्योगो के स्थापित करने अथवा स्थापित उद्योगो के प्रसार मे लगाते हैं। उद्योगो के लाभ का लगभग ४०% प्रतिवर्ष इस भाँति पूंजी के रूप मे लगा दिया जाता है।

(ख) **नई वित्तीय संस्थायें**—युद्धोत्तर काल मे देश में बढती हुई औद्योगिक पूंजी की माँग पूर्ति के लिए कई नई संस्थायें खुल गई हैं जो विविध प्रकार से पूंजी सचय करती हैं। इनमें से मुख्य संस्थायें : (१) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, (२) राज्य वित्त निगमे, (३) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम, (४) औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (५) पुनर्वित्त निगम, तथा (६) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम इत्यादि हैं।

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम—इसकी स्थापना जुलाई १९४८ मे हुई थी, इसकी अधिकृत पूंजी १० करोड और प्राप्त पूंजी ५ करोड रुपए है। इसका उद्देश्य उद्योगो को दीर्घकालीन और मध्यकालीन ऋण देना है। ये ऋण केवल निजी क्षेत्र मे काम करने वाली सार्वजनिक कम्पनियो अथवा सहकारी संस्थाओ को दिये जाते हैं। निजी क्षेत्र की व्यक्तिगत कम्पनियाँ, लघु उद्योग अथवा सहकारी उद्योग इसकी परिधि से बाहर हैं। यह निगम ऋण देती है, ऋण की गारण्टी देती है, ऋण पत्र लेती है तथा अशो व ऋण-पत्रो का अभिगोपन भी करती है। आस्थगित भुगतान की गारन्टी करके भी निगम पूंजीगत माल आयात करने मे सहायता करती है।

राज्य वित्त निगमे—राज्य वित्त निगम कानून १९५१ के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य में एक एक वित्त निगम स्थापित करने का निश्चय किया गया था। अब लगभग सभी राज्यो मे ऐसी वित्त निगम बन गई हैं। इनकी सेवा उस क्षेत्र को उपलब्ध है

जो कि भारतीय वित्त निगम के अधिकार क्षेत्र से बाहर है। इनका उद्देश्य मुख्यतः छोटे और मध्यम श्रेणी के उद्योगो की आर्थिक सहायता करना है। व्यक्तिगत कम्पनियो को भी इनकी सेवा उपलब्ध है। इनके ऋण की उच्चतम सीमा वही है जो भारतीय निगम की निम्नतम सीमा (अर्थात् १० लाख रु०) है।

इन पर राज्य को सरकारो का स्वामित्व है। इन्हे भी ऋण देने, ऋण की गारन्टी देने, ऋण-पत्र लेने, तथा अभिगोपन का अधिकार प्राप्त है। इनकी अधिकृत पूंजी २९ करोड रु० और प्राप्त पूंजी १३·३० करोड रु० है। प्रत्येक राज्य की सरकार इनकी पूंजी की सीमा निश्चित करती है। यह सीमा ५० लाख रु० और ५ करोड रु० के बीच मे होनी चाहिये।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम—यह अक्टूबर १९५४ मे बनी थी। यह एक निजी कम्पनी है जो भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत बनी है। इसकी अधिकृत पूंजी १ करोड और प्राप्त पूंजी १० लाख रुपये है जो पूर्णतः भारत सरकार ने दी है। इसे भारत सरकार अनुदान अथवा ऋण के रूप मे आवश्यक धन देती है। अंश व ऋण पत्र निर्गमित करके भी यह धन जुटा सकती है।

इसका उद्देश्य सरकारी और निजी दोनो क्षेत्रो मे औद्योगिक विकास करना है, मुख्यत यह सरकारी क्षेत्र मे आधारभूत एवं भारी उद्योगो का विकास करती है। किसी उद्योग के विकास के लिये आवश्यक धन भी देती है। पूंजीगत पदार्थ एवं मशीन-निर्माण की ओर यह विशेष ध्यान देती है।

औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम—यह भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत जनवरी १९५५ मे बनी थी। इसकी अधिकृत पूंजी २५ करोड रु० और प्राप्त पूंजी ५ करोड रु० है। यह नये उद्योगो के स्थापित करने और स्थापित उद्योगो के विस्तार तथा आधुनिकीकरण की ओर ध्यान देती है। यह अंश पूंजी लेकर, दीर्घकालीन व मध्यकालीन ऋण देकर, अंशो का अभिगोपन करके तथा ऋण की गारन्टी देकर उद्योगो की सहायता करती है। आवश्यकता पडने पर प्रबन्ध सम्बन्धी, तकनीकी तथा प्रशासनात्मक परामर्श भी प्रदान करती है।

पुनर्वित्त निगम—यह जून १९५८ मे भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत बनी थी। इसकी अधिकृत पूंजी २५ करोड रु० एवं प्राप्त पूंजी २·५ करोड रु० है। इसका मुख्य ध्येय मध्यम श्रेणी के उद्योगो को मध्यकालीन ऋण तीन से ७ वर्ष तक की अवधि के लिए देना है। निगम उद्योगपतियो को सीधे ऋण नही देती, वरन् सदस्य अनुसूचित बैंको को उनके साधन बढाने के लिये ऋण देती है और ये बैंक उद्योगो को ऋण देते हैं।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम—इसकी स्थापना फरवरी १९५५ मे हुई थी। यह लघु उद्योगों के विकास के लिये हर प्रकार के यत्न करती है। यह लघु उद्योगो के

लिये किराया-क्रय (hire-purchase) सुविधा द्वारा मशीन एवं उपकरण प्राप्त करने मे सहायता करती है।

इन नई वित्तीय संस्थाओ के बनने से देश मे पूंजी-निर्माण की गति बहुत कुछ बढ़ गई है और आगे भी बढ़ने की सम्भावना है। तो भी देश मे जिस तीव्र गति से औद्योगीकरण की विविध योजनायें उठाई गई हैं, उनकी बढ़ती हुई मांग की पूर्ति के लिये पर्याप्त पूंजी उपलब्ध नही होगी। बहुधा यह देखा गया है कि बडे और अच्छी साख वाले उद्योगो को आवश्यकतानुसार शीघ्र पूंजी प्राप्त हो जाती है किन्तु छोटे और मध्यम श्रेणी के उद्योगो को पूंजी शीघ्र उपलब्ध नही हो पाती। उनके लिये अभिगोपन सुविधायें भी सहज सुलभ नही। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि नई वित्त सस्थाओ के साधनो का विस्तार होना चाहिये और विशेषत उनकी क्रिया-विधि सम्बन्धी रुकावटो को कम से कम करके उनको अधिक उपयोगी बनाना चाहिए। साथ ही साथ और इसी प्रकार की वित्तीय सस्थायें स्थापित होनी चाहिये। मुख्य कठिनाई दीर्घकालीन पूंजी के प्राप्त करने मे उपस्थित होती है। यह कठिनाई नए उद्योगो की प्रारम्भिक पूंजी जुटाने मे विशेष होती है। अनेक उद्योग प्रधान पाश्चात्य देशो म औद्योगिक बैंक अथवा अन्य ऐसी विशेष सस्थायें हैं जो नए उद्योगो की पूंजी सम्बन्धी कठिनाई को दूर करती हैं। कई देशो मे व्यापिज्य बैंक भी औद्योगिक विकास म विविध सहायता देते हैं। अत यह सुझाव दिया जाता है कि जापान अथवा जर्मनी की भांति भारतीय बैंक भी औद्योगिक विकास मे सहायता दें। भारत मे औद्योगिक बैंक स्थापित करने के प्रयत्न कई बार विफल हो चुके हैं। देश की वर्तमान परिस्थितियो म वाणिज्य बैंको को अपना रवैया बदलने की बात पर विशेष जोर दिया जाता है। कुछ लोगो का मत है कि भारतीय वाणिज्य बैंक बिना किसी जोखिम के मध्य-कालीन ऋण दे सकते हैं, क्योकि बहुधा वे व्यवहार मे अल्पकालीन ऋणों की अवधि बढाते रहते हैं। केवल उनको कानूनी रूप देने भर की बात है। विदेशो की भांति किराया-क्रय व्यवस्था द्वारा भी बैंक उद्योगो को सहायता पहुँचा सकते हैं।

"सामाजिक सुरक्षा कोई भार नही है, वरन् बुद्धिमत्तापूर्ण विनियोग है, जो जो अन्ततोगत्वा उत्तम लाभांश देती है।"

—वी० वी० गिरी

१४—सामाजिक सुरक्षा

रूप-रेखा

१. अर्थ
२. उद्देश्य
३. प्राचीन रूप
४. आधुनिक स्वरूप
५. पाश्चात्य देशों में सामाजिक सुरक्षा
६. भारत में आवश्यकता
७. भारत मे सामाजिक सुरक्षा के यत्न
८. भारत में वर्तमान व्यवस्था
९. आलोचना एवं सुझाव।

अर्थ

सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जिसे समाज किसी उपयुक्त संगठन द्वारा अपने सदस्यो के निमित्त जीवन की ऐसी जोखिमो के विरुद्ध प्रदान करता है जिनसे वे सदैव भयभीत रहते हैं। ये जोखिमें आकस्मिक होती हैं और कम आय एवं न्यून साधनो वाले व्यक्ति बहुधा निजी साधनो एवं दूरदर्शिता से इनके विरुद्ध कोई प्रभावशाली व्यवस्था नही कर सकते। ये जोखिमें, रोग, प्रसूति, अंग-भंग, अपाहिजपन, बेकारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था, मृत्यु इत्यादि हैं। ये जोखिमें व्यक्ति के आय उपार्जन मे बाधा उपस्थित करती हैं और उसके कार्यकौशल को कम करती हैं। अपने आधुनिकतम अर्थ मे सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत सामाजिक सहायता और सामाजिक बीमा दोनो का समावेश होता है। सामाजिक सहायता वह है जिसमे लाभ पाने वाले व्यक्तियो को कुछ चन्दा नही देना पड़ता, सारा व्यय सरकार सहन करती है। इसके विपरीत सामाजिक बीमा

वह है जिसमें लाभ पाने वाले को कुछ चन्दे के रूप में देना पड़ता है। सामाजिक सहायता पूर्णतः समाज का उत्तरदायित्व है, किन्तु सामाजिक बीमा सम्मिलित सहायता का एक ढंग है।

उद्देश्य

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में परावलम्बन के दो अवसर अवश्य आते हैं: एक बाल्यकाल और दूसरा वृद्धावस्था। युवावस्था में भी मनुष्य को जीवन की आकस्मिक जोखिमों के अवसर पर परावलम्बी होना पड़ता है। बाल्यावस्था का प्रबन्ध प्रकृति करती है, किन्तु अन्य अवसरों पर प्रकृति इतनी उदारता नहीं दिखाती। इन्हीं अनुदार अवसरों पर सामाजिक सुरक्षा का वरदान काम देता है। इसका मुख्य उद्देश्य बेकारी, बीमारी, अंग-भंग इत्यादि संकटों को पार करना है। रोग के अवसर पर उसके परिवार के भरण-पोषण का प्रबन्ध करना तथा सभी अवसरों पर कार्यकर्त्ता के जीवन स्तर की स्थिरता बनाये रखना एवं उसे न्यूनतम सुख-सुविधाएँ प्रदान करना इसके श्लाघनीय क्षेत्र हैं।

प्राचीन रूप

समाज के दुर्बल अंगों के प्रति सदैव से उदारता का सिद्धान्त अपनाया जाता रहा है। संकट काल में बहुधा लोग मितव्ययिता, बचत एवं ऋण द्वारा काम चलाते रहे हैं, किन्तु इनकी सेवा अत्यन्त सीमित होती है। भारत में जाति व्यवस्था एवं संयुक्त परिवार के द्वारा संकट काल को पार करना सहज सम्भव था। एक सदस्य के बीमार अथवा बेकार होने पर परिवार के अन्य सदस्यों पर उसके भरण-पोषण का पूरा भार स्वतः ही आ जाता है। जाति-प्रथा के अन्तर्गत भी अनेक सामाजिक सहायता सम्थायें जाति-बिरादरी की ओर से खोली जाती हैं। यूरोप के देशों में गिरजाघरों और पुजारियों से अनेक दानशील संस्थाओं को बढ़ावा दिया जाता रहा। एशियाई देशों में मन्दिर, मसजिद, अनाथालय, आश्रम इत्यादि खोले जाने का चलन है। यह व्यवस्था न तो आधुनिक जीवन की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त ही है और न आज के वातावरण में उचित ही समझी जाती है। दान पर निर्भरता आज कल मान-हानि अथवा आत्म-गौरव के विरुद्ध समझी जाती है।

आधुनिक स्वरूप

आधुनिक युग में राजनीतिक जाग्रति और लोकतन्त्रीय संस्थाओं के विकास के साथ-साथ लोगों में अपने नागरिक अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति स्वाभाविक चेतना उत्पन्न हुई। लोगों में यह धारणा बढ़ती चली गई कि राज्य ही वस्तुतः समाज के नैतिक एवं आर्थिक अधिकारों का संरक्षक है। असंगठित श्रम को शोषण से बचाना, निस्सहाय एवं निर्धनों की रक्षा करना और आर्थिक संगठन को सुदृढ़ रखना राज्य का एक न्यायोचित कर्तव्य है। अतएव आधुनिक युग में प्रत्येक नागरिक को उसके जीवन और उसके कार्य से सम्बन्धित सभी प्रकार की सामाजिक सेवाएँ तथा सुख-सुविधाएँ प्रदान करना राज्य का एक अनिवार्य धर्म माना जाने लगा है।

राज्य के इस उत्तरदायित्व को निभाने के निमित्त दो महत्वपूर्ण संस्थाओ का आविर्भाव हुआ है —सामाजिक सहायता और सामाजिक बीमा। इन दोनो ने मिल कर एक व्यापक, संतुलित तथा एकीकृत सामाजिक सुरक्षा की नींव डाल दी है। सामाजिक सहायता के मुख्य रूप विविध प्रकार की पेशनें हैं जो बच्चो, अपाहिजो, वृद्धो, माताओ व अन्य आश्रितो के भरण पोषण, बेकारी सम्बन्धी सहायता, अपाहिजों व विस्थापितो के पुनरसस्थापन के लिये दी जाती हैं। सामाजिक बीमा के अन्तर्गत बीमारी, प्रसूति, अंग-भंग, वृद्धावस्था, बेकारी इत्यादि के समय के लिये व्यवस्था की जाती है। कुछ पाश्चात्य देशो मे जन्म से मृत्यु तक की सभी जोखिमें सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत आती हैं।

पाश्चात्य देशो मे सामाजिक सुरक्षा

पाश्चात्य देशो मे १६०१ का ब्रिटेन का गरीब रक्षा कानून (Poor Relief Act) सामाजिक सुरक्षा का प्रथम आधुनिक रूप माना जा सकता है। जर्मनी मे वस्तुतः सामाजिक सुरक्षा के सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ जहाँ १८८१ मे विलियम प्रथम ने सभी औद्योगिक श्रमिको के लिए अनिवार्य सामाजिक बीमा की आवश्यकता पर जोर दिया। इस सम्बन्ध मे १८८३ और १८८९ के बीच कई कानून भी बने। तदुपरान्त ब्रिटेन, कनाडा, उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका मे भी इस सिद्धान्त को मान्यता दी गई। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन। (I L O) ने १९१९ मे प्रसूति सहाय्य, १९२१, १९२५ व १९३४ मे कर्मकार प्रतिकर, १९२७ व १९३६ मे रोग बीमा, १९३३ व १९३४ मे अंगभग और वृद्धावस्था तथा १९३४ मे बेकारी बीमा से सम्बन्धित प्रस्ताव स्वीकार किए। वस्तुतः सामाजिक सुरक्षा शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के १९३५ के सामाजिक सुरक्षा कानून मे किया गया जिसके अन्तर्गत बेकारी, बीमारी तथा वृद्धावस्था के विरुद्ध बीमा सम्बन्धी योजनाओ के प्रबन्ध के लिए एक सामाजिक सुरक्षा बोर्ड स्थापित किया गया। १९३८ मे न्यूज़ीलैंड की आय सुरक्षा योजना मे, १९४१ मे अटलाटिक घोषणा म तथा १९४२ मे ब्रिटेन की बीवरिज रिपोर्ट मे इस शब्द का प्रयोग किया गया। युद्धोत्तर काल मे तो यह शब्द सभी देशो मे लोकप्रिय हो गया और अब इसका क्षेत्र विश्वव्यापी है।

भारत में आवश्यकता

भारत की अधिकाश जनता कंगाल है और श्रमिक वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय है। ऐसे साधनहीन श्रमिक वर्ग के लिए सामाजिक सुरक्षा आवश्यक है। हमारे श्रमिक वर्ग की अशिक्षा, अज्ञान, रूढिवाद एवं अमितव्ययता इसे और भी अनिवार्य बना देती है। देश के औद्योगीकरण की अनेक योजनाओ की सफलता औद्योगिक श्रमिकों के कार्यकौशल पर निर्भर है और श्रमिक वर्ग का कार्यकौशल सामाजिक सुरक्षा द्वारा बढाया जा सकता है। भारतीय संविधान ने भी बेकारी, वृद्धावस्था, रोग तथा अंगभग के अवसरो के लिए श्रमिक वर्ग के लिए सरकारी सहायता को मान्यता प्रदान की है।

भारत में सामाजिक सुरक्षा के यत्न

श्रमिक वर्ग की सामाजिक सुरक्षा की ओर प्रथम सीमित प्रयत्न भारत में कर्मकार प्रतिकर कानून १९२३ मे बना कर किया गया जिसके अनुसार कर्मकार का अंगभंग हो जाने पर नियोजक (employer) पर उसे प्रतिकर देने का उत्तरदायित्व डाला गया। १९२७ मे भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के सुझावो पर विचार किया, किन्तु इन्हे कार्यान्वित न किया जा सका। १९२६ और ११४८ के बीच कई राज्यो ने प्रसूति हितकारी कानून बनाये जिनमे से प्रथम कानून १९२६ मे बम्बई मे बना। द्वितीय युद्ध काल मे इस ओर भारत सरकार की विशेष रुचि जाग्रत हुई और १९४०, १९४१ तथा १९४२ मे किये गये श्रम-मन्त्रियो के सम्मेलनो मे इस प्रश्न पर सविस्तार विचार किया गया तथा एक योजना भी बनाई गई। इस योजना पर विचार करने के लिये एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया गया। उसने स्वास्थ्य बीमा की १९४४ मे एक योजना बनाई जिसे कई वर्ष के विचार-विनिमय के उपरान्त कर्मचारी राजकीय बीमा कानून १९४८ के रूप मे देश मे लागू किया गया। वस्तुत: यही से भारत मे सामाजिक सुरक्षा का वास्तविक इतिहास प्रारम्भ होता है। कर्मचारी भविष्य निधि तथा बोनस योजना कानून १९४८, कर्मचारी भविष्य निधि कानू १९५२ तथा औद्योगिक विवाद (संशोधन) कानून १९५४ इत्यादि भी इसी ओर किए गए प्रयत्न हैं। १९५७ मे भारत सरकार ने मंनन समिति बिठाई जिसने दिसम्बर १९५८ मे देश की सुरक्षा व्यवस्था के विस्तार एवं सुधार के अनेक सुझाव दिए। अब भारत सरकार अन्य अग्रगामी देशो की भांति ही सामाजिक सुरक्षा की एक व्यापक योजना बनाने का विचार कर रही है।

भारत की वर्तमान सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था

(क) कर्मकार प्रतिकर कानून—यह कानून १९२३ मे बना था। तबसे उसमे १९३३ और १९५९ मे कई महत्वपूर्ण संशोधन किए जा चुके हैं। यह कानून कर्मकार के काम के समय हताहत हो जाने, उपजीविका से उत्पन्न होने वाली बीमारियो अथवा ऐसे हताहत होने व ऐसी बीमारियो से मृत्यु होने के लिए प्रतिकर की व्यवस्था करता है। यह कानून उन सब कर्मकारो पर लागू होता है जो ४०० रु० प्रतिमास पारिश्रमिक पाते हैं।

(ख) कर्मचारी राजकीय बीमा कानून—यह कानून १९४८ मे बना था। यह सभी वर्ष भर काम करने वाले ऐसे कारखानो पर लागू होता है जिनमे शक्ति का प्रयोग होता है तथा जहाँ २० अथवा अधिक कर्मचारी काम करते हैं। इसका लाभ उन सब श्रमिकों एवं लिपिक कर्मचारी वर्ग को मिलता है जिनका मासिक पारिश्रमिक ४०० रु० तक है। इस योजना का प्रशासन कर्मचारी राजकीय बीमा निगम करती है जिसके सभापति भारत सरकार के श्रम मंत्री हैं और जिसमे केन्द्रीय व राज्यो की सरकारो, उद्योगपति, कर्मचारी, चिकित्सा विभाग तथा संसद इत्यादि के प्रति-

निधि है। निगम का काम चलाने के लिए एक कर्मचारी राजकीय बीमा निधि स्थापित की गई है जिसमे उद्योगपति, कर्मचारी, केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार के अनुदान से धन एकत्रित किया जाता है। बीमा किए गये कर्मचारी अथवा उसके आश्रितो को पांच प्रकार के लाभ प्राप्त हैं :—

(१) **बीमारी लाभ**—कार्यकर्त्ता को दैनिक मजदूरी के ½ के बराबर डाक्टर के प्रमाण-पत्र के आधार पर वर्ष भर मे अधिक से अधिक ५६ दिन तक रुपया दिया जाता है।

(२) **चिकित्सा लाभ**—बीमारी के दिनो मे अस्पताल मे अथवा घर पर मुफ्त डाक्टरी सेवा उपलब्ध होती है।

(३) **अंगभंग लाभ**—काम के घण्टों मे अस्थायी, स्थायी, आंशिक अथवा पूर्णत: अंगभंग होने अथवा रोग लगने के बदले दैनिक मजदूरी के ½ के बराबर प्रतिकर दिया जाता है।

(४) **आश्रित लाभ**—कर्मचारी के कार्यकाल मे हताहत होने से मृत्यु हो जाने पर आश्रितो को निश्चित दर से प्रतिकर दिया जाता है।

(५) **प्रसूति लाभ**—प्रसूता को दस सप्ताह के लिए बीमारी की दर से नक़द धन देने की व्यवस्था है।

(ग) **कर्मचारी भविष्य निधि कानून १९५२**—प्रारम्भ मे यह ६ बड़े उद्योगो पर लागू किया गया था। अब ३३ और उद्योग इसके अन्तर्गत ले लिए गए हैं जिनमे बगीचा, खनिज, समाचार-पत्र, दियासलाई, मोटर परिवहन, बिस्कुट बनाना इत्यादि मुख्य हैं। जो उद्योग कम से कम ३ वर्ष पुराने हैं और जिनमे कर्मचारियो की संख्या ५० अथवा अधिक है उन पर यह कानून लागू होता है। ५०० रु० मासिक पाने वाले प्रत्येक कर्मचारी को ६¼% चन्दा देना पड़ता है तथा उतना ही धन उद्योगपति देता है।

(घ) **कोयला खान भविष्य निधि योजना**—यह योजना आन्ध्र, असम, बिहार, बम्बई, मध्य-प्रदेश, उडीसा, राजस्थान तथा प० बंगाल की कोयले की खानो पर लागू होती है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक कर्मचारी को अपने पारिश्रमिक का ६¼% निधि मे देना पडता है और उतना ही धन उद्योगपति देता है।

(ङ) **प्रसूति लाभ**—लगभग सभी राज्यो मे प्रसूति साहाय्य सम्बन्धी कानून चालू हैं। कुछ राज्यो मे ये कानून केवल नियन्त्रित उद्योगो पर लागू होते हैं तथा कुछ में सभी नियमित चलने वाले उद्योगो पर। खान प्रसूति लाभ कानून १९४१, कर्मचारी राजकीय बीमा कानून १९४८ तथा बगीचा उद्योग श्रम कानून १९५१, तीन केन्द्रीय कानून भी प्रसूति साहाय्य सम्बन्धी नियम लागू करते हैं। देश भर मे प्रसूति रक्षा सम्बन्धी समानता लाने के विचार से एक केन्द्रीय कानून पर विचार किया जा रहा है।

आलोचना एवं सुझाव

देश में वर्तमान सामाजिक सुरक्षा सुविधाएँ अत्यन्त सीमित हैं। सारी जनसंख्या की तो बात ही कौन कहे केवल सार औद्योगिक श्रमिक वर्ग को भी ये सुविधाएँ उपलब्ध नहीं है। जो कुछ लाभ दिए जाते हैं। वे भी जीवन और जगत के कुछ ही जोखिमों तक सीमित हैं। केवल रोग, प्रसूति, अंगभंग, मृत्यु, वृद्धावस्था, बेकारी इत्यादि से आंशिक सुरक्षा दी जाती है। सहायता की अवधि बहुधा अपर्याप्त होती है। उद्योगपति और श्रमिक दोनों ही पर इसका भार अधिक है। सुरक्षा योजनाओं का प्रबन्ध भी सन्तोषजनक नहीं है।

मेनन समिति ने भारत की सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के सुधार के लिए १९५८ में महत्वपूर्ण सुझाव दिए थे जिन पर विचार हो रहा है और उन सुझावों के अनुसार देश के लिए एक सर्वाङ्गपूर्ण योजना बनाने के यत्न हो रहे हैं। समिति के विचार में देश की अभी स्थिति उतनी अच्छी नहीं है कि हम पाश्चात्य देशों के स्तर पर देश की सम्पूर्ण जनसंख्या के लिए सभी प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था कर सकें और न अभी कृषक वर्ग के लिए कोई योजना कार्यान्वित करने की स्थिति में देश है, तो भी समिति ने वर्तमान व्यवस्था में सुधार के निम्नांकित सुझाव दिए है :—

(१) हमारा उद्देश्य वर्तमान व्यवस्था के सुधार का होना चाहिए और विशेषत. हमें प्रशासन कार्य विधि को सरल करने की ओर ध्यान देना चाहिए।

(२) सभी योजनाओं का प्रबन्ध एक ही संस्था के अधिकार में होना चाहिए।

(३) उद्योगपतियों के सभी प्रकार के अनुदान एक ही भुगतान में लेने की व्यवस्था होनी चाहिये।

(४) कर्मचारी राजकीय बीमा के अन्तर्गत बीमारी की अवधि १३ सप्ताह से बढ़ा कर २६ या २७ सप्ताह कर देनी चाहिए और प्रसूति-साहाय्य की दर में वृद्धि होनी चाहिए।

(५) चिकित्सा स्तर ऊँचा उठाने की बड़ी गुंजाइश है। चिकित्सा सुविधाएँ कर्मचारियों के परिवार को भी उपलब्ध होनी चाहिएँ।

(६) भविष्य निधियों को वैधानिक पेंशन योजनाओं में परिवर्तित कर देना चाहिए।

(७) बेकारी बीमा की एक स्थायी योजना बनाई जानी चाहिए।

(८) 'निम्नतम मजदूरी' तुरन्त लागू कर देनी चाहिए।

परिभाषा

उद्योगपतियो, सरकार अथवा अन्य संस्थाओ द्वारा जो कार्य कर्मकारो के बौद्धिक शारीरिक, नैतिक तथा आर्थिक लाभ के लिए किये जाते हैं उन्हे श्रम-कल्याण कहते हैं। ये कार्य सरकारी नियम व कानून की परिधि के बाहर होते हैं तथा उस समझौते की सीमा के बाहर किये जाते हैं जो कि श्रमिक ने अपने स्वामी के साथ किया हो। चिकित्सा एव शिक्षा सुविधाएं, पोषण (जलपान गृह समेत), विश्राम एव मनोरजन सुविधाएं, सहकारी समितियाँ, दिवस धाय घर, शिशु गृह, स्वच्छ मकान, वेतन युक्त छुट्टियाँ सामाजिक बीमा बीमारी व प्रसूति योजनाये, भविष्य निधि, अनुग्रह दान (Gratuity) तथा पेंशन इत्यादि श्रम कल्याण के अन्तर्गत आती हैं।

श्रम कल्याण कार्यों मे सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उद्योगपति उसे कानून, नियम अथवा समझौते द्वारा करने के लिये बाध्य नहीं होता, केवल वह उसे अपनी इच्छा से श्रम की भलाई के लिये करता है, यद्यपि सरकारी विधानो और कल्याण कार्यों मे घनिष्ट सम्बन्ध होता है। सरकारी विधान श्रम कल्याण के एक निम्नतम स्तर के सूचक होते हैं किन्तु प्रगतिशील और महत्वाकांक्षी उद्योगपति उससे कही ऊँचा स्तर ले जाते हैं। कभी कभी तो अच्छे उद्योगपतियो द्वारा निर्धारित स्तर प्राप्त करने के लिये ही कानून बनाये जाते हैं। इस भाँति कानून और श्रम कल्याण एक दूसरे के सहायक एव पूरक हैं विरोधी नही।

श्रम कल्याण का महत्व एव उद्देश्य

शिक्षा सुविधाएं, खेल-कूद, मनोरजन इत्यादि श्रम कल्याण कार्य कारखाने के भावनात्मक वातावरण मे सुधार करके औद्योगिक शान्ति स्थापित करते हैं तथा उद्योगपति के प्रति सद्भाव जाग्रत करते हैं। दूसरे, अच्छे मकान, सहकारी समितियाँ, जलपान गृह रोग व प्रसूति सहायता, भविष्य निधि, अनुग्रह दान, पेंशन इत्यादि कार्य कर्मचारी म उद्योग के प्रति अपनत्व की भावना उत्पन्न करते हैं जिससे श्रम अधिक स्थायी और कार्यकुशल हो जाता है। तीसरे, जलपान गृहो मे उत्तम एव पोषक पदार्थों की व्यवस्था के कारण श्रम का स्वास्थ्य सुधार होता है। मनोरजन के साधनो से अनेक कुरीतियाँ दूर होती हैं। चिकित्सा एव प्रसूति सहायता से कर्मचारी एव उसके परिवार के लोगों का स्वास्थ्य सुधरता है तथा प्रसूतिकाओं व बच्चों की मृत्यु सख्या कम होती है। शिक्षा सुविधाओ से कर्मचारियो की बुद्धि का विकास होता है और उनकी उत्पादन शक्ति बढ़ती है। इस भाति श्रम कल्याण का मुख्य उद्देश्य श्रमिक वर्ग के जीवन को स्वस्थ एव सुखमय बनाना है। यह निर्विवाद है कि सभी कार्य क्षेत्रो मे उच्चकोटि का कार्यकौशल वही कर्मचारी दिखा सकते हैं जिनका स्वास्थ्य उत्तम है तथा जो सभी झझटो स मुक्त हैं और जो उपयुक्त शिक्षण पा चुके हैं जो अच्छे मकानो मे रहते हैं एव जिन्हे उपयुक्त भोजन और वस्त्र प्राप्त हैं।

बगीचा उद्योग श्रम कानून १६५१ के अन्तर्गत आने वाले सभी कारखानो के लिये जलपान गृह, स्वच्छ स्थान, विश्राम गृह, धुलाई व्यवस्था, चिकित्सा सुविधाये और अन्य सभी प्रकार की सुख-सुविधाये दी जाती है। श्रमिक वर्ग की गरीबी पर तरस खाकर प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे इस वर्ग के लिये मकान बनाने की एक योजना चालू की थी जिसे उत्तरोत्तर आगे बढाया गया है।

श्रम कल्याण एव राज्य सरकारें—सन् १६३७-३६ की अवधि मे राज्यो म लोकप्रिय मत्रित्व स्थापित होने पर राज्य-सरकारे श्रम कल्याण मे रुचि लेने लगी थी। इस कार्य को कालान्तर मे भी जारी रखा गया। द्वितीय युद्ध काल मे बम्बई और उत्तर प्रदेश सरकारो ने इस कार्य मे सीधा हाथ डालना प्रारम्भ किया तथा श्रम कल्याण कार्य किए। बगाल भी उनकी देखा-देखी श्रम कल्याण की ओर झुक गया। अब लगभग सभी राज्य सरकारें श्रम कल्याण केन्द्र चला रही हैं। इनका उद्देश्य कर्मचारियो के मनोरंजन, शिक्षा तथा उनकी व्यावसायिक तथा सास्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना है।

बम्बई राज्य म सन् १६३६ मे आदर्श श्रम कल्याण केन्द्र खोले गए थे। इनकी संख्या धीरे-धीरे बढती चली गई। सन् १६५३ मे बम्बई सरकार ने कल्याण सम्बन्धी कार्यों के लिए एक अलग श्रम कल्याण बोर्ड स्थापित कर दिया तथा एक श्रम कल्याण निधि की भी रचना की।

उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् १६३७ मे कानपुर के श्रमिको के साथ सम्पर्क स्थापित करने के निमित्त एक श्रम विभाग खोला था तथा एक श्रम अधिकारी नियुक्त किया था। युद्ध काल मे एक अलग श्रम कल्याण विभाग खोल दिया जो अब समाज कल्याण मत्री के अधिकार मे चला गया है। इस विभाग का कार्य नए श्रम कल्याण केन्द्र खोलना और चालू केन्द्रो की देख-भाल करते रहना है। दिसम्बर १६५७ से उत्तर प्रदेश सरकार ने एक वृद्धावस्था पेंशन योजना चालू कर दी है जिसके अन्तर्गत ७० वर्ष से अधिक आयु के ऐसे लोगो को पेंशन दी जाती है जिनकी आय का कोई साधन नही है और न जिनके पालन-पोषण के लिए कोई उनका सम्बन्धी ही है।

बगाल सरकार १६४० तक निजी संस्थाओ को श्रम कल्याण के लिए आर्थिक सहायता देती रही, किन्तु १६४० से श्रम कल्याण केन्द्र खोलने प्रारम्भ कर दिए। अब इनकी सख्या बहुत बढ गई है। बिहार, मध्य प्रदेश, मद्रास, पजाब, मैसूर, राजस्थान राज्यो मे भी अनेक श्रम कल्याण केन्द्र हैं।

स्थानीय संस्थाओं द्वारा—नगरपालिकाएं तथा महानगरपालिकाएं नगर के सभी निवासियो के कल्याण की ओर ध्यान देती हैं। उद्योग प्रधान नगरो म श्रम कल्याण के लिए विशेष व्यवस्था की जाती है। बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर इत्यादि उद्योग प्रधान नगरो की स्थानीय संस्थाओ ने शिक्षा, चिकित्सा, मकान, मनोरजन, खेल-कूद, शिशु कल्याण केन्द्र इत्यादि की व्यवस्था की है।

उद्योगपतियों द्वारा श्रम कल्याण—गत वर्षों मे श्रम कल्याण कार्य की ओर उद्योगपतियो ने विशेष रुचि एव उत्साह दिखाया है। सूतीवस्त्र, जूट, ऊनी वस्त्र, इ जिनियरी, सिमेंट, चीनी तथा कागज उद्योगो के इस ओर प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय है। लगभग सभी सूती मिलो ने योग्य डाक्टरों के अधीन औषधालय खोल दिए हैं, कुछ मिलो म भली भाँति सुसज्जित अस्पताल भी हैं। अनेक सूती मिलो ने प्रसूतिगृह व शिशुगृह भी खाले है तथा खेल-कूद, सहकारी समितियाँ, स्कूल, भविष्य निधि, अनुग्रह दान इत्यादि की योजनायें चलाई हैं। भारतीय जूट मिल सस्था ने कई श्रम कल्याण केन्द्र खोल दिए हैं जहाँ हर प्रकार की सुविधाए उपलब्ध है। बडी-बडी ऊनी मिले भी संगठित रूप से श्रम कल्याण कार्य करती है। जिन मिलो मे एक हजार से अधिक कर्मचारी काम करते हैं ऐसी सभी इन्जिनियरी मिलो ने स्कूल और औषधालय खोले हैं, तथा अनेक इन्जीनियरी कारखानो मे जलपान गृह तथा मनोरंजन केन्द्र भी चालू हैं। टाटा लोहा-इस्पात कम्पनी ने श्रम कल्याण की सगठित ढग से विशेष व्यवस्था की है।

श्रम संघ और श्रम कल्याण—बुनाई उद्योग श्रम सघ, अहमदाबाद, रेल कर्मचारी सघ, तथा मजदूर सभा, कानपुर को छोडकर अन्य श्रम सघो ने श्रम कल्याण कार्य मे विशेष रुचि और उत्साह नही दिखाया। अहमदाबाद बुनाई उद्योग श्रम सघ अपनी आय का ७०% श्रम कल्याण कार्यों पर खर्च करता है। रेल कर्मचारी संघ ने अनेक सहकारी समितियाँ एवं सामाजिक बीमा योजनाए चलाई हैं। कानपुर की मजदूर सभा ने कई वाचनालय, पुस्तकालय, तथा औषधालय खोले हैं।

आलोचना एवं सुझाव

भारत मे यद्यपि औद्योगीकरण की गति के साथ-साथ श्रम कल्याण कार्य की भी प्रगति होती जा रही है, किन्तु ये कार्य अभी सन्तोषजनक नही हैं। न तो सभी उद्योगो मे और न एक उद्योग सभी के कारखानो मे श्रम कल्याण व्यवस्था है। जहाँ-जहाँ श्रम कल्याण कार्य चालू किए गए हैं उनका कार्य क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। अनेक छोटे उद्योग और छोटी इकाइयाँ ऐसी हैं जहाँ पीने के पानी तक की सन्तोषजनक व्यवस्था नही है। जहाँ कानून के अन्तर्गत कोई श्रम कल्याण कार्य अनिवार्य कर दिया गया है वहाँ केवल वैधानिक आवश्यकता की पूर्ति की जाती है। वस्तुतः उसकी भारी उपेक्षा की जाती है। बहुधा हमारे उद्योगपति इस कार्य को श्रम संघ आन्दोलन के शान्त करने का एक साधन मानते हैं तथा श्रमिक वर्ग भी इन कार्यो को सन्देह की दृष्टि से देखता है और उनसे पूरा लाभ नही उठाता। श्रम कल्याण कार्यों का वैज्ञानिक महत्व, उत्पादन से घनिष्ट सम्बन्ध एवं औद्योगिक कौशल सम्बन्धी चमत्कार अभी हमारे देशवासियों ने पूरी तरह नही समझा। इस ओर हमे शीघ्र ध्यान देना चाहिए तथा श्रम कल्याण कार्य को वैज्ञानिक ढंग से आयोजित करना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नांकित सुझाव उपस्थित किए जाते हैं :—

(१) १९४८ के सशोधनो के अनुसार कारखाना कानून को अपने पूर्ण रूप मे लागू करना चाहिए। इसके लिए निरीक्षण सेवा के विस्तार की आवश्यकता है।

(२) कारखाना कानून के सभी नियमो को लागू करने के लिए त्रिदलीय समझौते किए जायें तथा सरकार द्वारा इन समझौतो के पुनर्वलोकन के लिए आवश्यक सगठन बनाना चाहिए।

(३) किसी औद्योगिक केन्द्रवर्ती स्थान पर श्रम कल्याण, श्रम सुरक्षा एव श्रमिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित एक सग्रहालय खोलना चाहिए।

(४) श्रम कल्याण अधिकारी उन्ही लोगो को नियुक्त करना चाहिए जिन्हे इस सम्बन्ध म शिक्षण और अनुभव प्राप्त हो।

(५) केन्द्रीय एव राज्य सरकारो को श्रम कल्याण केन्द्रो और तत्सबधी शिक्षण सस्थाओ की सख्या बढानी चाहिए।

(६) श्रम कल्याण कार्यों म श्रम का अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

(७) कोयला और अभ्रक उद्योगो की भाति अन्य महत्वपूर्ण उद्योगो के लिए भी श्रम कल्याण निधियाँ बननी चाहिये।

(८) श्रमकल्याण कार्य केवल आर्थिक लाभ एवस्वार्थ के दृष्टिकोण से नही चलाना चाहिए वरन् इसके ऊँचे उद्देश्यो एव मनोवैज्ञानिक पहलुओ को भी समझना चाहिए।

(९) उद्योगपति, श्रम सघ तथा सरकार सभी को मिलकर उत्साह के साथ इस कार्य मे सहयोग करना चाहिए।

"आज की अर्थ-व्यवस्था के युग में औद्योगिक क्षेत्र में मालिक-मजदूर का सम्बन्ध न होकर हिस्सेदार व सहकारी का सम्बन्ध होना चाहिए, तभी हर आर्थिक समस्या को शान्तिपूर्वक सुलझाया जा सकता है।"

—पं० जवाहरलाल नेहरू

१६—औद्योगिक प्रबन्ध में श्रम का भाग

रूप-रेखा

१. प्रस्तावना
२. आशय
३. विचारधारा का प्रादुर्भाव
४. महत्व एवं लाभ
५. भारत में विचारधारा का विकास
६. पाश्चात्य देशों के प्रयत्न
७. भारतीय अनुभव।

प्रस्तावना

आधुनिक युग में श्रम केवल एक निर्जीव पदार्थ नहीं, वरन् एक चेतन प्राणी माना जाता है जो अपने कर्तव्यों को निभाने के साथ-साथ आत्म-गौरव, आत्म-सम्मान तथा अपने अधिकारों का भी महत्वाकांक्षी है। इस सिद्धान्त को आज सभी स्वीकार करते हैं और विश्व भर में श्रम के प्रति न्यायोचित नीति अपनाई जा रही है। सभी देशों में श्रम के आर्थिक एवं सामाजिक उत्थान के और इस भाँति उत्पादन बढ़ाने और औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के यत्न किए जा रहे हैं। श्रम संघर्ष कम करने के अनेक यत्नों में श्रम को औद्योगिक प्रबन्ध में भाग देना भी एक महत्वपूर्ण कदम है। हमारे देश में समाजवादी समाज के आदर्श के साथ 'औद्योगिक लोकतंत्र' का आदर्श भी जोड़ा जाने लगा है और इस चर्चा का मुख्य केन्द्र बिंदु श्रम को औद्योगिक प्रबन्ध में भाग देना है।

आशय

श्रम के भाग से तात्पर्य उद्योग के प्रबन्ध एवं नीति निर्धारण मे श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधियो के सक्रिय सहयोग से है। उद्योग का प्रबन्ध-प्रशासन एवं नीति-निर्माण केवल उद्योगपति का ही एकाधिकार नही, वरन् उसमे श्रम को भी अधिकार मिलना आवश्यक है। यह सहयोग दो प्रकार से प्राप्त किया जाता है। इसका प्रारम्भिक ढंग श्रम और उद्योगपति के बीच विचार-विनिमय है। श्रम और उद्योगपतियो के प्रतिनिधियो के सम्मेलन होते रहते हैं अथवा सयुक्त समितियाँ होती हैं जो नीति सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार करती रहती है। इस सहयोग का दूसरा ढग श्रम को उद्योग के स्वामित्व मे भागीदार बनाना है। श्रमिक वर्ग साझेदार की हैसियत से अपने प्रतिनिधि प्रबन्ध समिति मे भेजता है।

विचारधारा का प्रादुर्भाव

प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त इस विचारधारा का आविर्भाव हुआ। लोकतन्त्रीयवाद को इसका जन्मदाता माना जा सकता है। अन्तर युद्ध काल मे लोकतन्त्रीय शासन की विशेष चर्चा और प्रचार हुआ। आर्थिक राष्ट्रीयता के युग के समारम्भ के साथ औद्योगिक लोकतन्त्र की भी चर्चा चलने लगी। इस विचारधारा से श्रम और श्रम संघ भी प्रभावित हुए। श्रम सघो ने यह माँग की कि जो समस्याये श्रम से सम्बन्धित हैं उनके सुलझाने मे श्रम का सक्रिय हाथ होना चाहिए। उदार राजनीति, वयस्क मताधिकार, सार्वभौमिक शिक्षा इत्यादि से इस माँग को बल प्राप्त हुआ। इस विचारधारा को सक्रिय रूप देने का प्रथम श्रेय १९१६ की ब्रिटेन की ह्विटले (Whitley) समिति को है जिसने संयुक्त औद्योगिक परिषदो के स्थापित करने का सुझाव दिया जिनके अन्तर्गत श्रम और स्वामी के समान प्रतिनिधि होगे तथा जो श्रम एवं प्रबन्ध के पारस्परिक हित के प्रश्नो पर नियमित रूप से विचार-विमर्श किया करेगी। युद्धोत्तरकाल मे इसी विचारधारा को लेकर अनेक देशो म ऐसे कानून बनाए गये जिनके अन्तर्गत औद्योगिक इकाइयो को श्रम परिषदें बनाने का आदेश दिया गया। शनै शनै ऐसी परिषदें होना एक आदर्श औद्योगिक प्रबन्ध का नमूना माना जाने लगा।

महत्व एवं लाभ

उद्योग-धन्धो और कारखानो के प्रबन्ध मे श्रमिक वर्ग को भाग देना औद्योगिक लोकतत्र की दिशा मे एक नया कदम है जिसके द्वारा श्रमिको मे उद्योग के प्रति अपनत्व भाव जाग्रत किया जाता है और इस भाँति उत्पादन बढाया जाता है। सामान्यत श्रमिक यही समझता है कि वह एक बडे सगठन का मामूली कल-यन्त्र मात्र है और उद्योग की सफलता का उसके ऊपर कोई उत्तरदायित्व नही है। इस निराशावादी विचारधारा का निराकरण करने के लिए ही यह नवीन अणु-अस्त्र निकाला गया है। श्रमिक को उद्योग के प्रबन्ध मे भाग मिलने से वह उसे अपना समझने

प्राप्त किया जाएगा तथा सरकारी उद्योग इस ओर देश के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करेंगे। इस प्रकार श्रम को प्रबन्ध मे भाग देना भारत सरकार की राष्ट्रीय नीति का एक अंग बन गया। यह प्रश्न कुछ जटिल था। अतएव इस सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने के विचार से भारत सरकार ने सरकार श्रम, और उद्योग के प्रतिनिधियों का एक अध्ययन दल (Study Group) १९५६ मे यूरोप भेजा। इसने ब्रिटेन, फ्रास, बेलजियम, स्वीडन, जर्मनी, यूगोस्लेविया इत्यादि देशो मे भ्रमण किया और १९५७ मे अपने सुझाव सरकार के सन्मुख रखे। जुलाई १९५७ मे इन सुझावो पर विचार करने के लिए भारतीय श्रम सम्मेलन की एक बैठक हुई जिसने अध्ययन दल के सुझावों को स्वीकार कर लिया तथा कुछ व्यावहारिक सुझाव भी दिए। जनवरी १९५८ मे श्रम-स्वामी सहयोग विचार गोष्ठी (Seminar) मे तथा जून १९५८ मे रानीखेत मे औद्योगिक कार्यकर्ता शिविर मे भी इस प्रश्न पर विचार विनिमय हुआ। इसके देश के सरकारी और गैर सरकारी उद्योगों मे प्रयोग भी किए जा रहे हैं। इस भांति यह विचारधारा हमारी राष्ट्रीय नीति और आगामी औद्योगिक संगठन का एक आवश्यक अंग बन गई है।

पाश्चात्य देशों के प्रयत्न

ब्रिटेन मे श्रम को उद्योगो के प्रबन्ध मे अधिकार देने के उद्देश्य से प्रथम से द्वितीय युद्ध काल तक कई प्रकार के प्रयोग किए गए। सन् १९४७ से सरकार से प्रेरणा पाकर ऐच्छिक आधार पर संयुक्त सलाहकार सगठन (Joint Consultative Machinery) का प्रचार बढ़ता जा रहा है। लाभ-भागीदारी (Profit Sharing) तथा सह-साझेदारी (Co-partnership) द्वारा श्रम स्वामी सहयोग के प्रयोग भी किए जा रहे हैं। कुछ छुट-पुट उद्योगों ने श्रम के प्रतिनिधि संचालक मण्डल मे भी रख लिये हैं। सरकारी उद्योगों मे वैधानिक नियमों के अन्तर्गत संयुक्त औद्योगिक परिषदें बनाई गई हैं, अन्यथा श्रम को प्रबन्ध मे अधिकार देने की नीति स्वीकार नहीं की गई।

कनाडा मे श्रम एवं स्वामी सहयोग के सम्बन्ध मे ब्रिटेन की परम्पराओं के अनुसार काम किया जाता है। वहाँ संयुक्त उत्पादन समितियो का स्वरूप और कार्य ऐसे ही हैं जैसे ब्रिटेन मे। यद्यपि वे केवल सलाह देने वाली होती हैं, तो भी उनका कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक है। अनेक औद्योगिक इकाइयाँ अपनी निर्माण-समितियो मे नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों, वित्तीय स्थिति तथा लाभ-वितरण इत्यादि बातो पर विचार-विमर्श करती हैं।

फ्रास मे श्रम का सहयोग -सरकारी क्षेत्र मे सगठित रूप मे प्राप्त किया गया है, किन्तु निजी क्षेत्र मे श्रम का सक्रिय सहयोग उत्तम नही माना जाता। जर्मनी मे सह-प्रबन्ध उन सभी कारखानो मे अपनाया जाता है जिनमे एक हजार से अधिक कर्मचारी काम करते हैं अथवा जिनमे दस लाख मार्क से अधिक पूंजी लगी है। कोयला और लोहा इस्पात उद्योगों मे सह प्रबन्ध मे श्रमिक वर्ग को समान प्रतिनिधित्व

प्राप्त है। संचालक मण्डल मे ११ मे से श्रम और स्वामी के पाँच-पाँच प्रतिनिधि होते हैं तथा ग्यारहवां सदस्य स्वतन्त्र व्यक्ति होता है। संचालक मण्डल के आधीन तीन सदस्यो का एक प्रबन्धकर्त्ता बोर्ड होता है जिसका एक सदस्य श्रम का प्रतिनिधि होता है तथा संचालक मण्डल के श्रम प्रतिनिधि सदस्यो की अनुमति बिना न उसकी नियुक्ति हो सकती और न उसे हटाया ही जा सकता है। संचालक मण्डल के ऊपर एक निरीक्षण परिषद होती है जिनमे भी श्रम के समान प्रतिनिधि होते हैं। युगोस्लेविया म 'कारखाने कर्मचारो के लिये व भूमि किसानो के लिए नारे, के अनुसार श्रमिक वर्ग को कारखानो के प्रबन्ध मे कानन द्वारा पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त है।

भारतीय अनुभव

भारत म औद्योगिक विवाद कानून १९४७ के अन्तर्गत निर्माण-समितियाँ (Works Committees) बनाने का विधान है, और १९५९ तक केन्द्रीय सरकार के उद्योगो मे ७४५ ऐसी समितियाँ बन चुकी थी, किन्तु ये समितियाँ सफल नही हुई हैं। कुछ उद्योगपतियो ने लाभ-भागीदारी बोनस के प्रयोग किए हैं किन्तु ये भी विफल रहे हैं। इनकी विफलता का मुख्य कारण श्रम अथवा स्वामी की मनोवृत्ति मे परिवर्तन का अभाव है। कई सरकारी क्षेत्र को इकाइयो मे श्रम के प्रतिनिधियो को सचालक मण्डल (Board of Directors) मे भी स्थान दिया गया है, किन्तु इन प्रयोगो का अनुभव कुछ उत्साहजनक नही रहा। बम्बई और मद्रास बन्दरगाह ट्रस्ट कानूनो के अन्तर्गत श्रम के प्रतिनिधियो को संचालक मण्डल मे रखने का विधान है, किन्तु इस प्रनिनिधित्व से श्रम के प्रति बन्दरगाह अधिकारियो के दृष्टिकोण मे कोई परिवर्तन नही हुआ और न श्रम-स्वामी सम्बन्धो मे ही कोई सुधार हुआ है। सिंदरी के खाद के कारखाने, विशाखापत्तनम जहाज घाट और विमान निगमो ने भी श्रम के प्रतिनिधियो को अपने संचालक मण्डलो मे स्थान दिया है, किन्तु इनका भी अनुभव वैसा ही है जैसा बन्दरगाह अधिकारियो का। इनकी असफलता का कारण यह बताया जाता है कि उच्च स्तर पर ही श्रम प्रतिनिधित्व को स्थान दिया गया है और निम्न स्तरो पर इसके कोई प्रयत्न नही किए गए। यह कहा जाता है कि जब तक सभी स्तरों पर श्रम का प्रतिनिधित्व न हो उसे कोई सफलता मिलने की संभावना नही है।

ऐच्छिक समझौते द्वारा कई उद्योगों मे संयुक्त प्रबन्ध परिषदे (Joint Councils of Management) स्थापित की हैं, जिन से कुछ महत्वपूर्ण अनुभव प्राप्त हुआ है, किन्तु इसे कोई ठोस सफलता नहीं कहा जा सकता। टाटा लोहा-इस्पात कम्पनी ने १९५६ मे श्रम संघ के साथ एक सम्मिलित समझौता किया जिसके अन्तर्गत त्रिस्तरीय संयुक्त परिषदे (Joint Councils) बनाने का विधान है। ये तीन स्तर आर्थिक, सामाजिक तथा उत्पादन सम्बन्धी प्रश्नो से सम्बन्धित है। इण्डियन अल्यूम्यूनियम कम्पनी के बेलर कारखाने, मोदी स्पिनिंग व वीविंग कम्पनी, कंकनारा जूट मिल, बेनी जूट मिल इत्यादि ने भी समझौतो के द्वारा संयुक्त परिषदें बनाई हैं जिन

में महत्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार किया जाता है और इस विचार-विमर्श से दोनो पक्षो को लाभ होता है।

यूरोपीय देशो मे भ्रमण करने के उपरान्त अध्ययन दल ने १९५७ को अपने प्रतिवेदन मे भी ऐसी ही संयुक्त समितियाँ बनाने का सुझाव दिया था जिन्हे कानून का समर्थन प्राप्त हो। इस प्रश्न पर जुलाई १९५७ मे भारतीय श्रम सम्मेलन ने तथा जनवरी फरवरी १९५८ मे श्रम-स्वामी सहयोग विचार गोष्ठी ने सविस्तार किया था, किन्तु इसे कानूनी रूप देने की बात का भारी विरोध किया गया। उक्त विचार-गोष्ठी ने एक आदर्श-समझौता (Model Agreement) भी स्वीकार किया था। लगभग ४० कारखानो मे तदनुसार समझौते द्वारा संयुक्त समितियो के प्रयोग किये जा रहे हैं।

भारत मे श्रम को प्रबन्ध मे अधिकार देने की विविध योजनाओ पर अनेक प्रयोग हो रहे हैं। इन प्रयोगो की सफलता पर ही इसका भविष्य निर्भर है जो अभी अनिश्चित सा ही है। पाश्चात्य देशो की भाँति भारतीय श्रम का बौद्धिक एवं शैल्पिक विकास अभी नही हुआ जिसके अभाव मे इन प्रयोगो को विशेष सफलता मिलने की संभावना कम है।

"पैसे की कमी जनता के लिये इतनी भयानक बीमारी नही है जितनी कार्य की कमी।" —महात्मा गांधी

१७—बेकारी की समस्या

रूप-रेखा

१. परिभाषा।
२. विश्वव्यापी समस्या।
३ प्रकार।
४. स्वरूप।
५. दुष्परिणाम।
६. कारण।
७ समस्या के सुलझाने के यत्न।
८. सुझाव।

परिभाषा

काम करने योग्य एवं काम करने के इच्छुक लोगो के लिये आर्थिक अर्थ मे कार्य का अभाव ही बेकारी कहलाती है। अंधे, बहरे, लूले, लंगडे, रोगी, बच्चे, वृद्ध अथवा अपाहिज व्यक्ति जो कार्य करने के लिये सर्वथा अयोग्य हैं, बेकार नही माने जाते। इसी भाँति भिखारी व साधु-सन्यासी जो काम करने के इच्छुक नहीं हैं वे भी बेकार नही समझे जाते। काम के इच्छुक लोगो की संख्या उसकी माँग से अधिक हो तो बेकारी फैलने लगती है। माँग की कमी का कारण लोगो की संख्या का अति अधिक बढ जाना अथवा काम के साधनो मे कमी आ जाना अथवा दोनो ही बातें हो हो सकती हैं। भारत मे इस समय दोनो ही कारण प्रभावशाली हैं।

विश्वव्यापी समस्या

बेकारी एक विश्वव्यापी समस्या है जिसका पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। युद्ध और अन्य अभिवृद्धि अल्पकाल के लिये इसे दबा सकता है और आर्थिक मन्दी इसे उभार सकती है, किन्तु यह उपस्थित सदैव रहती है।

थी जो १९५१ मे १३·७५ लाख, १९५५ मे १५·८४ लाख और १९५९ मे २४·९८ लाख हो गई। इस भाँति ११ वर्ष मे यह लगभग तिगुनी हो गई है। यद्यपि ये आँकडे पूर्ण नही माने जा सकते, क्योकि सर्वत्र ऐसे केन्द्र नही है और इनमे नाम लिखाना अनिवार्य नही है। इनके कार्य-कौशल मे आस्था न रखने वाले अनेक बेकार इनमे नाम लिखाते भी नहीं हैं। तो भी ये आँकडे एक दृष्टि से बड़े तथ्यपूर्ण है। ये निस्सन्देह समस्या की उत्तरोत्तर बढोतरी की ओर सकेत करते हैं।

मध्यम श्रेणी के शिक्षित वर्ग की बेकारी विशेष चिन्ता का विषय है। देश के कालेज और विश्वविद्यालयो से प्रति वर्ष लगभग ३ लाख विद्यार्थी शिक्षा समाप्त कर निकलते हैं जिनमे से ५०% को काम मिल जाता है, किन्तु शेष १½ लाख बेकारो मे नाम लिखा लेते हैं।

ग्रामीण क्षेत्र मे भी एक बडी संख्या बेकार और अर्द्ध बेकारो की है। योजना आयोग के अनुसार इस क्षेत्र मे बेकारो की संख्या लगभग ५५ लाख है। तृतीय योजना की अवधि मे इसमे १०० लाख की और वृद्धि होने की संभावना है। इससे भी बड़ी संख्या अर्द्धबेकारो की है।

इस भाँति यह समस्या अत्यन्त गंभीर है और दिनो-दिन और भी गंभीर होती जा रही है।

दुष्परिणाम

बेकारी के दुष्परिणाम कंगाली, भुखमरी और दुख है। कंगाली के कारण निम्न जीवन-स्तर, न्यून भोजन-वस्त्र, शारीरिक व मानसिक दुर्बलता, रोग-शोक इत्यादि जीवन को भार बना देते हैं। कभी-कभी कुछ लोग दुखी होकर आत्म-हत्या भी कर लेते हैं। ऐसे लोग आत्म विश्वास खो बैठते हैं और उनकी हिंसा वृत्ति, पापाचार और अपराध भावना बलवती हो उठती है। वे दूसरो के प्रति द्वेषभाव रखने लगते हैं; उनकी सात्विक प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं।

बेकारी से देश को भारी आर्थिक हानि सहन करनी पडती है। यदि बेकारो को कार्य मिल सके तो वे अनेक जीवनोपयोगी वस्तुए उत्पन्न कर सकते हैं। देश और समाज उनकी योग्यता, कौशल और कार्य-क्षमता से वंचित रहता है। ऐसे लोगों के भरण-पोषण पर देश को बहुत सा धन व्यय करना पड़ता है। ब्रिटेन मे बेकारो की संख्या १० लाख मानकर यह अनुमान लगाया गया है कि बेकारी के कारण १०० करोड पौंड राष्ट्रीय सम्पत्ति प्रति वर्ष निष्फल हो जाती है।

कारण

देश मे युद्धोत्तर काल मे इस समस्या के भयानक रूप धारण करने के मुख्य कारण निम्नांकित हैं :—

(१) काम के साधनो की अपेक्षा जनसंख्या की तीव्रगति से वृद्धि;
(२) छोटे और कुटीर उद्योगों का पतन;

(३) शिक्षा पद्धति का कार्य-प्रधान होने के स्थान पर सिद्धान्त-प्रधान होना;
(४) युद्धोत्तर काल मे काम के साधनो की कमी;
(५) सेना से, सरकारी कार्यालयो से और औद्योगिक कारखानो से श्रमिको की बडी मात्रा मे छटनी,
(६) देश विभाजन एवं शरणार्थियो का आगमन;
(७) शारीरिक श्रम के प्रति जन-साधारण का घृणा स्पद भाव।

समस्या के सुलझाने के यत्न

बेकारी दूर करने और कार्य-विस्तार के लिए देश की सरकार विविध प्रयत्न करती रही है। प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त आर्थिक मन्दी का समय आया था जबकि बेकारी की समस्या भयानक हो उठी थी। ऐसी ही स्थिति की संभावना करके भारत सरकार ने द्वितीय युद्ध समाप्त होते ही १९४५ मे एक राष्ट्रीय नियोजन सेवा (National Employment Service) की स्थापना की। इसके अन्तर्गत सर्व प्रथम युद्ध क्षेत्र से निकले हुए सैनिको के लिए कार्य-व्यवस्था करने के लिए एक महा-निदेशालय (Directorate General) खोला। इसके अधीन अनेक विभाग खोले गए जिनमे से एक विभाग का सम्बन्ध लोगो को काम दिलाने से था। १९४८ मे सेवा नियोजन केन्द्रो की संख्या केवल ७७ थी जो अब बढ कर २४४ हो गई है। ये संस्थाएं बेकार लोगो के नाम अपने यहाँ लिखकर रखती हैं और उन्हे यथायोग्य नौकरी दिलाने की व्यवस्था करती हैं। देश विभाजन के उपरान्त शरणार्थियो को काम देने के लिए विस्थापित मंत्रालय स्थापित किया। सरकार ने काम के साधन बढाने के लिए छोटे और कुटीर उद्योगो के पुनर्जीवन और विकास के विविध यत्न किए हैं। तथा लोगो को व्यावहारिक एवं प्राविधिक शिक्षण देने की भी व्यवस्था की है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के बनने तक यह समस्या विशेष गंभीर नही थी, किन्तु १९५३ से यह विशेष भयानक हो गई। अतएव योजना मे संशोधन करके १८० करोड रुपए इसके निमित्त दिए गए। द्वितीय योजना काल मे ६० लाख अधिक लोगो को काम दिया गया। तृतीय योजना का लक्ष्य १५० लाख लोगो को काम दिलाने का है।

गत दस वर्ष म इस समस्या पर काबू पाने के अनेक यत्न किये गये हैं, किन्तु बेकारों की संख्या मे कोई कमी नही हुई, वरन् और बढती गई है। द्वितीय योजना के प्रारम्भ मे ५३ लाख लोग बेकार थे। तृतीय योजना के प्रारम्भ मे ३० लाख और लोग द्वितीय योजना काल के बेकार बच रहे और बेकारो की कुल संख्या ८३ लाख होगई। इस गम्भीर समस्या को हल करने के अनेक सुझाव दिए जाते हैं, जिनमे निम्नांकित प्रभावशाली सिद्ध हो सकते हैं :—

(१) जनसख्या की रोकथाम—दो प्रतिशत बढती हुई जनसख्या के अनुसार लगभग ३२ लाख नये काम की इच्छा रखने वाले नये व्यक्ति प्रतिवर्ष क्षेत्र मे आ जाते

हैं। इतने अतिरिक्त लोगो को काम देना सम्भव नही। अतएव परिवारिक नियोजन की योजनाओ को तत्परता से लागू करना चाहिये।

(२) शिक्षा पद्धति मे सुधार—यद्यपि शिक्षा सुधार की बात सर्वमान्य है और वर्षों से हम इस बात पर जोर दे रहे है, किन्तु कोई सफल योजना कार्यान्वित नही की गई। अब भी व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त लोगो का देश म अभाव है। इन्जीनियरो, डाक्टरो, ओवरसियरो आशुलिपिको, कम्पाउन्डरो, नर्सों, सर्वेक्षको, हिसाब रखने वालो इत्यादि की देश म भारी कमी है तथा लिपिका, अध्यापको, मोटर चालको, चपरासियो और अन्य शिक्षणहीन लोगो की एक बडी सख्या बेकार फिरती है। शिक्षा पद्धति मे आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

(३) कुटीर उद्योगों का विकास—कुटीर उद्योग बेकारी दूर करने के उत्तम साधन माने जाते हैं। इन उद्योगो की समस्याओ को सुलझा कर शीघ्र से शीघ्र इनका विकास विस्तार होना वाछनीय है।

(४) श्रम प्रधान निर्माण कार्य—भवन, स्कूल व सडकें बनाने, सिंचाई साधन बढाने, जगल लगाने, भूमि सरक्षण योजनायें चालू करने से अनेक लोगो को काम दिया जा सकता है, क्योंकि ये सभी कार्य श्रम प्रधान माने जाते हैं।

(५) सामाजिक मनोवृत्ति बदलना—लोगो म शारीरिक श्रम के प्रति सद्भाव और श्रद्धा उत्पन्न करनी चाहिये। कोई काम करना बुरा नही है, बुरा है किसी काम को उठा कर बुरे ढग से करना। सरकारी नौकरियो के अतिरिक्त व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्र मे अनेक काम ऐसे हैं जिनमे जीवन निर्वाह और धनोपार्जन की अच्छी सम्भावना है। अनेक लोग कृषि क्षेत्र में काम पा सकते हैं।

(६) छटनी पर प्रतिबन्ध लगाना—भयानक से भयानक बेकारी लोगों को नोकरी से हटाने पर फैलती है। कर्मचारियो की छटनी, उद्योगों की तालाबन्दी इत्यादि बातो पर कानूनी रोक लगा देनी चाहिये।

(७) ग्रामीणप्रवास की रोक—बेकारी के मुख्य अड्डे बडे-बडे नगर हैं जहाँ गाँवो से आ-आकर लोग बसते जाते हैं। इस ग्रामीण प्रवास को रोकने के लिए इन क्षेत्रो म काम के साधन बढाने तथा गाँवो मे अन्य सुविधायें और आकर्षण उत्पन्न करने आवश्यक हैं।

(८) मानव शक्ति नियोजन—अन्य योजनाओ के साथ देश मे श्रम शक्ति और मनुष्य बल का भी समुचित आयोजन होना चाहिये। विधिवत योजना बनाकर इस समस्या की गम्भीरता बहुत कुछ कम की जा सकती है।

साधनो के पूर्ण उपयोग द्वारा उद्योगपतियो को प्रोत्साहन देकर और अधिक औद्योगिक बस्तियाँ बसा कर भी बेकारी दूर की जा सकती है।

"रेलें वास्तव में देश की जीवन-रेखा है जिन पर देश के यात्रियो और सम्पदा का इस प्रकार आवागमन होता रहता है जैसे मानव शरीर म रक्तवाहिनी नाडियो के द्वारा रक्त-प्रवाह होता है।"

—करनैलसिंह, अध्यक्ष, रेल बोर्ड।

१८—भारत में रेल परिवहन

रूप-रेखा

१. प्रस्तावना
२. रेलों का राष्ट्रीय महत्व
३. १८५३ से अब तक विकास
४. रेलो के क्षेत्र
५. रेल-वित्त
६. योजनाओं के अन्तर्गत प्रगति
७ प्रबन्ध-प्रशासन
८. रेलो की कुछ समस्यायें
   (क) दुर्घटनाएं
   (ख) बिना टिकट यात्रा
   (ग) यात्रियो को सुख-सुखविधायें।

प्रस्तावना

भारतीय रेल संगठन एशिया का सबसे बडा और विश्व का चौथा बडा सगठन है। रेल-मार्ग की कुल लम्बाई पैंतीस हजार मील से ऊपर है। भारतीय रेलो मे लगभग १४०० करोड रुपए की पूंजी लगी हुई है और लगभग १२ लाख कर्मचारी इनम काम करते हैं। वे प्रतिवर्ष १५३ करोड यात्री और १४५ करोड टन माल की ढुलाई करती है। भारतीय रेलें भारत का सबसे बडा सरकारी उद्योग है।

रेलो का राष्ट्रीय महत्व

रेलो क आगमन से पूर्व भारत छोटे गांवो और कुटीर उद्योगो का देश था, बम्बई, कलकत्ता जैसे बडे नगरो का कही नाम न था, उत्पादन बहुधा निजी उपभोग

के लिये होता था, व्यापार बहुधा स्थानीय था, आवागमन के साधन अत्यन्त धीमे थे। रेलो ने देश की अर्थ-व्यवस्था को एक नवीन रूप दे दिया है और देश के राजनीतिक एव सामाजिक जीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिए हैं। रेलो ने यात्रा करने की आदत डालकर लोगो को स्थानीय वातावरण से निकाल कर राष्ट्रीय भावना से परिप्लावित किया है, उन्हे उद्यम सम्बन्धी सुविधाये दी हैं, नई कार्यविधि सिखाकर हमारा कार्यकौशल और योग्यता बढाई है, व्यापार-व्यवसाय मे क्रान्ति उत्पन्न की है, गाँवो को कस्बो मे और कस्बो को बडे-बडे नगरो मे परिवर्तित कर दिया है। जूट, सूती वस्त्र, कोयला, सीमेट, लोहा-इस्पात, चीनी, चाय, कागज इत्यादि अनेक सगठित उद्योगो के विकास का श्रेय भी रेलो को ही है। विश्वव्यापी व्यापार, कृषि के वाणिज्यीकरण, आधुनिक डाक-सेवा का आधार भी हमारी रेलें ही हैं। सहकारिता के सन्देश को आगे बढाने, शिक्षा-प्रसार, अन्वेषण कार्यों एव नूतन कार्यप्रणाली के प्रसार मे भी रेलो का हाथ रहा है। रेलो ने देश की अर्थव्यवस्था को एक नवीन रूप दे दिया है। इसी कारण उन्हे बहुधा राष्ट्र की मूलाधार एव जीवन-रेखा कह कर पुकारा जाता है।

विकास का इतिहास

भारत की प्रथम रेल १६ अप्रैल १८५३ को चलनी प्रारम्भ हुई थी। प्रथम पचास वर्ष मे अर्थात् १९०३ तक देश मे रेलो की लम्बाई २७,००० मील हो गई थी जिनमे ३४१ करोड रुपए की पूंजी लगी हुई थी अब देश मे रेलो की लम्बाई ३५,००० मील है और पूंजी का मूल्य १४०० करोड रुपए है।

रेलो के इस सौ वर्ष से अधिक के इतिहास को पांच कालो मे बांटा जाता है :

(१) प्राचीन प्रत्याभूमि पद्धति (१८४९–१८६९) इस अवधि मे विदेशी कम्पनियां भारत सरकार से ५% न्यूनतम लाभ की गारन्टी पाकर रेल-निर्माण और सचालन करती रही। इस व्यवस्था मे कई दोष थे और प्रगति अत्यन्त धीमी थी।

(२) राजकीय निर्माण एव सचालन (१८६९–१८८१)—१८६९ से भारत सरकार ने नई रेलें बनाने और चलाने का सारा काम अपने ऊपर ले लिया। इस अवधि मे सभी नई रेलें मीटर गेज पर बनी। प्रगति भी अच्छी हुई तो भी देश के बढते हुये *व्यापार-व्यवसाय और अन्य मांग को देखते हुए गति धीमी थी।*

(३) मिश्रित उपक्रम काल (१८८१-१९२१)—इस अवधि मे भारत सरकार, प्रान्तीय सरकारे, जिला बोर्ड, देशी राज्य, बन्दरगाह अधिकारी एव गारन्टी कम्पनियां (नई और पुरानी) सभी रेल निर्माण मे लगे थे। प्रबन्ध सम्बन्धी नीति अनिश्चित थी। बहुधा रेलो का स्वामित्व भारत सरकार के अधिकार मे और संचालन कम्पनियो के हाथ मे था। १९०० तक रेलें हानि उठाती रही थी, किन्तु बीसवीं शताब्दी मे उनका सचालन लाभकर हो गया था। १९०५ मे रेल बोर्ड की स्थापना हो गई थी। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त देश की राजनीतिक जाग्रति के कारण रेलें एक विवादास्पद विषय बन गईं। अतएव उनके प्रबन्ध एव वित्त व्यवस्था के सुधार के लिये १९२० मे आँकवर्थ

योजना काल में प्रगति

भारतीय रेलों को द्वितीय विश्व-युद्ध और देश-विभाजन के कारण बहुत क्षति उठानी पड़ी थी। उसकी पूर्ति पहली योजना का एक मुख्य उद्देश्य था। दूसरी योजना में, रेलों ने अपना पर्याप्त विकास किया और इस्पात, कोयला, सिमेंट इत्यादि आधारभूत उद्योगों के विकास में सहायता पहुँचाई। १९५०-५१ में रेलों से ढोए जाने वाले सामान का कुल परिमाण ९१० लाख टन था। दूसरी योजना के अन्त तक यह १६२० लाख टन तक पहुँच गया। १९६०-६१ तक लगभग १३०० मील नई रेलें बनाई गईं, १३०० मील-पथ दुहरा किया गया और ८८० मील रेल-मार्ग बिजली चालित रेलों का हो गया। १९५०-५१ में इन्जनों की संख्या ८,२००, सवारी डिब्बों की १९,२०० और माल डिब्बों की २,०६,००० थी जो १९६०-६१ तक बढ़कर क्रमशः १०,६००, २८,६०० तथा ३,५४,१०० हो गईं।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में रेल-यातायात २,४५० लाख टन की सीमा तक पहुँच जाने की सम्भावना है। इस योजना में रेलों के निमित्त १३२० करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान है जिसका लगभग एक तिहाई भाग इन्जन और डिब्बों आदि पर व्यय किया जायगा। योजना की अवधि में १२०० मील रेलें बनाने की व्यवस्था है।

प्रबन्ध-प्रशासन

रेलों के प्रबन्ध-प्रशासन एवं नियन्त्रण का सारा भार रेल बोर्ड के ऊपर है जिसकी १९०५ में स्थापना हुई थी। रेल बोर्ड इस समय ५ सदस्यों की संस्था है जिनमें से एक सभापति है जो रेल मन्त्रालय का पदेन सचिव समझा जाता है। दूसरा सदस्य वित्तीय आयुक्त है तथा तीन सामान्य सदस्य हैं जिनमें से प्रत्येक कर्मचारी वृन्द, परिवहन एवं इन्जीनियरी सम्बन्धी कार्यों के लिए उत्तरदायी है।

रेलों और जनता के बीच सम्पर्क बनाए रखने और विचार-विमर्श के लिए निम्नांकित समितियाँ बना दी गई हैं : (क) केन्द्र में राष्ट्रीय रेल प्रयोक्ता सलाहकार परिषद, (ख) प्रत्येक रेल के मुख्यालय में क्षेत्रीय रेल प्रयोक्ता सलाहकार समिति, (ग) प्रादेशिक रेल प्रयोक्ता सलाहकार समितियाँ तथा (घ) मण्डल (Divisional) सलाहकार समितियाँ।

प्रत्येक रेल-इकाई का सर्वोच्च अधिकारी महाप्रबन्धक कहलाता है। उस रेल के सभी विभागों की देख-रेख, नियन्त्रण तथा सूत्रीकरण महाप्रबन्धक का ही उत्तरदायित्व है। प्रत्येक रेल का कार्य विषयों के अनुसार भिन्न-भिन्न अधिकारियों में बँटा रहता है।

रेलों की कुछ समस्यायें

रेलों की कुछ ऐसी समस्यायें हैं जो उनके लिए रोज-रोज चिन्ता का विषय बनी रहती हैं और जिनका प्रतिकूल प्रभाव उनके कार्यकौशल, कार्यक्षमता एवं आय पर पड़ता है। इनमें से अधिक महत्वपूर्ण समस्यायें निम्नांकित हैं :—

(क) **बिना टिकट यात्रा**—प्रतिवर्ष लगभग ६७ लाख यात्री बिना टिकट यात्रा करते पकड़े जाते हैं जिनसे लगभग १·५० करोड़ रुपए वसूल किए जाते हैं। अनेक ऐसे हैं जो पकड़ में नहीं आते। बिना टिकट यात्रा करने वालों के कारण रेलों को प्रति वर्ष लगभग ५ करोड़ रुपए की हानि सहन करनी पड़ती है।

(ख) **दुर्घटनाएं**—दुर्घटनाओं के कारण भी रेलों को भारी हानि सहन करनी पड़ती है। दुर्घटनाओं से तात्पर्य गाड़ियों का पटरी से उतर जाना, गाड़ियों का परस्पर लड़ जाना, गाड़ियों का नदी-नाले में गिर जाना अथवा अन्य प्रकार उनकी टक्कर हो जाना है। इन दुर्घटनाओं से रेल-सम्पत्ति की भारी टूट-फूट और हानि होती है, यात्री हताहत हो जाते हैं अथवा उनकी जानें चली जाती हैं; बहुत सामान नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इस सबके लिए रेलों को हानि पूर्ति देनी पड़ती है।

(ग) **यात्रियों को सुख-सुविधाएं देना**—यात्री जनता की सुख सुविधाएं बढ़ाने और रेल यात्रा को अधिकाधिक सुरक्षित बनाने के लिए रेलें सदैव चिन्तित रहती हैं। गत दो योजनाओं में वे ३ करोड़ रुपए प्रतिवर्ष इसके निमित्त व्यय करती रही हैं। नमूने के डिब्बे उपलब्ध करना, तृतीय श्रेणी के डिब्बों में पंखे लगाना, गाड़ियों में और स्टेशनों पर प्रकाश का समुचित प्रबन्ध, शयन-यान व्यवस्था, नए स्टेशन और रेल रुकने के स्थान बनाना, अधिकाधिक विश्रामगृह बनवाना, प्लेटफार्मों को ऊँचे कराना, नए टिकट घर खोलना, स्टेशनों पर बिजली का प्रकाश, खान-पान की वस्तुओं का समुचित प्रबन्ध, गाड़ियों और स्टेशनों की सफाई, पीने के पानी का प्रबन्ध, गाड़ियों में भीड़-भाड़ कम करने के यत्न इत्यादि विषय रेल यात्रा को सुविधा-जनक एवं सुखमय बनाने के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं।

"सडकें किसी देश की धमनियाँ और शिराएं हैं जिनके द्वारा प्रत्येक सुधार रूपी रक्त परिभ्रमण होता है।"

—जे० बेन्थम

१६—भारतीय सड़क परिवहन

रूप रेखा

१. सडकों का राष्ट्रीय महत्व
२ सडक परिवहन के गुण
३ भारत मे सडकों का विकास
४ भारत मे सडक परिवहन का विकास
५ सडक विकास योजनाएं
६. सडक परिवहन का प्रशासन
७ सडक परिवहन की समस्यायें
८ भविष्य।

सडकों का राष्ट्रीय महत्व

सडकें राष्ट्रीय समृद्धि के विशाल महल की आधार-शिला हैं। कृषि, उद्योग, वाणिज्य, व्यवसाय, प्रशासन, प्रतिरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य अथवा अन्य किसी आर्थिक, सामाजिक व सास्कृतिक प्रयत्न को अपने पूर्ण रूप मे फलीभूत होने और आगे बढाने के लिए सडक की आवश्यकता होती है। भारत के पुनर्जन एव पुनर्निर्माण रूपी गत्यात्मक अभिनय का सडकें केन्द्र बिन्दु हैं। किसी राष्ट्र के स्वस्थ्य को स्थिर रखने मे सडको का वही महत्व है जो मनुष्य शरीर मे धमनी और शिराओ का। जैसे धमनियाँ और शिरायें रक्त परिभ्रमण द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी हैं वैसे ही सडकें राष्ट्रीय जीवन के आवश्यक उपकरणों—माल, मनुष्यो एव वस्तुओं—को देश के कोने-कोने तक पहुँचाती हैं और उत्पादन, विनिमय एव वितरण की क्रियाओं को सफल बनाती हैं। पर्याप्त एव सुगम सडको पर ही राष्ट्र के आर्थिक साधनो का पूर्ण उपयोग सभव है।

सड़क परिवहन के गुण

सड़क परिवहन किसी देश अथवा समाज की प्रारम्भिक एवं मूल आवश्यकता की पूर्ति करता है। यह अन्य सभी साधनों का आधार स्तम्भ है; यह रेल, जहाज एवं विमान का पूरक है। रेल-सेवा का उपयोग करने से पूर्व हमें मोटर, बैलगाड़ी, इक्का, तांगा रिक्शा, इत्यादि सड़क वाहनों की आवश्यकता पड़ती है। यही बात नाव-जहाज अथवा विमान सेवा के उपयोग के लिए सत्य है। आज भी संसार के अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ रेल, नाव, जहाज अथवा विमान का प्रयोग नहीं होता, किन्तु ऐसा एक भी क्षेत्र नहीं जहाँ किसी न किसी प्रकार की सड़क सेवा उपलब्ध न हो।

सड़क परिवहन का सबसे बड़ा गुण अन्य साधनों की अपेक्षा इस सेवा की लचक है। सेवा की माँग के घटने-बढ़ने के साथ-साथ इस सेवा का सहज समायोजन सम्भव है। रेल के इंजन अथवा जलयान की भाँति सड़क-वाहन अपने मार्ग से सम्बद्ध नहीं होते। इसका दूसरा गुण इस सेवा की स्वतन्त्रता अर्थात् इच्छानुसार मार्ग अथवा सेवा-परिवर्तन की सुविधा है। एक मार्ग लाभदायक सिद्ध न हो तो दूसरे मार्ग पर और एक यातायात पर्याप्त सिद्ध न हो तो दूसरे प्रकार के यातायात से उसे लाभदायक बनाया जा सकता है। सड़क परिवहन का तीसरा गुण उसकी द्वार-से-द्वार तक पूर्ण सेवा प्रदान करने की क्षमता है। इसके अन्य गुण सेवा का सस्तापन, माल की सुरक्षा, समय की बचत, बहुमुखी सेवा इत्यादि हैं।

सड़कों का विकास

भारत के प्राचीन शासक सड़कों के निर्माण और सुधार को लोक-कल्याण कार्य मानते थे तथा इस काम को उत्साह और रुचि के साथ करते थे। अंग्रेजी शासन काल में और मुख्यतः रेल युग में भारतीय सड़कों की उपेक्षा की गई। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त राजनीतिक जागृति के साथ-साथ देश में सड़कों के प्रति भी रुचि उत्पन्न हुई। फलतः जनता की माँग पर विचार करने के लिये १९२७ में जयकर समिति नियुक्त की गई जिसके सुझावों के अनुसार केन्द्रीय सरकार सड़कों के विकास व सुधार में हाथ बटाने लगी और सन् १९२९ में केन्द्रीय सड़क निधि बनाई गई। इस निधि की सहायता से देश की सड़कों का विकास एवं सुधार किया जाने लगा। इस निधि को स्थायी जीवन प्राप्त होने के उपरान्त १९३४ में भारतीय सड़क कांग्रेस नाम की एक अर्द्ध सरकारी संस्था बनाई गई। इस भाँति सड़कों के विकास एवं सुधार का मार्ग खुला। १९२७-२८ में देश में सड़कों की लम्बाई २,०५,००० मील थी और वे जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थीं। केन्द्रीय सड़क निधि की सहायता तथा भारतीय सड़क कांग्रेस एवं भारत सरकार के प्रयत्नों से १९३७-३८ तक के दस वर्ष में सड़कों की लम्बाई २,८४,००० मील हो गई, उनका सुधार भी किया गया तथा उन पर अनेक पुल बनवाये गये।

द्वितीय युद्ध काल में सड़कों के और भी अधिक विकास की आवश्यकता हुई। अतएव भारत सरकार ने भारतीय सड़क कांग्रेस की प्रेरणा से दिसम्बर १९४३ में

नागपुर मे देश के केन्द्रीय एव प्रान्तीय सडक इन्जीनियरो का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन ने देश की आगामी बीस वर्षो की आवश्यकता पर विचार करके सडक-विकास की एक दस वर्षीय योजना बनाई जिसके अनुसार ४४८ करोड रुपए व्यय करके ४ लाख मील लम्बा नया सडक पथ बनाने का निश्चय किया गया। देश विभाजन के उपरान्त इसमे आवश्यक परिवर्तन किये गये और उसे देश की सडक विकास-नीति का आधार मान लिया गया। तब से देश की सडको का और भी तीव्रगति से एव सतुलित विकास हुआ है। अब देश मे सडको की लम्बाई ३,६८,००० मील हो गई है जिसमे से १४४००० पक्की और २,५४,००० अन्य निम्न कोटि की सडके हैं।

सडक परिवहन का विकास

सडक मार्ग से माल और मनुष्यो के आवागमन को सडक परिवहन कहा जाता है। सडक मार्ग से ढुलाई करने वाले वाहनो मे विविध पशुवाहन, मुख्यत बैलगाडी मोटर गाडियो तथा बाईसकिलें मुख्य हैं। बैलगाडी देश का प्राचीनतम सडक वाहन है, किन्तु यान्त्रिक वाहनो के आवागमन के उपरान्त भी ग्रामीण क्षेत्र के लिए उसका महत्व कम नही हुआ। इस समय देश मे लगभग ११० लाख बैलगाडियाँ हैं जो लगभग १२५० करोड टन माल और असख्य यात्रियो की प्रतिवर्ष ढुलाई करती हैं। मोटरगाडियो एव बाईसकिलो का चलन बीसवी शताब्दी मे बढता गया है। भारत मे प्रथम मोटर गाडी १८६८ मे आयात की गई। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व देश की सडको पर ३,०८६ मोटर गाडियाँ और २६,००० बाईसकिले चलती थी। द्वितीय युद्ध से पूर्व तक बहुधा मोटरों और बाइसकिलो की माँग आयात से पूरी की जाती थी किन्तु तदुपरान्त इनका देश मे निर्माण होने लगा। अब आयात बन्द कर दिया है। देश मे इस समय लगभग ५ लाख विविध प्रकार की मोटर गाडियाँ तथा ६ लाख बाइसकिलें प्रयोग मे आती है।

मोटर परिवहन का विकास प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त ही प्रारम्भ हुआ और इस वेग से हुआ कि आर्थिक मन्दी के वर्षो मे यह साधन रेलो को हानि पहुँचाने लगा। रेल मोटर प्रतियोगिता का आशिक हल १६३६ के मोटर वाहन कानून द्वारा सोचा गया। सन् १६४५ मे सिद्धान्त व्यवहार-सहिता द्वारा मोटर गाडियो का कार्य क्षेत्र ७५ मील के अन्तर्गत सीमित कर दिया गया। १६५० मे मोटरवाहन जाँच समिति ने मोटर वाहनो के कर घटाने तथा उनके सुधार के अन्य अनेक सुझाव दिए। १६५५ मे परिवहन अध्ययन समुदाय ने मोटर परिवहन की दुर्बलताओ की ओर सकेत किया और उन्हे दूर करने के अनेक सुझाव दिए। १६५६ मे सडक परिवहन पुनर्गठन समिति ने इस साधन की प्रशासनात्मक व्यवस्था सुधारने के अनेक सुझाव दिये। रेल मोटर प्रतियोगिता का प्रश्न हाल मे फिर गम्भीर हो गया है। इस प्रतियोगिता का हल राष्ट्रीय परिवहन नीति समिति के सुझावो के अनुसार किया जायेगा।

सडक विकास योजनाये

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है देश में सडको के विकास की प्रथम महत्व-पूर्ण योजना १६४३ की नागपुर योजना थी। इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार

को सडको के निर्माण व सुधार का उत्तरदायित्व सौंपा गया, सडको का विधिवत वर्गीकरण किया गया और उनके सतुलित विकास की योजना उपस्थित की गई। इस योजना का कार्यक्रम १६५७ तक पूरा हो चुका था। १९४७ मे देश विभाजन और १९५०–५१ म पचवर्षीय योजनायें प्रारम्भ होने के कारण देश की यातायात व्यवस्था मे भारी परिवर्तन हो गये थे और नागपुर योजना देश की बढती हुई माँग के लिये अपर्याप्त समझी गई। अतएव १९५६ मे एक नई तीस वर्षीय योजना बनाई गई जिसके अनुसार १९८०-८१ तक देश म सडको की लम्बाई ६,५७,००० मील अर्थात् दुगुनी हो जाएगी। इस पर ५,२०० करोड रुपए के व्यय का अनुमान है। इस योजना के पूरे होने पर देश के विकसित एव कृषि क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सडक से ४ मील और अन्य सडक से १½ मील, अर्द्ध विकसित क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सडक से ८ मील और अन्य सडक से ३ मील तथा अविकसित एव कृषि विहीन क्षेत्र का प्रत्येक गाँव पक्की सडक से १२ मील और अन्य सडक मे ५ मील से अधिक दूर न रहेगा।

सडक परिवहन का प्रशासन

यात्री सेवाओ का लगभग सभी राज्यो मे राष्ट्रीयकरण हो गया है। इन सेवाओ का सचालन वैधानिक सडक परिवहन निगमो, सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियो एव सरकारी विभागो द्वारा किया जाता है। माल यातायात का एक बडा भाग अभी निजी मोटर मालिको के अधिकार मे है। तृतीय योजना के अन्त तक इस सेवा के राष्ट्रीयकरण पर योजना आयोग ने रोक लगादी है। निजी मोटर सेवाओ के समन्वय, नियमन एव विकास के लिये एक अन्तर्राज्य परिवहन आयोग स्थापित कर दिया गया है। परिवहन के विभिन्न साधनों तथा केन्द्र एव राज्य सरकारो की नीति के बीच समन्वय लाने के लिये भारत सरकार ने परिवहन समन्वय समिति इत्यादि सस्थाओ का सगठन किया है। १९५९ मे सडक परिवहन पुनर्गठन समिति ने वर्तमान प्रशासनीय सगठन के आमूल परिवर्तन का सुझाव दिया। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य मे एक अलग परिवहन मत्रालय, एक दावा न्यायाधिकरण और एक परिवहन सलाहकार समिति का सगठन आवश्यक बताया गया है।

सडक परिवहन की समस्याये

देश के विस्तार और उसकी जनसख्या को देखते हुए सडक परिवहन की स्थिति सतोषजनक नही है। देश की ८२% जनसख्या एव विस्तृत ग्रामीण क्षेत्र की सेवा का भार पुरातन बैलगाडियो पर है जिनका रूप रग और ढाँचा अभी तक वही है जो सदियो पहले था। इसी भाँति देश मे आधुनिक सडको और यान्त्रिक वाहनो की स्थिति भी देश की बढती हुई माग के अनरूप नही हैं। इस धीमी प्रगति का मुख्य उत्तरदायित्व नीचे वर्णित समस्याओ पर है।

(१) अपर्याप्त एव बुरी सडकें—भारत मे प्रति वर्गमील क्षेत्र के लिये ½ मील सडक पथ हैं, जबकि ब्रिटेन म २½ मील फ्रास मे ३ मील सयुक्तराष्ट्र मे १ मील और लका में ½ मील सडक पथ है। जो कुछ सडक देश मे हैं उसकी लगभग दो तिहाई कच्ची सडक हैं जो वर्ष भर काम नही देती और उन पर पुल भी नही है अथवा दुर्बल हैं। हमारी सडको की चौडाई भी कम है।

(२) अपर्याप्त मोटर गाड़ियाँ—देश मे मोटर गाडियों का घनत्व भी अन्य देशों को अपेक्षा कम है। प्रति एक लाख जनसख्या के लिये यहाँ ८९ मोटरे हैं, जबकि सयुक्तराष्ट्र मे ३८,०००, कनाडा मे २५,०००, आस्ट्रेलिया मे २३,०००, ब्रिटेन मे ६६००, फ्रास मे १४०० तथा लंका मे ६०० मोटरें हैं। अतएव हमारी मोटर चलने योग्य सडको को २० से ४० प्रतिशत तक कार्यक्षमता प्रयोग मे नहो आती।

(३) असह्य कर भार—यह अधिकृत रूप से सिद्ध हो चुका है कि भारत मे मोटरगाडियो पर उच्चतम कर-भार है जो कि सचालन व्यय का २० प्रतिशत से ३५ प्रतिशत तक हो जाता है।

(४) वहन भार सीमायें—मोटर वाहन कानून के अन्तर्गत लगाई गई भार-वहन सीमायें वैज्ञानिक नहो हैं। अतएव देश की मोटर गाडियो का पूरा उपयोग नहीं होता है।

(५) प्रतिस्पर्द्धी इकाइयाँ—हमारे देश मे मोटर मालिको की एक बडी संख्या ऐसी है जिसके पास एक या दो मोटरें होती हैं। ऐसे छोटे चालक न तो सेवा का उचित स्तर स्थापित कर सकते हैं और न कुशल प्रबन्ध के नमूने ही। प्रातीय सेवा के लिये पांच मोटरो की और अन्तर्प्रान्तीय सेवा के लिये १० मोटरो की प्रतिस्पर्द्धी इकाइयो का सुझाव दिया जाता है।

(६) राष्ट्रीयकरण का भय—सन् १९४७ से अनेक राज्यो ने मोटर सेवा के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई। यद्यपि इसमे उन्हें पूर्ण सफलता नहो मिली, तो भी वे सडको पर सरकारी मोटरे लाने को लालायित रहे हैं। राष्ट्रीयकरण के इस भय के कारण इस व्यवसाय के स्वतन्त्र विकास मे भारी बाधा पडती है।

(७) साख सुविधाओ का अभाव, (८) राज्यो में असहयोग का अभाव, (९) अनुज्ञापत्र देने की कार्यविधि, (१०) अस्वाभाविक प्रशासन-संगठन, इसकी अन्य समस्यायें हैं।

भविष्य

गत वर्षों के अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि अकेली रेलें देश के बढ़ते हुये यातायात को ले जाने मे असमर्थ हैं। उनके विस्तार के लिये देश मे पूँजी का भी अभाव है। अतएव सडक परिवहन का यथाशक्ति विकास करके ही देश की परिवहन सम्बन्धी कमी की पूर्ति की जा सकती है। सडक परिवहन के विकास-विस्तार के लिये रेलो की अपेक्षा कम पूँजी और विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है। अनेक क्षेत्रो मे यातायात के घनत्व की कमी के कारण भी रेल-निर्माण लाभकर नहो है। अतएव सडक परिवहन के विकास की ओर विशेष ध्यान देना हमारे लिये अनिवार्य हो गया है। देश के विस्तृत ग्रामीण क्षेत्र का विकास सर्वथा सडक परिवहन के विकास से सम्बद्ध है। इस भाँति विविध पहलुओ से विचार करने के उपरान्त हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि भारतीय सडक परिवहन का भविष्य अत्यन्त उज्जवल है।

"सिन्ध घाटी में भारतीय सभ्यता के नवप्रभात से लेकर अब तक के लगभग पाँच हजार वर्ष की लम्बी अवधि में भारतीय जहाज परिवहन का उज्ज्वल व तेजस्वी इतिहास रहा है।"

—राधा कुमुद मुकर्जी

२०—भारतीय जहाज परिवहन

रूप-रेखा

१ राष्ट्रीय महत्व
२ प्राचीन वैभव
३ आधुनिक जहाज परिवहन का जन्म एवं विकास
४. परतन्त्र भारत मे धीमी प्रगति के कारण
५ स्वतन्त्र भारत की नीति
६ १९४७ से प्रगति
७ जहाज परिवहन कानून
८. जहाज परिवहन निगम
९. जहाज निर्माण
१०. शिक्षण सुविधायें
११. बन्दरगाह
१२ समस्यायें
१३ भविष्य।

राष्ट्रीय महत्व

जहाज परिवहन अति प्राचीन एवं आधारभूत व्यवसाय है। आधुनिक युग मे इसका सैनिक और असैनिक महत्व सभी स्वीकार करते है। समुद्र-बल आजकल विजयिनी शक्ति समझा जाता है। विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लगभग तीन चौथाई का परिवहन-जहाजो द्वारा होता है जिसम वे सब कच्चे पदार्थ भी सम्मिलित हैं जो आधुनिक उद्योग के आधार हैं। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ९५ प्रतिशत समुद्र के

मार्ग से ही होता है। समुद्री बेड़ा माल के विदेशी बाजारों के वितरण के लिए ही उत्तरदायी नहीं है, वरन् नए बाजार खोजने में भी अद्वितीय है। व्यापारिक असंतुलन को ठीक करने का भी जहाजी उद्योग एक महत्वपूर्ण साधन है। भारत को इस समय १५० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष जहाजी भाड़े के रूप में विदेशी जहाजी कम्पनियों को देने पड़ते हैं। विदेशी विनिमय अर्जित करने में जहाजी उद्योग का महत्व सभी स्वीकार करते हैं। आधारभूत उद्योग होने के नाते यह अनेक उद्योगों को जन्म देता है। यह विशाल उद्योग का जन्मदाता, विशेषीकरण का पोषक एवं आधुनिक सभ्यता का जीवन है। यह सभ्यता और संस्कृति के प्रसार एवं अन्तर्राष्ट्रीयकरण का साधन भी है। इन्हीं सेवाओं और विशेषताओं के कारण प्रत्येक देश अपने जहाज व्यवसाय को अमूल्य राष्ट्रीय सम्पत्ति, राष्ट्रीय नीति का शक्तिशाली यंत्र, अपने व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि का आवश्यक साधन तथा राष्ट्रीय संकटकाल एवं देश-रक्षा का द्वितीय बल समझता है। इसी कारण प्रत्येक देश की सरकार उसे प्रोत्साहन, आश्रय और आर्थिक सहायता देकर बढ़ावा देती है।

प्राचीन वैभव

जहाज-परिवहन और जहाज-निर्माण भारत के प्राचीनतम व्यवसाय हैं। भारतीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ भारतीय इतिहास में इनका भी क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। अंग्रेजी शासन के स्थापित होने के समय तक तीन हजार वर्ष तक भारत विश्व के सामुद्रिक राष्ट्रों में अग्रणी और महान सामुद्रिक शक्ति बना रहा। भारत का व्यापारिक सम्पर्क एशिया के ही नहीं यूरोप और अफ्रीका के देशों के साथ भी था। उस समय भारत का सामुद्रिक महत्व इतना अधिक था कि इतिहासकार इस देश को 'पूर्वी सागरों की रानी' कह कर पुकारते थे। पीगू, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, जापान इत्यादि देशों में प्राचीनकाल में भारतीय उपनिवेश थे और दक्षिणी चीन मलाया, प्रायद्वीप, अरब व ईरान के सभी मुख्य नगरों एवं अफ्रीका के सारे पूर्वी तट पर भारत की व्यापारिक बस्तियाँ थीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के प्रारम्भ में भी यह उद्योग समुन्नत अवस्था में था तथा भारतीय कलाकार ब्रिटिश नौकाधिकरण के लिये भी जहाज बनाते रहे। ये जहाज लोहे के जहाजों से कहीं अधिक सुदृढ़, सुन्दर और दीर्घजीवी समझे जाते थे।

आधुनिक जहाज परिवहन का जन्म एवं विकास

ब्रिटिश शासकों की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण अंग्रेजी शासन के सुदृढ़ होने के साथ ही साथ भारत के इस प्राचीन उद्योग के वैभव का सूर्य ढलने लगा और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह व्यवसाय लगभग मृतप्रायः हो गया तथा भारतीय व्यापार व भारतीय समुद्रों में ब्रिटिश जहाजी कम्पनियों का एकाधिकार स्थापित हो गया। १८६० और १९२५ के बीच १०२ भारतीय जहाजी कम्पनियाँ बनीं, किन्तु सबको सब ब्रिटिश एकाधिकार ने समाप्त करदी। केवल १९१९ में बनी सिंधिया कम्पनी बच रही जो वर्षों तक विदेशी कम्पनियों का सामना करती हुई अपने प्राण

बचा सकी। अतएव भारत मे आधुनिक जहाज परिवहन का इतिहास इसी कम्पनी के जन्म और विकास का इतिहास समझना चाहिये। आज भी यह देश के इस व्यवसाय की सबसे शक्तिशाली कम्पनी है।

सन् १९२४ मे इस कम्पनी का ब्रिटिश इन्डिया नामक विदेशी कम्पनी के साथ परस्पर सद्भाव बरतने का एक समझौता हो गया था, तो भी विदेशी कम्पनियाँ इसे नीचा दिखाने और हानि पहुँचाने का यत्न करती रही। इसी भाँति १९३३ का भोर-समझौता तथा १९३४ का त्रिदलीय समझौता कार्यान्वित नही किया गया। परिणाम यह हुआ कि १९३९ मे भारत का जहाजी बेडा १,५०,००० टन था जो १९४५ मे केवल आधा अर्थात् ७५,००० टन रह गया।

धीमी प्रगति के कारण

सन् १९१९ और १९४७ के बीच हमारे इस उद्योग की धीमी प्रगति के मुख्य कारण निम्नांकित थे :

(१) अवसर उपेक्षा,

(२) ब्रिटिश पोतचालन को आश्रय,

(३) भाडा द्वन्द्व युद्ध,

(४) भारत सरकार की प्रतिज्ञा-भंजक एव उदासीनता पूर्ण नीति, तथा

(५) आत्यगित फिरौती सिद्धान्त इत्यादि।

स्वतंत्र भारत की नीति

द्वितीय विश्व युद्ध काल की कठिनाइयो और परिवर्तित राजनीति के कारण सन् १९४४ म भारत सरकार ने एक जहाज परिवहन नीति पुनर्निर्माण समिति बिठाई। इस समिति ने स्वतन्त्र भारत की जहाज परिवहन नीति का १९४७ के अपने प्रतिवेदन मे समावेश किया, जो निम्नांकित थी :

(१) भारतीय व्यापार के सुचारु सचालन के लिये देश को २० लाख टन के जहाजो की आवश्यकता है और इसी लक्ष्य को सामने रख कर हम इस क्षेत्र मे बढना चाहिये।

(२) भारत के कुल समुद्रतटीय व्यापार को भारतीय जहाजों के लिये रक्षित कर देना चाहिये और सामुद्रिक (विदेशी) व्यापार मे भारतीय जहाजो को उपयुक्त भाग मिलना चाहिये।

(३) आगामी पांच अथवा सात वर्ष मे भारतीय जहाजो के लिये (क) भारतीय तटवर्ती व्यापार मे शत-प्रतिशत, (ख) निकटवर्ती (पाकिस्तान, ब्रह्मा, लका) व्यापार मे ७५%, (ग) दूरवर्ती व्यापार मे ५०%, तथा (घ) पूर्वी देशो के व्यापार मे ३०%, भाग प्राप्त करना चाहिये।

(४) देश के विदेशी व्यापार मे भाग लेने वाली जहाजी कम्पनियो को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलनी चाहिये।

(५) इन सुझावो को कार्यान्वित करने के लिये एक जहाज परिवहन बोर्ड बनाना चाहिये।

इन लक्ष्यो तथा उक्त नीति को राष्ट्रीय सरकार ने स्वीकार कर लिया और यही सिद्धान्त और यही लक्ष्य हमारी वर्तमान जहाज परिवहन नीति के आधार हैं। इसी नीति के अनुसार अगस्त १९५० मे देश के समुद्रतटीय व्यापार को देशी जहाजो के लिये रक्षित कर दिया गया था और अब २० लाख टन के लक्ष्य की ओर देश बढता जा रहा है।

१९४७ से प्रगति

१९४७ मे जहाज परिवहन नीति पुनर्निर्माण समिति के द्वारा बनाई गई नीति के अनुसार जहाज व्यवसाय की उन्नति एव विकास के लिये दो बातो की विशेष कमी पाई गई :—

(क) आवश्यक जहाजो की, और

(ख) शिक्षण प्राप्त योग्य व्यक्तियों की।

एक सम्मेलन बुलाकर इन कमियो को दूर करने के यत्न किये जाने लगे। १९४७ मे विशाखापत्तनम जहाज घाट खोला गया जहाँ १९४८ से बडे-बडे नए जहाज बनने लगे। उसी समय तीन जहाज निगमे बनाने का निर्णय किया, १९४८ में शिक्षण व्यवस्था की गई, १९५० मे समुद्रतटीय व्यापार के रक्षण की घोषणा की; १९५१ मे जहाजी कम्पनियो को आर्थिक सहायता देने के विचार से एक विशेष ऋण-व्यवस्था चालू की, १९५८ मे जहाज परिवहन कानून मे आवश्यक परिवर्तन किये तथा एक विकास निधि का निर्माण किया। एक राष्ट्रीय जहाज परिवहन बोर्ड भी स्थापित कर दिया गया है। विदेशो से नए-पुराने जहाज खरीदे गये हैं। इस भाँति विविध यत्नो द्वारा जहाजी बेड़े का आकार बढ़ाया गया है तथा इस उद्योग की अन्य भाँति प्रगति की गई है।

१९४६ मे भारत में १,२७,००० टन के ४६ जहाज थे। प्रथम योजना के प्रारम्भ मे ३,७३,००० टन के ६४ जहाज देश मे हो गये जिनमे से २,०६,००० टन के ७१ जहाज समुद्रतटीय व्यापार मे और १,६७,००० टन के २३ जहाज विदेशी व्यापार मे काम करते थे। प्रथम पचवर्षीय योजना मे ६ लाख टन का लक्ष्य रखा गया किन्तु वस्तुत: देश की जहाजी क्षमता ४,८०,००० टन हो सकी। उस समय जहाजो की संख्या १२६ थी जिनमे से २,४०,००० टन के ९० जहाज समुद्र तट पर और २,४०-००० टन के ३६ जहाज समुद्रपार क्षेत्र मे काम करते थे। द्वितीय योजना मे ९ लाख टन का लक्ष्य अपनाया जिसे प्राप्त कर लिया गया तथा तटीय जहाजी क्षमता ४,३६,००० टन और समुद्रपार की जहाजी क्षमता ४,६५,००० टन है। तृतीय योजना का लक्ष्य ११ लाख टन का है। वर्तमान जहाजी क्षमता ८१% निजी क्षेत्र मे और १९% सरकारी क्षेत्र में है।

इस भाँति गत दो योजनाओ मे इस व्यवसाय ने अच्छी उन्नति की है। तो भी हम अपने २० लाख टन के लक्ष्य से बहुत दूर हैं। अपने विदेशी व्यापार का केवल १०% देशी जहाज ले जाते हैं और शेष ९०% विदेशी जहाजो के हाथ मे है। विदेशी व्यापार के ५०% के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये हमे अपने विदेशी बेडे की शक्ति पाँच गुनी करनी चाहिये।

जहाज परिवहन कानून

जहाज परिवहन सम्बन्धी विविध नियमों और अनेक कानूनो के स्थान पर सन् १९५८ मे भारत सरकार ने केवल एक वणिकपोत कानून बना दिया है। इसके द्वारा एक पोतचालन विकास निधि और राष्ट्रीय पोत-मण्डल की स्थापना की गई है। राष्ट्रीय पोत-मण्डल देश की एक नीति निर्मात्री सर्वोच्च सस्था है।

जहाज परिवहन निगम

१९४७ म भारत सरकार ने सामुद्रिक व्यापार के तीन विभिन्न क्षेत्रो के लिये तीन निगमे बनाने का निश्चय किया था। इस निर्णय के अनुसार अब तक दो निगमो की स्थापना हो चुकी है। 'पूर्वी पोतचालन निगम' मार्च १९५० और 'पश्चिमी पोतचालन निगम' जून १९५६ मे बनो थी। पूर्वी निगम के जहाज भारत-जापान, भारत-आस्ट्रेलिया, भारत सिंगापुर, भारत-पूर्वी अफ्रीका तथा भारत-अण्डमन मार्गों पर चलते हैं। पश्चिमी निगम की सेवा भारत-ईरान की खाडी, भारत-लालसागर, भारत-पोलेड और भारत-रूस मार्गों पर चालू है। तीसरी निगम बनने पर सयुक्त राष्ट्र तथा यूरोप के कुछ देशो को सेवा प्रदान करने की योजना थी, किन्तु अब पूर्वी और पश्चिमी निगमो को एक मे मिला दिया गया है।

जहाज निर्माण

देश मे समुद्रतटीय व्यापार मे काम करने योग्य छोटे जहाज बनाने के कई कारखाने बम्बई, कलकत्ता व कोचीन मे हैं। ८,००० टन के अथवा और भी बडे जहाज बनाने का १९३७ से पूर्व कोई कारखाना नही था। सिंधिया कम्पनी के प्रयत्न से बडे जहाज बनाने का एक कारखाना १९४७ मे विशाखापत्तनम मे बना जिसने १९४८ मे उत्पादन प्रारम्भ किया। तब से यहाँ प्रतिवर्ष दो जहाज बनकर निकलते रहते हैं। तृतीय योजना में कोचीन में एक दूसरा कारखाना और खोला जाएगा।

शिक्षण सुविधाये

गत वर्षों में प्रशिक्षित कर्मचारियों की संख्या बढाने के भारत सरकार ने भरसक यत्न किये है। इस समय चार प्रकार की शिक्षण सुविधाएँ देश में उपलब्ध हैं (१) डफरिन शिक्षण पोत जहाँ नौकातल अधिकारियो को समुद्रगमन से पूर्व का शिक्षण दिया जाता है, (२) सामुद्रिक इंजीनियरी शिक्षण निदेशालय जहाँ सामुद्रिक इंजीनियरो को समुद्रगमन पूर्व का शिक्षण दिया जाता है, (३) नाविक तथा इंजीनियरी कालेज, बम्बई एव सामुद्रिक इंजीनियरी कालेज, कलकत्ता, जहाँ नौकातल अधिकारियों और सामुद्रिक इंजीनियरों को समुद्रगमन पश्चात् शिक्षण

दिया जाता है, तथा (४) गोदी कर्मचारियों (Ratings) के लिए तीन शिक्षण पोत हैं। (भद्र शिक्षण पोत कलकत्ता में, मेखला शिक्षण पोत विशाखापत्तनम में और नौलक्खी शिक्षण पोत नवलक्खी स्थान पर सौराष्ट्र में)।

बन्दरगाह

जहाज परिवहन का सुचारु संचालन विकसित बन्दरगाहों और उन पर पर्याप्त स्थान एवं घाट सुविधाओं पर निर्भर है। इस समय देश में ६ बड़े बन्दरगाह हैं: बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, विशाखापत्तनम, कोचीन और कांधला। इनकी कार्य-क्षमता २८८ लाख टन है: बम्बई, ११८ लाख टन, कलकत्ता ९२ लाख टन, मद्रास २४ लाख टन, कोचीन १८ लाख टन, विशाखापत्तनम २५ लाख टन तथा कांधला ११ लाख टन।

इन बड़े बन्दरगाहों के अतिरिक्त देश में लगभग २२५ छोटे बन्दरगाह हैं जिनमें से १५० चालू स्थिति में हैं और शेष सुप्तावस्था में। ये सब मिल कर लगभग ५० लाख टन व्यापार के लिये उत्तरदायी हैं। इनमें से १८ मंझले बन्दरगाह हैं और शेष छोटे। इन बन्दरगाहों का प्रबन्ध राज्य की सरकारों के ऊपर है। बन्दरगाहों के विकास कार्यों में केन्द्र और राज्य सरकारों के यत्नों में एकीकरण लाने के विचार से १९५० में भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय बन्दरगाह बोर्ड स्थापित कर दिया था।

समस्यायें

भारतीय जहाज परिवहन को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसकी मुख्य समस्यायें निम्नांकित हैं: (१) विदेशी जहाजों की प्रतियोगिता (२) ध्वजा भेदभाव, (३) जहाजों की मूल्य वृद्धि, (४) बढ़ते हुए संचालन व्यय, (५) तड़ाकपोतों, यात्री पोतों और ट्राम्प जहाजों का अभाव, (६) रेल प्रतियोगिता, (७) श्रम की अवरोधात्मक नीति, (८) विदेशी विनिमय की कठिनाइयां तथा (९) बन्दरगाहों पर स्थानाभाव एवं भीड़-भाड़ और जमघट।

भविष्य

सन् १९४७ से यह व्यवसाय उत्तरोत्तर उन्नति करता गया है। यद्यपि भारतीय जहाजी बेड़ा अभी विश्व के केवल ०·९९% के बराबर है जबकि भारत का विदेशी व्यापार विश्व का १½% है, तो भी हमारे बेड़े का ५५% दस वर्ष से कम अवस्था का है, जबकि विश्व के बेड़े का केवल ४६% ही दस वर्ष से कम आयु का है। जिस गति से हम उन्नति करते हैं उसी गति से उन्नति करते रहें जो कि स्वाभाविक है तो कुछ ही काल में भारतीय वणिकपोत अपने प्राचीन वैभव को प्राप्त कर सकता है।

"मनुष्य को उपलब्ध विभिन्न साधनो में से विमान परिवहन सबसे नवीनतम, सबसे अधिक विकासशील, सबसे अधिक चुनौती देने वाला तथा हमारे आर्थिक एवं सास्कृतिक जीवन में सबसे अधिक क्रान्ति लाने वाला है।"

—फेयर एवं विलियम्स

२१—भारतीय विमान परिवहन

रूप-रेखा

१. प्राचीन विमान
२. आधुनिक विमान
३. विमान परिवहन की विशेषताएं
४. भारत मे विकास
५. राष्ट्रीयकरण
६. विमान परिवहन निगम
७. शिक्षण सुविधाएं
८. उड़ान क्लब
९. हवाई अड्डे
१०. विमान परिवहन समझौते
११. भविष्य।

प्राचीन विमान

भारतीय पौराणिक कथाओ मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे यहाँ प्राचीन काल मे विमान द्वारा यात्रा करने के प्रमाण मिलते हैं। देवता लोग बहुधा विमान द्वारा ही यात्रा करते थे। अयोध्या के लोक प्रिय राजा राम लंका से पुष्पक विमान मे बैठकर अयोध्या लौटे थे। उनकी सारी सेना भी उसी मे बैठकर आई थी। इसमे तत्कालीन विमानो के आकार का भी अनुमान होता है। रामायण मे कई स्थलो पर आकाश मार्ग से यात्रा करने का विवरण मिलता है।

यूनानी कथाओ मे भी विमान सम्बन्धी संकेत मिलते हैं। एक व्यक्ति ने मोम के पंख लगा कर जेल से भागने का प्रयत्न किया था। परियाँ उडकर ही एक स्थान से दूसरे स्थान को सदैव जाती थी।

आधुनिक विमान

उन प्राचीन विमानो का अब कुछ भी अवशेष नही है। आधुनिक युग मे उड़ने की ओर प्रथम प्रयत्न गुब्बारा द्वारा किया गया। जर्मनी के जैपलिन नामक विद्वान ने सर्व प्रथम इस यत्न मे सफलता प्राप्त की और लोगो के सन्मुख 'जैपलिन' नाम के विमान का २ जुलाई १६०० को प्रदर्शन किया। इसकी चाल २० मील प्रति घण्टा थी। जर्मनी की देखा-देखी अन्य देशो की भी इस ओर रुचि बढ़ी और बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक मे अनेक विमान बनाए गए। १७ दिसम्बर १६०३ को राइट ब्रादर्स ने प्रथम शक्ति-चालित विमान का आदर्श उपस्थित किया। १६१० मे जर्मनी मे विमानो का प्रयोग बडे पैमाने पर किया जाने लगा। धीरे-धीरे विश्व भर मे इनका प्रचार हो गया और अब विमान डाक, माल और यात्री ले जाने के अतिरिक्त सेना का भी एक महत्वपूर्ण अंग बन गए हैं।

विमान परिवहन की विशेषताएँ

विमान परिवहन एक नवीनतम साधन है जिसका गत चालीस वर्ष मे ही विशेष विकास हुआ है। अब इसका महत्व दिनो-दिन बढता जा रहा है। इस महत्व वृद्धि के कारण इसके निराले गुण हैं।

(१) अधिक चाल इसका सबसे बडा गुण है। इसकी साधारण चाल रेल मोटर की चाल से दस गुनी है। १४००-१५०० मील प्रतिघण्टा की चाल से चलने वाले विमान ससार मे है। इनकी चाल दिनो-दिन बढती जा रही है। हाल मे एक राकेट विमान ने २६५० मील की चाल प्राप्त कर ली है (२) भौगोलिक बाधाओं का निराकरण इसका दूसरा बडा गुण है। वन, पर्वत, रेगिस्तान, दलदल, नदी, नाले, बर्फीले प्रदेश, समुद्र इत्यादि विमान के मार्ग मे कोई बाधा उपस्थित नही करते। (३) बहुमूल्य एव सकटकालीन वस्तुओ के परिवहन, (४) औद्योगिक विकेन्द्रीकरण, (५) औद्योगिक प्रबन्ध, (६) व्यापारिक विकास-विस्तार, (७) सैनिक सेवा, (८) शान्ति स्थापन, तथा (६) स्वास्थ्य, कृषि व वन रक्षा के दृष्टिकोण से भी विमान की सेवा अद्वितीय है।

भारत मे विमान परिवहन का विकास

यद्यपि प्रयोगात्मक उडानें १६११ में की जाने लगी थी, किन्तु आधुनिक विमान परिवहन का वास्तविक आरम्भ भारत में सन् १६२७ मे हुआ जब कि भारत सरकार ने अपने नागरिक उड्डयन विभाग की स्थापना की। तभी से यहाँ हवाई अड्डे बनने लगे और सरकारी सहायता से उडान क्लब स्थापित होने लगे। १६२६ में ब्रिटेन, फ्रास तथा हालैंड की साम्राज्य वायु-सेवा के आगमन पर यहाँ अनुसूचित विमान

सेवा का प्रथम बार आविर्भाव हुआ। आगामी दस वर्ष मे देश में तीन विमान कम्पनियाँ बनी जो डाक और यात्री ले जाने लगी। इनमे से एयरसर्विसेज आफ इण्डिया नामक कम्पनी जो १६३६ मे बनी थी १६३६ मे बन्द हो गई। इस भाँति द्वितीय युद्ध से पूर्व केवल दो कम्पनियाँ विमान सेवा दे रही थी। प्रथम ताता सन्स लिमिटेड थी जो १६३२ में बनी थी और दूसरी इण्डियन नेशनल एयरवेज लि० थी जो १६३३ में बनी थी। ये भारतीय कम्पनियाँ साम्राज्य वायु सेवा के केवल एक उपाग के समान थी। उनका स्वतंत्र विकास नहीं हुआ था।

द्वितीय युद्ध काल मे इन कम्पनियो को अच्छा अवसर मिला। ये देश-रक्षा और सरकारी काम में लग गईं। अधिक मार्गो पर एवं अधिक घनत्व के साथ उनके विमान चलने लगे। युद्ध सम्बन्धी कई विशेष कार्य भी उन्हे सोपे गए, दक्षिणी अरब वायु मार्ग का सर्वेक्षण कराया गया, इराक को सेना, अस्त्र-शस्त्र, एव अन्य युद्ध सम्बन्धी सामग्री भिजवाई गई; ब्रह्मा से शरणार्थियो को मॅगाया गया इत्यादि। इन सेवाओ के बदले भारत सरकार ने उन्हे अच्छा पारिश्रमिक दिया जिससे कम्पनियो की आर्थिक स्थिति सुदृढ हो गई। १६३६ और १६४५ के बीच उडाने १७ लाख से ३३ लाख, यात्री ३ ५ हजार से २४ हजार तथा माल यातायात ६८ हजार पौंड से बढकर ८५ लाख पौंड हो गया। इस भाँति युद्ध काल में भारतीय कम्पनियो को अपनी स्थिति सुधारने, अनुभव प्राप्त करने, नए जहाज चलाने और विमान चालको और अन्य लोगो को शिक्षण देने का स्वर्ण अवसर मिला। इससे उनका कार्य कौशल बढा और मान वृद्धि भी हुई। अब यह व्यवसाय बडा आकर्षक एवं लाभ कर माना जाने लगा।

युद्धोत्तर काल मे विमान सेवा पर सरकारी नियत्रण आवश्यक समझ कर जुलाई १६४६ मे विमान परिवहन लाइसेन्स बोर्ड की स्थापना की गई। १६४७ के प्रारम्भ तक इस बोर्ड ने २१ कम्पनियो को लाइसन्स दे दिए, यद्यपि देश मे ४ से अधिक कम्पनियो के लिए काम नही था। देश विभाजन के कारण कुछ दिन इन्हे काम मिलता रहा, किन्तु तदुपरान्त इन कम्पनियो की आर्थिक स्थिति गिरने लगी। अप्रैल १६४६ मे सरकार ने डाक का वायु महसूल बन्द कर दिया, मार्च १६४६ मे तेल के आयात कर मे ६ आने गैलन छूट दे दी जिसे कालान्तर मे बढाकर ६ आने गैलन कर दिया तथा कम्पनियों को ४० लाख रुपये की आर्थिक सहायता भी देने लगी। तो भी स्थिति गिरती ही गई और सरकार को एक जाँच समिति नियुक्त करनी पडी।

राष्ट्रीयकरण

फरवरी १६५० मे भारत सरकार ने विमान परिवहन जाँच समिति बिठाई जिसने सितम्बर मे अपने सुझाव उपस्थित करते हुए विमान कम्पनियो की गिरती हुई आर्थिक स्थिति के कारणो पर प्रकाश डाला और राष्ट्रीयकरण के गुण-दोषो पर सविस्तार विचार किया। समिति के सुझावो पर लगभग दो वर्ष तक गम्भीरतापूर्वक विचार होना रहा। जनवरी १६५१ मे भारत सरकार द्वारा बुलाए गए एक विमान चालको

के सम्मेलन मे विचार विमर्श हुआ तथा १९५२ मे योजना आयोग ने भी इस प्रश्न पर सविस्तार विचार किया। अन्त म जून १९५३ मे विमान परिवहन निगम कानून बनाकर विमान सेवा के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई गई। इसके मुख्य लाभ निम्नांकित बताए गए . (१) कार्य-केन्द्रो, साज-सज्जा तथा कर्मचारी वर्ग का अधिकतम उपयोग, (२) देश-रक्षा एव सकटकालीन प्रयोग, (३) उच्च कोटि की एवं सस्ती-सेवा, (४) दूरदर्शितापूर्ण नीति-निर्माण, (५) नए आविष्कारो से लाभ उठाना, (६) स्थायी व्यय मे कमी इत्यादि।

विमान परिवहन निगम

राष्ट्रीयकरण के उपरान्त विमान सेवा-संचालन के लिए दो निगम स्थापित की गई। एक *भारतीय विमान परिवहन निगम* और दूसरी *अन्तर्राष्ट्रीय विमान निगम*। प्रथम देश के अन्तर्गत और द्वितीय देश के बाहर सेवा प्रदान करती है। प्रथम का मुख्यालय नई दिल्ली और द्वितीय का बम्बई है। भारतीय विमान निगम बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली केन्द्रो से अपनी सेवा सचालित करती हैं। दोनो निगम *स्वायत्त सस्थाये हैं किन्तु केन्द्रीय सरकार की देख-रेख मे काम करती हैं।* दोनो के बीच एकीकरण स्थापित करने के लिए विमान परिवहन परिषद की स्थापना की गई है। प्रत्येक निगम की एक-एक सलाहकार समिति तथा एक-एक श्रम समिति है। अन्तर्राष्ट्रीय विमान निगम १९ देशो को विमान सेवा से जोडती है।

शिक्षण सुविधाएँ

इलाहाबाद (बमरौली) मे विमान सेवा सम्बन्धी विविध प्रकार के अधिकारियो को शिक्षण देने का केन्द्र है जहाँ विमान चालक, विमान इन्जीनियर, हवाई अड्डे अधिकारी, नियत्रण सचालक, अग्नि सचालक, रेडियो संचालक, रेडियो-शिल्पी, तथा चालक शिक्षक इत्यादि पदाधिकारियो के लिए *शिक्षण सुविधाएँ* उपलब्ध हैं। यहाँ से प्रति वर्ष लगभग ३०० शिक्षार्थी शिक्षण पाकर निकलते हैं।

उड़ान क्लब

देश मे १६ सरकारी सहायता प्राप्त उड़ान क्लब हैं। इनके अतिरिक्त पूना, बंगलौर और इलाहाबाद मे तीन सरकारी उप-उडान केन्द्र (Gliding Centres) और *नई दिल्ली व पिलानी में दो सरकारी सहायता प्राप्त उप-उडान केन्द्र* और हैं। इन केन्द्रो मे भी विमान चालको को शिक्षण सुविधाएँ प्राप्त हैं।

हवाई अड्डे

भारत सरकार का नागरिक उड्डयन विभाग ८५ हवाई अड्डो का नियंत्रण और सचालन करता है। इनमे से तीन, बम्बई (शान्ताक्रूज), कलकत्ता (दमदम) और दिल्ली (पालम) अन्तर्राष्ट्रीय अड्डे हैं और शेष राष्ट्रीय। हल्द्वानी (उ० प्र०), तुलीहल (मनीपुर), रक्सौल (बिहार), जोगबनी (बिहार) और बिहाला (प० बंगाल) पाँच नए अड्डे और बन रहे हैं।

विमान परिवहन समझौते

अफगानिस्तान, आस्ट्रेलिया, लंका, मिश्र, फ्रास, इटली, जापान, लेबनान, नीदरलैंड, पाकिस्तान, फिलिप्पाइन, स्वीडन, स्विट्जरलैंड, थाईलैंड, इराक, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस के साथ भारत के विमान परिवहन सम्बन्धी समझौते हो चुके हैं।

भविष्य

विमान इस युग का एक विलक्षण साधन है। इसका प्रयोग दिनो-दिन बढ़ता जा रहा है। भारत जैसे विशाल देश के लिए उसकी सेवा का लाभदायक उपयोग संभव है। भारत आज अपने पुनर्निर्माण मे लगा हुआ है। इस राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक पुनर्गठन के महान कार्य को सफल बनाने के लिए विमान-सेवा का बहुमुखी प्रयोग संभव है। अतएव इस देश मे उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। भारत के भविष्य के बनाने मे विमान की निम्नाकित सेवाये लाभदायक है : (१) सोना, चाँदी, सरकारी ऋण पत्र इत्यादि बहुमूल्य वस्तुओ का परिवहन, (२) वायदा व्यापार बढाने मे, (३) संकटकालीन (बाढ, अकाल, भूचाल, रोग, भू-पतन) वस्तुओ का परिवहन, (४) औद्योगिक प्रबन्ध, (५) ताजे फलो का व्यापार-विस्तार, (६) सर्वेक्षण, तथा (७) आन्तरिक शान्ति।

विमान का प्रयोग फसलो के रोग निवारण, टिड्डी से बचाव, वन रक्षा, स्वास्थ्य सुधार के लिए भी किया जा सकता है।

इस समय विमान सेवा की ६०% आय यात्री यातायात से प्राप्त होती है। अतएव विमानो का निर्माण केवल यात्री यातायात की सुख-सुविधाओं का ध्यान रख कर किया जाता है। अब ऐसे विमान बनाने का यत्न किया जा रहा है जो केवल माल ले जायेंगे। यह आशा की जाती है कि १९६१ मे ऐसे विमान बन कर चलने लगेंगे और माल का विमान भाड़ा लगभग ४०% कम हो जाएगा। भाडे मे ४०% कमी से माल की मात्रा मे ३०० से ५००% की वृद्धि की संभावना है। ऐसे विमानो के बनने से वह माल जो अब महीनो मे उपभोक्ता अथवा विक्रेता के पास पहुँचता है कुछ दिनो मे ही पहुँचने लगेगा। फुटकर विक्रेताओ को तब बहुत कम माल संचय करके रखना पडेगा, क्योंकि उन्हें एक सप्ताह की बिक्री से अधिक माल भण्डारो मे भरने की आवश्यकता न रहेगी। नाशवान पदार्थों का बाजार हजारो मील के विस्तृत क्षेत्र मे फैल जाएगा। भारतीय आम विमान द्वारा ब्रिटेन जाने भी लगे हैं। उन्हे हम नए जहाजो से और अधिक मात्रा मे यूरोप और अमेरिका की राजधानियो के नगरों मे नियमित रूप मे भेजने लगेंगे। कुछ अत्यन्त कोमल यंत्र-उपकरण होते हैं जिनके रेल अथवा जहाज से भेजने के लिए बड़े कीमती संवेष्टन की आवश्यकता होती है। नए विमानों से इन यंत्रो को सस्ते संवेष्टन द्वारा भेजा जा सकेगा। यह उद्योगपति के लिए भारी सुविधा की बात होगी।

---

५. सामाजिक सेवाएँ
   (क) शिक्षा प्रसार
   (ख) स्वास्थ्य सुधार
६. योजना की प्रगति
   (क) प्रथम योजना
   (ख) द्वितीय योजना
   (ग) तृतीय योजना के ध्येय।

नियोजन का आविर्भाव

आर्थिक नियोजन का जन्मदाता रूस है। राजनैतिक क्रान्ति में सफल होने के उपरान्त रूस ने आर्थिक क्रान्ति की ओर पग बढ़ाया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने आर्थिक विकास का पंचवर्षीय कार्यक्रम उठाया। इस कार्यक्रम में उन्हें अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। प्रथम पंचवर्षीय कार्यक्रम के सफल होने के उपरान्त कालान्तर में ऐसे ही पंचवर्षीय कार्यक्रम बनाये। अब तक वहाँ ७ पंचवर्षीय योजनायें बनाई जा चुकी हैं, यद्यपि अन्तिम योजना की अवधि ५ वर्ष के स्थान पर ७ वर्ष करदी गई है।

घोर आर्थिक मंदी के वर्षों में रूस की उत्पादन वृद्धि और आर्थिक सफलता ने पूँजीवादी देशों को आश्चर्य में डाल दिया। अतएव संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी एवं अन्य पूँजीवादी देशों ने आर्थिक नियोजन के पंचवर्षीय कार्यक्रम के प्रयोग किये। यद्यपि पूँजीवादी देशों के ये कार्य-क्रम उतने सफल नहीं हुये जितने रूस के। तो भी पंचवर्षीय योजना आर्थिक विकास का एक सार्वभौमिक साधन माना जाने लगा।

भारत जैसे परतन्त्र एवं पिछड़े हुये देश का भी इस ओर ध्यान गया। अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के तत्वावधान में १९३८ में राष्ट्रीय नियोजन समिति नियुक्त हुई जिसने देश के साधनों का पूर्ण उपयोग करके नियोजित आर्थिक विकास पर जोर दिया। द्वितीय विश्व युद्ध-काल में भारत सरकार ने कई पुनर्निर्माण समितियाँ बनाईं और जुलाई १९४४ में एक नियोजन विभाग (Department or Planning) की स्थापना की। इन्हीं वर्षों में कई गैर सरकारी योजनायें भी बनाईं गईं जिनमें से बम्बई योजना, जन-योजना एवं गाँधी योजना विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त योजनाएँ युद्धोत्तर कालीन पुनर्निर्माण के निमित्त बनाई गई थी। देश के स्वतन्त्र होने के उपरान्त हमारा ध्यान देश के दीर्घकालीन विकास की ओर गया। इसी समय राष्ट्रीय नियोजन समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ जिसने देश के दीर्घकालीन विकास का मार्ग बतलाया। मार्च १९५० में भारत सरकार ने योजना आयोग (Planning Commission) की नियुक्ति की जिसे देश के साधनों के पूर्ण और संतुलित प्रयोग द्वारा योजना बनाने का काम सौंपा गया। योजना आयोग ने जुलाई

लक्ष्य की प्राप्ति है। ये लक्ष्य राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय और आर्थिक संतुलन से सम्बन्धित हैं।

(क) प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे हमने अनुमान लगाया था कि सन् १९७१-७२ तक हमारी राष्ट्रीय आय दुगुनी हो जायेगी, किन्तु द्वितीय योजना में हमारा यह लक्ष्य सन् १९६७-६८ तक प्राप्त होने की सम्भावना बताई गई।

(ख) इसी भांति प्रथम योजना मे सन् १९७७-७८ तक प्रति व्यक्ति आय दुगुनी होने का अनुमान लगाया गया था। द्वितीय योजना में उसे सन् १९७३-७४ तक ही प्राप्त कर लेने को सम्भावना बताई गई।

(ग) देश की अर्थ व्यवस्था को संतुलित रूप देने के विचार से हमने सन् १९७५-७६ तक राष्ट्रीय आय मे कृषि का अनुपात ६९-७० से घटा कर ६०% करने का लक्ष्य अपनाया है। इस भांति हम अपनी राष्ट्रीय और व्यक्तिगत आय को उत्तरोत्तर बढाते चले जाएंगे और साथ-साथ देश वासियो का जीवन स्तर ऊंचा होता चला जायेगा।

विकास व्यवस्था एवं पूर्वाधिकार

ऊपर बताये गये उद्देश्यो और लक्ष्यो के प्राप्त करने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि लोगो का उपभोग्य-स्तर उत्तरोत्तर बढता चला जाये। इसके लिये निरन्तर उत्पादन वृद्धि की आवश्यकता है। इस विकास व्यवस्था को इस भांति हमे आयोजित करना है कि देश की अर्थ-व्यवस्था तीव्रता से आगे बढ़ते हुये स्वावलम्बन और स्वतन्त्र विकास की स्थिति प्राप्त कर सके। इसके लिये निम्नांकित बातें आवश्यक हैं .

(क) विनियोग दर—विनियोग की दर उत्तरोत्तर ऊंची होती जानी चाहिये। प्रथम योजना काल मे पूंजी विनियोग की दर ५ प्रतिशत से बढकर ७ प्रतिशत हो गई। द्वितीय योजना के अन्त मे इसे ११%, तृतीय के अन्त मे १४%, चतुर्थ के अन्त मे १६% और पंचम योजना के अन्त मे १७% तक बढा लेने का अनुमान है।

(ख) मूल एवं भारी उद्योग—प्रगतिशील विकास के लिये यह आवश्यक है कि इस्पात, कोयला, शक्ति एवं मशीन निर्माण इत्यादि आधार-भूत उद्योगो को दृढता के साथ स्थापित किया जाय। इन उद्योगो की उन्नति और विकास के बिना हमारे देश के समुचित औद्योगीकरण के स्वप्न पूरे नही हो सकते।

(ग) कृषि—जिन क्षेत्रो मे उपलब्ध साधनो के उपयोग से अधिकतम उन्नति सम्भव है, उन क्षेत्रो मे पूर्णतम भौतिक विकास की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये देश के ग्रामीण क्षेत्र का विकास, स्थानीय साधनो और ग्रामीण जनता के अधिकाधिक उपयोग से सम्बद्ध है। वर्तमान स्थिति म खाद्यान्न का पर्याप्त उत्पादन सर्वोपरि प्रश्न है। साथ-साथ हमे कृषि के विविधीकरण और गहन कृषि की ओर भी ध्यान देना है। खाद्यान्न के उत्पादन के अतिरिक्त देश के पशुधन की उन्नति, दुग्ध पदार्थों का उत्पादन

समाजवादी समाज का लक्ष्य अपनाया। प्रथम योजना के प्रारम्भ से द्वितीय योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय मे ४२%, प्रति व्यक्ति आय मे २०%; प्रति व्यक्ति उपभोग मे १६%, कृषि उत्पादन मे ४०%, औद्योगिक उत्पादन में ५१% की वृद्धि हुई। लोहे इस्पात के उत्पादन में ६३%, मशीनो के उत्पादन में ४००%, रासायनिक पदार्थों के उत्पादन में २०० प्रतिशत की वृद्धि आंकी गई। अनेक उद्योगो का विस्तार किया गया और कई नये उद्योग स्थापित किये गये। देश की अर्थ-व्यवस्था विकास क्रम के पथ पर दृढता के साथ बढ़ती हुई दिखाई देती है।

तृतीय योजना द्वितीय की अपेक्षा लगभग दुगुनी बनाई गई है और इसमें पहले से अधिक सफलता की भी सम्भावना है। आगामी योजनायें भी इसी भाँति बडा रूप धारण करती जाएंगी।

---

(१) "तीसरी पचवर्षीय योजना, हमारे बुनियादी सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति के क्षेत्र मे एक कठिन परिस्थिति की परिचायका है।" —वी० टी० कृष्णमाचारी

(२) "तीसरी योजना का एक मुख्य लक्ष्य यह है कि देश आत्म-चालित ढग से प्रगति करने के क्षेत्र मे काफी आगे बढ जाए। मूलत: प्रगति को आत्म-चालित बनाने का अभिप्राय यह है कि राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था मे बचत और पूंजी-विनियोग की मात्रा इतनी बढ जाए कि राष्ट्र की आय मे निरन्तर और अधिकाधिक वृद्धि होती चली जाए।" —योजना आयोग

२३—तृतीय पंचवर्षीय योजना

रूप-रेखा

१. प्रथम पंचवर्षीय योजना
    (क) उद्देश्य
    (ख) व्यय
    (ग) सफलता
    (घ) विफलता
२. द्वितीय पंचवर्षीय योजना
    (क) उद्देश्य
    (ख) व्यय
    (ग) सफलता
    (घ) विफलता
३. तृतीय पचवर्षीय योजना
    (क) उद्देश्य
    (ख) व्यय

(ग) साधन
(घ) विकास कार्य और लक्ष्य

मार्च १९५० मे योजना आयोग की नियुक्ति के उपरान्त भारतवर्ष मे पंचवर्षीय योजनाओ का आविर्भाव हुआ। अब तक दो पंचवर्षीय योजनायें पूरी हो चुकी हैं और तृतीय योजना का कार्यक्रम बनाया जा चुका है। इस योजना को समझने के लिये प्रथम और द्वितीय योजनाओ की पृष्ठ भूमि, उद्देश्य, लक्ष्य एव प्रगति इत्यादि समझ लेना आवश्यक है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

१ अप्रैल १९५१ से ३१ मार्च १९५६ तक प्रथम योजना की अवधि मानी गई है। यद्यपि इसका कार्यक्रम १ अप्रैल १९५१ से प्रारम्भ हो गया था, किन्तु योजना का प्रारूप (Draft) जुलाई १९५१ मे और अन्तिम स्वरूप दिसम्बर १९५२ मे प्रकाशित हुआ।

उद्देश्य—(१) इस योजना का मुख्य उद्देश्य युद्ध और देश-विभाजन जनित असंतुलन को मिटाकर देश की अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करना था। इसी कारण इस योजना को पुनस्सस्थापन योजना (Rehabilitation Plan) कहा जाता है।

(२) देश का बहुमुखी एव संतुलित विकास करना और एक विकास-क्रम को जन्म देना इसका दूसरा बडा उद्देश्य था। विकास द्वारा राष्ट्रीय आय मे वृद्धि और लोगो के जीवन-स्तर म सुधार आवश्यक समझा गया।

(३) देश के सामने उस समय अनेक समस्यायें थी। जिनमें खाद्य, वस्त्र, मुद्रा स्फीति, औद्योगिक कच्चे माल, व्यापारिक घाटे इत्यादि उल्लेखनीय हैं। विस्थापितो की समस्या और औद्योगिक क्षमता के उपयोग की समस्या भी कम महत्व की नही थी।

व्यय—योजना के मूल अनुमान के अनुसार २०६९ करोड रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया था जिसे कालान्तर मे बढाकर २३५६ करोड रुपये करना पडा। यह अनुमान केवल सरकारी क्षेत्र के थे। सरकारी क्षेत्र मे वास्तविक व्यय १९६० करोड रुपये हुआ। व्यक्तिगत क्षेत्र मे १८०० करोड रुपये के विनियोग का अनुमान लगाया गया है। इस भाँति ३७६० करोड रुपए इस योजना पर व्यय हुये।

सफलता—इस अवधि मे राष्ट्रीय आय मे १८% और प्रति व्यक्ति आय मे ११% की वृद्धि हुई। कृषि उत्पादन १९% और औद्योगिक उत्पादन ४०% अधिक हो सका। खाद्यान्न के उत्पादन मे ३०%, रुई मे ३०½% और जूट के उत्पादन मे २८% की बढोत्तरी आंकी गई। खाद्य, वस्त्र, मुद्रा स्फीति औद्योगिक कच्चे माल एव विस्थापितो की समस्याओ पर देश काबू कर सका। अर्द्ध-प्रयुक्त औद्योगिक क्षमता का भी अधिकतम उपयोग किया गया। देश मे आधारभूत उद्योगों की नीव पडी।

सफलता—द्वितीय योजना काल मे देश की राष्ट्रीय आय २०% और प्रति व्यक्ति आय ६% बढ़ी, कृषि उत्पादन २१% अधिक हो गया ; खाद्यान्न के उत्पादन मे २५% और अन्य कृषि जन्य पदार्थों के उत्पादन मे १६% की वृद्धि आँकी गई। औद्योगिक उत्पादन ३३% अधिक हो गया। मशीनो का उत्पादन ११५% अधिक हो गया। देश में कुछ महत्वपूर्ण आधारभूत उद्योगो की नींव पडी। सरकारी क्षेत्र मे राउर केला, भिलाई और दुर्गापुर इस्पात के कारखानो की स्थापना हुई और उन्होने उत्पादन प्रारम्भ किया। राची के निकट हतिया नामक स्थान पर भारी मशीनें बनाने के कारखाने और भोपाल मे बिजली के बडे कारखाने की नीव पटी। कोयला धोने के दो कारखाने (दुग्दा और भोगू डीह) और देश का दूसरा डी० डी० टी० का कारखाना (अल्वाये) एव तीन नए खाद बनाने के कारखाने खोले गये। एक दर्शन यन्त्रो के शीशे बनाने का कारखाना नैनी मे खोला गया जिसे अब दुर्गापुर ले जाया गया है।

विफलता—द्वितीय योजना के प्रारम्भ मे ही कुछ लोगो ने इसे आशावादी योजना कहा था। अनुभव से यह बात पूर्णतः सिद्ध हो गई। सन् १९५८ मे विदेशी विनिमय, विदेशी सहायता और अन्य अनेक कारणो से योजना में दो बार संशोधन करने पडे और केवल (Core) योजना के मूल भाग को पूर्ण करने का निश्चय किया गया। इसी वर्ष खाद्यान्न के भाव एक आश्चर्यजनक सीमा तक चढ गये। इसका कारण आवश्यकता से अधिक घाटे की अर्थ-व्यवस्था का उपयोग बताया गया। हमारी खाद्य समस्या, बेकारी की समस्या और मकानो की समस्या भयानक रूप धारण करके हमारे सामने आ खडी हुईं। परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयां भी देश के विकास कार्यों में बाधा उपस्थित करने लगी। देश में कई आवश्यक वस्तुओ (लोहा इस्पात, सीमेन्ट, चीनी, वस्त्र) का अभाव हमे खलने लगा। ग्रामीण वातावरण अत्यन्त दूषित हो गया, हिंसा, अपराध, झगडे, चोरी-डकैती बढते दिखाई दिए। प्रशासन कार्य ढीला, अकुशल और भ्रष्टाचार युक्त बताया गया।

तृतीय पचवर्षीय योजना

यद्यपि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वित करने में देश को अनेक कठिनाइयो और बाधाओ का सामना करना पडा तो भी अपनी समस्याओ के साथ उलझने और उन्हे यथाशक्ति सुलझाने की शक्ति हमे प्राप्त हुई। उलझनो के बीच साहस के साथ आगे बढने का हमें अनुभव हुआ। इसी साहस और अनुभव से प्रेरणा लेकर तृतीय पचवर्षीय योजना को द्वितीय की अपेक्षा ड्योढ़ी बनाने का हमने निश्चय किया। इसका समारम्भ १ अप्रैल सन् १९६१ से हुआ और ३१ मार्च सन् १९६६ को यह समाप्त होगी।

उद्देश्य—(१) द्वितीय योजना की भांति ५% प्रति वर्ष अर्थात् योजना काल में २५% राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना इसका प्रथम उद्देश्य है।

(२) खाद्यान्न के उत्पादन में स्वावलम्बन की स्थिति प्राप्त करने की आशा की गई है। कृषि उत्पादन में ऐसी सीमा तक उत्पादन बढ़ाया जायेगा कि देश की औद्योगिक कच्चे माल की मांग पूर्ति होने के उपरान्त देश की निर्यात् सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी पूर्ति हो सके।

(३) औद्योगीकरण सम्बन्धी योजनाओं को इस योजना में वही महत्व दिया जायगा जो उन्हें द्वितीय योजना में दिया गया। इस्पात, शक्ति एवं ईंधन उद्योगों का यथासम्भव विस्तार किया जायगा। मशीन निर्माण उद्योग की इस भांति उत्पत्ति और विकास किया जायगा कि आगामी १० वर्ष में देश के औद्योगीकरण की मांग देश के उत्पादन से ही पूरी की जा सके।

(४) कार्य के साधनों में महत्वपूर्ण वृद्धि करके देश की जन-शक्ति का पूर्ण उपयोग करने का यत्न किया जायगा।

(५) आर्थिक शक्ति के समान वितरण द्वारा आय और सम्पत्ति सम्बन्धी विषमता दूर की जायगी और समाजवाद की ओर देश को आगे बढ़ाया जायगा।

व्यय—इस अवधि में १०,४०० करोड़ रुपए के विनियोग व्यय का अनुमान लगाया गया है। ६३०० करोड रुपए सरकारी क्षेत्र मे और ४,१०० करोड़ रुपए गैर-सरकारी क्षेत्र में खर्च होंगे। सरकारी क्षेत्र में कुल ७५०० करोड़ रुपए के व्यय का अनुमान है जिसमें से १२०० करोड़ रुपए विकास व्यय के हैं और ६३०० करोड़ रुपए विनियोग के। दोनों क्षेत्रों के विनियोग व्यय का विषयानुसार वितरण निम्न भांति होगा :

क्रम संख्या	विषय	सरकारी क्षेत्र	गैर सरकारी क्षेत्र	कुल	कुल का प्रतिशत
		करोड़रुपये	करोड़रुपये	करोड़रुपये	
१	कृषि, सिंचाई, सामुदायिक विकास	१३१०	८००	२११०	२०
२	शक्ति	१०१२	५०	१०६२	१०
३	उद्योग (छोटे-बडे) व खनिज	१६७०	१३२५	२९९५	२९
४	परिवहन व संवहन	१४८६	२५०	१७३६	१७
५	सामाजिक सेवायें	६२२	१०७५	१६९७	१६
६	अन्य	२००	६००	८००	८
	कुल जोड	६,३००	४,१००	१०,४००	१००

साधन—सरकारी क्षेत्र का अनुमानित व्यय निम्न साधनों से जुटाया जायगा :

	करोड़ रुपये
(१) वर्तमान करों से आय	५५०
(२) रेलो का अनुदान	१००

(३) अन्य सरकारी उद्योगों का लाभ	४५०
(४) सार्वजनिक ऋण	८००
(५) अल्प बचत	६००
(६) निर्वाह निधि (P. F.) अन्य पूँजीगत आय	५४०
(७) अतिरिक्त कर और लाभ	१७१०
(८) विदेशी सहायता	२२००
(९) घाटे की वित्त व्यवस्था	५५०
कुल जोड	७५००

विकास-कार्य और लक्ष्य—देश की माँग और साधनों की उपलब्धि के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में विकास के लक्ष्य निश्चित किए गए हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण विकास लक्ष्य नीचे दिए जाते हैं।

उत्पादन और विकास के लक्ष्य

वस्तु	इकाई	१९६०–६१	१९६५–६६	प्रतिशत वृद्धि
१. खाद्यान्न	लाख टन	७६०	१०००	३१.५
२ कपास	लाख गाँठें	५१	७०	३७.२
३. चीनी (गुड)	लाख टन	८०	१००	२५.०
४. तिलहन	लाख टन	७१	९८	३८.०
५. बिजली	लाख किलोवाट	५७	१२७	१२३
६. कच्चा लोहा	लाख टन	१०७	३००	१८०
७ कोयला	,, ,,	५४६	९७०	७६
८. इस्पात	,, ,,	३५	९२	१६३
९. अल्यूम्यूनियम	हजार टन	१८.५	८०	३३२
१०. मशीनी यंत्र	मूल्य लाख रु०	५५०	३०००	४४५
११. मोटर गाडियाँ	हजार	५६ ५	१००	८७
१२ सूती वस्त्र	करोड गज	५१३	५८०	१३

योजना मे छोटे-बडे उद्योगों पर विशेष ध्यान दिया जाएगा, यद्यपि कृषि क्षेत्र को भी भुलाया नहीं जाएगा। सभी आवश्यक उद्योगों (इस्पात, कोयला, बिजली) का प्रसार किया जाएगा और अनेक नए उद्योग स्थापित किए जायेंगे। दो नए बिजली की भारी मशीनें बनाने के कारखाने, दो कोयला धोने के कारखाने, एक इस्पात का

कारखाना, एक जहाज बनाने का कारखाना इत्यादि का समावेश योजना में किया गया है। प्रत्येक राज्य में एक खाद का कारखाना, प्रत्येक जिले में एक दुग्धशाला (Dairy farm) तथा सभी गांवों में सामुदायिक विकास कार्यक्रम योजना के अन्त तक पहुँच जाएगा। खनिज तेल के अन्वेषण की ओर विशेष ध्यान दिया जाएगा। थर्मामीटर, घड़ियाँ, मोटर साइकिलें बनाने के उद्योग प्रथम बार देश में स्थापित किए जायेंगे।

तृतीय योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय १९००० करोड़ रुपए और प्रति व्यक्ति आय ३८५ रु० हो जाएगी। प्रथम योजना के प्रारम्भ की अपेक्षा कृषि उत्पादन में १७५% और औद्योगिक उत्पादन में ३२९% की वृद्धि हो जाएगी।

"सामुदायिक योजनाएं एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवाएं कल्याण-कारी शासन की ओर जिसका हमने बीडा उठाया है स्वतंत्रता के समय से सबसे बड़ी देन हैं।" —ऐस० के० डे

२४—सामुदायिक विकास योजनाएँ एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवाएँ

रूप–रेखा

१. ग्राम सुधार की आवश्यकता
२. योजनाओं का अर्थ एवं उद्देश्य
३. योजना का स्वरूप एवं संगठन
४. कार्यक्रम
५. प्रारम्भ और प्रगति
६. आलोचना।

ग्राम सुधार की आवश्यकता

भारत गाँवो का देश है। यहाँ की ८२% जन-संख्या गाँयो मे रहती है। ग्रामीण क्षेत्र खाद्यान्न और अन्य जीवनोपयोगी पदार्थ ही नही देते, औद्योगिक कच्चे माल के भी प्रधान उद्गम हैं।

हमारे इन गाँवो की दशा अत्यन्त सोचनीय हैं। कृषि उपज अति न्यून है। लोगो का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। वैमनस्य, ईर्ष्या-द्वेष, मुकद्दमेबाजी, रूढिवाद और अन्य सामाजिक कुरीतियो के वे अड्डे बन गये हैं। सारा ग्रामीण जीवन अभाव, कंगाली, निराशा, निरुत्साह से परिपूरित है और चारो ओर उदासीनता छाई हुई है।

यदि हमे अपने देश की उन्नति वाछनीय है तो ग्रामीण जीवन का सुधार उसकी पहली सीढी है। १३% जन संख्या के सुधार मात्र से हमारा देश समृद्ध और समुन्नत नही हो सकता। ग्रामीण क्षेत्र की उपेक्षा करके हमारी अर्थ-व्यवस्था संतुलित रूप धारण नही कर सकती। वस्तुत: भारत की आत्मा गाँवो मे बसती है।

योजनाओं का अर्थ एवं उद्देश्य

सामुदायिक विकास योजनायें ग्रामीण समुदाय के बहुमुखी विकास की योजनायें हैं। ग्रामीण जीवन के किसी एक पहलू के सुधार से ग्राम सुधार सम्भव नहीं। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और अन्य सभी पहलुओं के सुधार द्वारा ही ग्रामीण जीवन में आशा का संचार सम्भव है। केवल आर्थिक पहलू ही सब कुछ नहीं है। हमें ग्राम समाज में आत्म-सम्मान और स्वावलम्बन की भावना जाग्रत करके ग्रामीण जीवन में महत्वाकांक्षा और उत्साह उत्पन्न करना है। कृषि सुधार के साथ-साथ परिवहन, उद्योग, आवास व्यवस्था, सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, प्रशिक्षण, मनोरंजन इत्यादि की ओर भी विशेष ध्यान देना आवश्यक है। इसी प्रकार का सर्वाङ्ग पूर्ण एवं संतुलित विकास इन योजनाओं का मुख्य ध्येय है।

एक ओर उत्पादन वृद्धि और कार्य के साधन उपलब्ध करके ग्रामीण लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना इन योजनाओं का उद्देश्य है तो दूसरी ओर उनमें स्वावलम्बन, आत्म-विश्वास, आत्म-सम्मान और आशा का संचार करके उन्हें देश के सभ्य नागरिक बनाना है। यह तभी सम्भव है जबकि ग्रामीण जीवन की सामाजिक कुरीतियाँ, अन्ध-विश्वास, रूढिवाद, भाग्यवाद हटाकर उनमें जाग्रति उत्पन्न की जाय और राजनैतिक अधिकार देकर उन्हें उत्तरदायित्व का पाठ पढ़ाया जाय। इसके लिये शिक्षा प्रसार और आवश्यक प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

योजना का स्वरूप एवं संगठन

योजनाओं का कार्यक्रम लागू करने के लिये सौ गाँवों की एक इकाई मान ली जाती है जिसमें लगभग १५० वर्गमील क्षेत्रफल और ६०–७० हजार आबादी आजाती है। इसे विकास खण्ड कहा जाता है। खण्ड पंचायत समिति इसका कार्यक्रम बनाने के लिये उत्तरदायी है। समिति के सदस्य निर्वाचित सरपंच होते हैं। इस समिति की देख रेख में एक खण्ड विकास अधिकारी (Block Development Officer) और ८ विस्तार अधिकारी (Extension Officers) कार्य करते हैं। ये अधिकारी प्रबन्ध प्रशासन के लिये उत्तरदायी हैं। प्रत्येक अधिकारी किसी विशेष विषय (कृषि, सहकारिता, पशु पालन, इत्यादि) का विशेषज्ञ होता है। प्रत्येक १० गाँवों के समूह में एक ग्राम सेवक (V. L. W.) होता है। यह बहुउद्देशीय विस्तार प्रतिनिधि माना जाता है। प्रत्येक जिले में एक जिला परिषद होती है जिसके सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं। इनमें खण्ड पंचायत समिति के अध्यक्ष और उस जिले के लोक सभा एवं विधान मंडल के सदस्य सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक राज्य में विकास आयुक्त सर्वोच्च अधिकारी माना जाता है। उसकी सहायता के लिये राज्य विकास समिति होती है जिसका कि सभापतित्व उस राज्य का मुख्य मंत्री करता है। केन्द्र में सामुदायिक विकास एवं सहकारिता मंत्रालय पर इन योजनाओं का पूर्ण उत्तरदायित्व है। नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिये एक केन्द्रीय समिति होती

है जिसका सभापतित्व प्रधान मंत्री करते हैं। योजना आयोग के सदस्य खाद्य एवं कृषि विभाग और सामुदायिक व सहकारिता के मंत्री इसके सदस्य होते हैं।

कार्यक्रम

बहुउद्देशीय योजनायें होने के नाते इनका बहुमुखी कार्यक्रम होना स्वाभाविक है। आर्थिक उत्थान के साथ-साथ प्रशासन सम्बन्धी प्रशिक्षण और सामाजिक जागृति भी इन योजनाओं का उद्देश्य है। कृषि विकास एवं उत्पादन वृद्धि इन योजनाओं का प्रथम लक्ष्य है। भूमि सुधार, सिंचाई व्यवस्था, उत्तम बीज, आधुनिक यन्त्र एवं उर्वरक, अच्छी नस्ल के पशु, फसल रक्षा इत्यादि द्वारा कृषि सुधार की व्यवस्था की जाती है। भारतीय कृषि किसान को वर्ष भर कार्य नहीं दे पाती और उसके लिये आवर्तक आय का साधन भी नहीं है। अतएव किसान को खाली समय के लिये काम देने और बेकारों के जीवन निर्वाह के साधन उपस्थित करने के विचार से ग्रामीण उद्योगों के पुनर्जीवन एवं विकास की व्यवस्था की जाती है। गांवों म आधुनिक जीवन की सुख सुविधाओं के अभाव का मुख्य कारण परिवहन सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव है। इस कमी को पूरा करने के निमित्त सड़क निर्माण एवं सुधार की व्यवस्था पर विशेष जोर दिया जाता है। इस कार्य में लोगों के श्रमदान से बड़ी सहायता मिलती है। ग्राम्य समाज का पिछड़ापन मुख्यतः अशिक्षा के कारण है। एक ओर प्रौढ़ शिक्षा द्वारा लोगों को साक्षर बनाने का यत्न किया जाता है, दूसरी ओर शिक्षा के प्रसार एवं निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। साथ ही साथ औद्योगिक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जाती है। योजनाओं के अन्तर्गत आने वाले गांवों की सफाई पर भी विशेष जोर दिया जाता है। गलियों और नालियों की नियमित स्वच्छता, कूड़ा-कर्कट डालने की उचित व्यवस्था और शौचालय इत्यादि का प्रबन्ध इस सम्बन्ध मे आवश्यक समझा जाता है। यद्यपि हमारे गांवों में मकानों का अभाव नहीं है किन्तु वहां की आवास व्यवस्था वैज्ञानिक एव स्वास्थ्य-वर्धक नहीं है। अतएव कुछ नमूने के मकान बनवाकर एवं लोगों को आवश्यक प्राविधिक परामर्श देकर स्वास्थ्यप्रद मकान बनाने का प्रोत्साहन और प्रेरणा प्रदान की जाती है। ऐसे स्वस्थ वातावरण मे रहने से लोगों को अनेक रोगों से बहुत कुछ मुक्ति मिल सकेगी। तो भी उनके स्वास्थ्य सुधार के निमित्त चिकित्सा सुविधाओं का विस्तार किया जाता है। प्रसूति साहाय्य पर विशेष जोर दिया जाता है क्योंकि इससे हमारे गांव सर्वथा वंचित हैं। समाज कल्याण की व्यवस्था भी इस कार्य-क्रम का एक अंग है। मेले और प्रदर्शिनियों द्वारा सामाजिक सम्पर्क बढ़ाने तथा रेडियो और चलचित्र द्वारा मनोरंजन की व्यवस्था की जाती है। खेल-कूद, गोष्ठी, अखाड़े इत्यादि भी चालू किये जाते हैं।

प्रारम्भ और प्रगति

सन् १९२६ म राजकीय कृषि आयोग ने ग्राम सुधार की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था और ग्राम्य पथ प्रदर्शक नियुक्त करने की बात कही थी।

सन् १९५० में तटकर आयोग ने अपने प्रतिवेदन में भारत के लिये विस्तार सेवाओं की बात कही। योजना आयोग के बनने पर ग्राम सुधार और कृषि विकास के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया गया। जुलाई सन् १९५१ में प्रकाशित प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में योजना आयोग ने ग्रामीण विस्तार सेवाओं के प्रस्ताव रक्खे। इन प्रस्तावों का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र का संतुलित विकास कहा गया। फरवरी सन् १९५२ में अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति ने ग्रामीण जीवन के सुधार के निमित्त संयुक्त राष्ट्र अमेरिका अथवा ब्रिटेन के समान विस्तार अथवा सलाहकारी सेवायें चालू करने का सुझाव दिया। इसी समय (जनवरी सन् १९५२) भारत और अमेरिका के बीच एक औद्योगिक सहायता सम्बन्धी समझौता हुआ। इस समझौते के अन्तर्गत ग्राम विकास के लिये अमरीकी सरकार ५०० लाख डालर की सहायता इस शर्त पर देने को सहमत हो गई कि भारत सरकार भी उतना ही धन लगाये। इटावा अग्रगामी, गोरखपुर देवरिया, निलोखेरी, बम्बई सर्वोदय, इत्यादि योजनाओं और फिरका विकास कार्यक्रम (मद्रास) इत्यादि प्रयोगों की सफलता से भारत सरकार अत्यन्त प्रभावित हुई और वह उन्हें ग्राम सुधार की आदर्श व्यवस्था समझने लगी। फलतः उक्त अमरीकी समझौते के अनुसार एवं अमरीकी विशेषज्ञों की सहायता से भारत सरकार ने देश के विभिन्न राज्यों में ५५ केन्द्र चुने जिनमें ग्राम सुधार का कार्य आरम्भ करने का निश्चय किया गया। इसी कार्य-क्रम को सामुदायिक योजनाओं का नाम दिया गया।

यह कार्यक्रम २ अक्टूबर सन् १९५२ में चुने हुये ५५ केन्द्रों में चालू किया गया। इसके अन्तर्गत ५०० वर्ग मील क्षेत्रफल, ३०० गाँव और २ लाख जनसंख्या सम्मिलित थी। प्रथम योजना के अन्त तक इसका प्रसार १२०० विकास खण्डों (९०० सामुदायिक विकास योजनाओं और ३०० राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं) में फैल गया जिससे १ लाख २३ हजार गाँव और ८ करोड़ जनसंख्या प्रभावित हुई। सन् १९५९ के अन्त तक यह संदेश २७०० खण्डों में पहुँच गया जिससे ३ लाख ६० हजार गाँवों और १९ करोड़ जनसंख्या को लाभ पहुँचा। वर्तमान कार्यक्रम के अनुसार अक्टूबर सन् १९६३ तक भारत के सभी गाँवों को इन नये प्रयोगों का लाभ मिलने लगेगा।

आलोचना

यद्यपि सामुदायिक विकास योजनायें एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवायें देश के विस्तृत क्षेत्र और तीन चौथाई जनसंख्या में जागृति उत्पन्न करने का कार्यक्रम है और उसे इस कार्य में सफलता भी प्राप्त हुई है, तो भी इस कार्यक्रम की बड़ी आलोचना की गई है। इन योजनाओं से जितनी हम आशा करते हैं उतनी सफलता नहीं प्राप्त हुई। अनेक लोगों का कहना है कि ये योजनायें केवल कागजी कार्य-क्रम हैं और लोगों में स्फूर्ति और आशा का सचार नहीं कर पाईं। जितना इस विषय पर धन खर्च किया जा रहा है उतना लाभ देश को नहीं हुआ। इस कार्यक्रम का मुख्य मन्तव्य कृषि उत्पादन बढ़ाकर ग्रामीण जनता की आय वृद्धि करना और उनकी कंगाली दूर करना

है। योजनाओं के मूल्यांकन प्रतिवेदनों (Evaluation Reports) में बताया गया है कि कृषि उत्पादन बढ़ाने मे ये योजनायें विफल रही हैं। इस विफलता का मुख्य कारण सिंचाई सुविधाओं का अभाव, आवश्यक सामग्री की अपर्याप्त उपलब्धि तथा जनता की उपेक्षा बताया जाता है। सातवें मूल्याकन प्रतिवेदन मे बताया गया है कि १८ म से १४ खण्डो (Blocks) म सिचाई सुविधाये अपर्याप्त पाई गई। उत्तम बीज और खाद भी अपर्याप्त बताये गये। फसल सम्बन्धी रोग एव कीड़े और भूमि के कटाव भी गम्भीर समस्यायें बताई गई। बीज, खाद, कीटाणुनाशक कृषि-यन्त्र इत्यादि आवश्यक वस्तुओं के वितरण सगठन मे सुधार के लिये बहुत कुछ सम्भावना है। कभी-कभी वितरण मे देरी की शिकायतें भी की गई हैं। कई वस्तुओं का वितरण अभी तक राज्य सरकारों के विभागों के हाथ मे है। यह एक सामान्य दोषारोपण है कि योजनाओं का लाभ केवल धनी-मानी और प्रभावशाली लोगों को ही प्राप्त है। भूमि हीन किसानो अथवा अन्य गरीब जनता को इनसे कोई लाभ नही पहुँचा। वस्तुत, इन योजनाओ का मूल उद्देश्य ग्रामीण जनता म स्वावलम्बन, आत्मसम्मान और नतृत्व की भावना जागृत करना है। ऐसी कोई जागृति लोगो मे उत्पन्न नहीं हुई। यह कहा जाता है कि ग्राम सेवक स्वय वहाँ के नेता बन गये हैं और ग्रामीण जनता इस अधिकार से वचित रक्खी गई है। इन योजनाओं की विफलता का एक बडा कारण खण्ड मे काम करने वाले कर्मचारियों में कार्य-कौशल की कमी बताई जाती है। लगभग २५% कर्मचारी ऐसे बताये जाते हैं जो अपने काम को करने के अयोग्य हैं अथवा उसे उपेक्षित भाव से करते हैं। खण्ड विकास अधिकारियो और खण्ड विस्तार कर्मचारियो मे परस्पर समन्वय की भावना भी नही है। सहकारी समितियो को योजनाओं से प्रोत्साहन नही मिला और न पचायतो का ही विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रामीण जनता बहुधा इस कार्यक्रम को उपेक्षा की दृष्टि से देखती है और उसे केवल एक सरकारी कार्य क्रम समझती है। शिक्षा प्रसार भी आशाजनक नहीं हो सका।

"१९६६ के लगभग जब कि भारत की जनसंख्या ४५ करोड की सीमा को लाँघ कर आगे बढ जाएगी, उसकी अनियन्त्रित वृद्धि को रोकने के सम्पूर्ण प्रयत्न विफल हो जायेंगे।"

—जनगणना महारजिस्ट्रार

२५—जनसंख्या की समस्या

रूप-रेखा

१. समस्या का स्वरूप :
   (क) भौतिक वृद्धि
   (ख) प्रतिशत बढोतरी
   (ग) घनत्व
२ जनसंख्या से सम्बन्धित आर्थिक समस्यायें
३. वृद्धि के कारण
४. रोक-थाम की आवश्यकता
५ रोकने के प्रयत्न
६. परिवार नियोजन
७. जनसंख्या वृद्धि रोकने के अन्य सुझाव।

समस्या का स्वरूप

भारत विश्व का दूसरा सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश है। १९६१ की जनगणना के अनुसार यहाँ की जनसंख्या ४३·८० करोड है तथा गत दशक मे उसमे २१·५% वृद्धि हुई है।

भौतिक वृद्धि—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे यहाँ की जनसंख्या केवल २४ करोड थी। गत ६० वर्ष मे उसमे ८४% की वृद्धि हो गई है। इस शताब्दी के प्रथम तीन दशक मे केवल ३·७० करोड की वृद्धि हुई, किन्तु इसके उपरान्त तीन दशक मे १६·३० करोड की वृद्धि हुई। यह अनुमान लगाया गया है कि १९७६ तक भारत की जनसंख्या ५६·८० करोड हो जाएगी अर्थात् १९५१ और १९७६ के बीच की २५

वर्ष की अवधि में वह २०·६० करोड बढ़ जाएगी। इस भांति देश की जनसंख्या उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढती जा रही है।

इस वृद्धि के अनुमान भी बहुधा ठीक नही उतरते। द्वितीय योजना बनाते समय १९५६ में ३८·४० करोड का अनुमान लगाया गया था और १९६१ मे ४०·८० करोड, १९६६ मे ४३·४० करोड, १९७१ मे ४६·५ करोड तथा १९७६ मे ५० करोड की संभावना की गई थी, किन्तु केन्द्रीय अंक-संकलन संगठन द्वारा हाल के अनुमानो के अनुसार १९६१ मे ४३१० करोड, १९६६ मे ४८ करोड, १९७१ मे ५२·८० करोड तथा १९७६ मे ५६·८० करोड संख्या कूती गई है। १९६१ की जनगणना के उपलब्ध आँकडो से ये अनुमान गलत सिद्ध हो चुके हैं।

प्रतिशत बढ़ोतरी—भारत की जनसंख्या की भौतिक वृद्धि ही अधिकाधिक नही है, उसकी प्रतिशत बढोतरी भी उत्तरोत्तर बढती जाती है। १९०१–१९११ के दशक मे प्रतिशत वृद्धि ५, १९२१–३१ मे ११, १९३१–४१ मे १४·३, १९४१–५१ मे १३·४ तथा १९५१–६१ म २१·५ रही। यह वृद्धि दर अन्य देशो की अपेक्षा बहुत अधिक है।

घनत्व—भारत मे जनसंख्या का घनत्व अन्य कृषि प्रधान एवं ऐसे ही विस्तृत देशो की अपेक्षा अधिक है। भारत मे प्रति वर्ग मील घनत्व २८७ है जबकि चीन मे १२३, हिन्देशिया में १०८, फ्रास मे १९३, संयुक्त राष्ट्र में ५०, ब्राजील में १५ तथा आस्ट्रेलिया व कनाडा मे प्रत्येक का केवल ३ है।

सम्बन्धित आर्थिक समस्यायें

हमारी जनसंख्या की इस असाधारण वृद्धि के आर्थिक प्रभाव भी बडे असाधारण होने स्वाभाविक हैं। देश मे खाद्यान्न का अभाव, बेकारी, कंगालो, अशिक्षा इत्यादि सब जनसंख्या के ही परिणाम हैं।

खाद्यान्न अभाव

तेजी से बढती हुई जनसंख्या के कारण देश की खाद्यान्न समस्या अति गंभीर है। दो पंचवर्षीय योजनाओ के अथक् प्रयत्नो के उपरान्त भी हमें देश की खाद्यान्न की कमी पूरी करने के लिए प्रतिवर्ष तीस-पैंतीस लाख टन अन्न का आयात करना पडता है। द्वितीय योजना के प्रारम्भ में लगाए अनुमान अब गलत सिद्ध हो गए हैं और तृतीय, चतुर्थ और पंचम पंचवर्षीय योजनाओ की जनसंख्या की अनुमानित अधिक बढोतरी के लिए क्रमशः २·३ करोड, ४·६ करोड तथा ६·३ करोड अधिक व्यक्तियो के लिए खाद्यान्न उपलब्ध करना होगा।

बेकारी

जनसंख्या की अपार वृद्धि का कारण ही देश में बढती हुई बेकारी की समस्या है। सन् १९५६ के योजना आयोग के एक अनुमान के अनुसार देश में ५३ लाख लोग बेकार थे और एक करोड और नए द्वितीय योजना काल में श्रमिक वर्ग में

सम्मिलित हो जायेंगे। द्वितीय योजना में ८० लाख लोगों को अधिक काम देने की व्यवस्था की गई, किन्तु वस्तुतः केवल ६५ लाख लोगों को काम दिया जा सका अर्थात् १५ लाख नए व्यक्ति और बेकार हो गए। इसी भाँति तृतीय योजना में १ करोड ५० लाख नए श्रमिक बढ जाने की संभावना है जिनमें से केवल १ करोड ४० लाख को काम दिया जा सकेगा अर्थात् १० लाख और नए लोग बेकार हो जायेंगे। इस भाँति काम के साधनों से जनसंख्या की गति अधिक होने से बेकारी में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

भूमि पर अधिक भार

काम के साधनों की अपेक्षा जनसंख्या के अधिक बढने के कारण लोगों को खेती पर ही निर्भर रहना पडता है जो कि देश का परम्परागत व्यवसाय है। इससे भूमि पर भार नित प्रति बढता ही जाता है। १९११ में प्रति व्यक्ति पीछे ०·९० एकड कृषि क्षेत्र था जो १९५१ में केवल ०·८० एकड रह गया। दो पचवर्षीय योजनाओं के उपरान्त भी हमारी जनसंख्या का ७२% पूर्णत: कृषि पर निर्भर है।

इसी भाँति निम्न जीवन-स्तर, प्रति व्यक्ति न्यून आय, निरक्षरता, जीवन-काल की कम अवधि, अकुशल उत्पादन इत्यादि समस्यायें भी जनसंख्या से सम्बन्धित हैं।

वृद्धि के कारण

देश की जनसंख्या की तीव्र गति के अनेक कारणों में से मुख्य निम्नांकित हैं : (१) भारत में विवाह एक सामाजिक आवश्यकता माना जाता है और सभी स्त्री-पुरुष विवाह करते हैं। (२) विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना जाता है। (३) बहुधा कम अवस्था में विवाह करने की रूढ़ि और अन्धविश्वास लोगों में फैला हुआ है। (४) लोगों की कंगाली भी जनसंख्या की वृद्धि का एक सर्वमान्य कारण है। *निम्न आय के वर्ग में जीवन स्तर के गिरने का भय नहीं होता। अतएव अधिक सताने* होती हैं। (५) देश का जलवायु प्रजनन शक्ति बढाने का मूल कारण है जिसके कारण बहु-विवाह, बाल-विवाह आदि कुप्रथायें प्रचलित हैं जो जनसंख्या बढाने में योग देती हैं। (६) हमारे यहाँ अविवेकी मातृत्व अन्य देशों की अपेक्षा बहुत अधिक है। (७) लोगों की निरक्षरता उन्हें संतति निरोध के साधनों से अनभिज्ञ रखती है। (८) इस देश में स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। उन्हें घर के बाहर बहुत कम निकलने और *मनोरंजन का कम अवसर मिलता है।*

जनसंख्या के रोकने की आवश्यकता

(१) यह निश्चित है कि भारत की जनसंख्या १९२१ के उपरान्त जिस गति से बढती गई है उस गति से खाद्य पदार्थ नहीं बढ सके और प्रसिद्ध विद्वान माल्थस का सिद्धान्त देश में लागू होता स्पष्ट दिखाई देता है। १९४३ में बंगाल में भीषण अकाल पडा और तदुपरान्त भी कई बार कई क्षेत्रों में संकटापन्न स्थिति उत्पन्न हो

चुकी है। इस प्रकार के सकट से बचने का एकमात्र साधन जनसख्या की रोक थाम है। (२) न केवल हम अपने भरण पोषण के लिये विदेशों पर निर्भर रहना पडता है, पौष्टिक दृष्टि से भी हमारा भोजन अत्यन्त अनुपयुक्त है जिससे दिनो दिन लोगो का स्वास्थ्य-स्तर गिरता जाता है, कार्यकौशल कम होता जाता है, तथा आयु कम होती जाती है। देश के स्वास्थ्य-स्तर को उठाने के लिये जनसख्या पर रोक लगाना आवश्यक है। (३) देश की राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय तथा लोगों की क्रय-शक्ति बढाने, शिक्षा प्रचार तथा जीवन स्तर उठाने के विचार से भी जनसख्या पर रोक लगाना आवश्यक बताया जाता है। (४) देश की बेकारी तथा कगाली दूर करने के लिये भी सीमित जनसख्या पर जोर दिया जाता है। १९५१ की जनगणना के समय ही जनसख्या अधिकारी (Registrar General) ने यह चेतावनी दे दी थी कि साधनों के विचार से उत्पादन वृद्धि के सभी आधुनिक यत्नो को काम म लेकर भी ४५ करोड से अधिक जनसख्या का उपयुक्त भरण-पोषण करने म देश असमर्थ रहेगा और उन्होने कृत्रिम उपायो द्वारा जनसख्या की रोक पर जोर दिया था। तत्कालीन अनुमानो के अनुसार यह सीमा १९६९ तक पहुँचने वाली थी, किन्तु १९६१ की जनगणना के अनुसार वह ४४ करोड हो चुकी है अर्थात् उक्त सकट की घटी बजने के निकट पहुँच गई है और हमे सचेत हो जाना है।

जनसख्या को रोकने के प्रयत्न

१९४३ के बगाल के अकाल ने जनसख्या के सम्बन्ध मे हमारी आँखें खोल दीं थी और तभी से हम उसे तथा उससे सम्बन्धित अनेक आर्थिक समस्याओ पर काबू पाने के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्नशील रहे हैं। बाल विवाह की प्रथा को रोकने के लिए शारदा एक्ट पहले ही बन चुका था जिसके अनुसार १८ वर्ष से कम आयु वाले लडके और १४ वर्ष से कम आयु वाली लडकी का विवाह एक कानूनी अपराध ठहराया गया। इस कानून म कई कमी हैं। वह केवल हिन्दुओ पर ही लागू होता है। अतएव वह अपने उद्देश्य की पूर्ति मे विफल रहा है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त देश के आर्थिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत आयोजन का प्रादुर्भाव हुआ। आर्थिक आयोजन का एक महत्वपूर्ण पहलू जनसख्या का नियन्त्रण माना गया। अतएव प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से ही सतति निरोध एव सीमित जनसख्या के प्रश्नो पर गम्भीरता से विचार किया गया तथा इसका एकमात्र मार्ग परिवार नियोजन बताया गया। अब परिवार-नियोजन आर्थिक आयोजन का एक महत्वपूर्ण अग बन गया है और देश भर म फैल चुका है।

परिवार नियोजन

प्रथम पचवर्षीय योजना मे जनसख्या वृद्धि के कारणो की ठीक ठीक जानकारी, प्रजनन शक्ति का पूर्ण ज्ञान और उसके नियमन के साधन, जनता म सम्बन्धित जानकारी बढाने तथा परिवार नियोजन सेवा व सलाह को अस्पतालो एव स्वास्थ्य केन्द्रो

बच्चो के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा तथा देख-रेख का उचित प्रबन्ध नहीं हो सकता, तथा भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, बाल-विवाह, बहु-विवाह, बेजोड विवाह इत्यादि कुप्रथाओं का अन्त करना चाहिए। स्त्री-शिक्षा के प्रसार द्वारा एव स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता देकर भी जनसंख्या की समस्या पर बहुत कुछ रोक लगाई जा सकती है। सामान्य शिक्षा के अधिकाधिक प्रसार एव सन्तति निरोध साधनों के प्रचार द्वारा भी समस्या सुलझाने में सहायता मिलेगी। इस समस्या का वास्तविक हल आवश्यक सामाजिक वातावरण बनाने और सन्तति निरोध के सरल एव सफल साधनों के प्रचार द्वारा ही सम्भव है।

"घाटा-वित्त आधुनिक युग में पिछड़ेपन का आवश्यक उपचार माना जाता है।"

२६—घाटे की वित्त-व्यवस्था

रूप-रेखा

१. परिभाषा
२. आवश्यकता
३ घाटा-वित्त के ढंग
४ घाटा-वित्त का महत्त्व एवं उद्देश्य
५ नियन्त्रण की आवश्यकता
६. भारतीय योजनाओं के अन्तर्गत घाटा-वित्त
७ उपसंहार।

परिभाषा

सरकार द्वारा आय से अधिक व्यय करने को घाटा-वित्त कहते हैं। सरकार अपनी आय के लिए नागरिकों पर कर लगाती है, जनता से ऋण लेती है, निक्षेप प्राप्त करती है। इन साधनों से प्राप्त राशि से अधिक यदि सरकार व्यय करे तो सरकार का बजट 'घाटे का बजट' कहा जाता है। इस घाटे की पूर्ति के लिए सरकार केन्द्रीय बैंक से ऋण लेती है, अधिक मुद्रा निर्गमित करती है अथवा केन्द्रीय बैंक की निक्षेप-निधि का उपयोग करती है। इसी क्रिया को घाटे की वित्त-व्यवस्था कहा जाता है। इस भाँति घाटा-वित्त सरकारी व्यय का वह भाग है जो सरकार की मुद्रा-सृजन शक्ति के द्वारा किया जाता है। यदि सरकार जान-बूझ कर किसी उद्देश्य से अपनी आय से अधिक व्यय करे और उस घाटे की पूर्ति किसी ऐसे ढंग से करे जिससे मुद्रा की मात्रा बढ़े तो उसे ही घाटे की वित्त-व्यवस्था कहा जाता है। अतएव घाटा-वित्त के दो मूल तत्त्व माने जाते हैं - (१) सरकार जान-बूझकर अपनी आय से अधिक व्यय करे; (२) इस घाटे की पूर्ति इस प्रकार की जाये कि देश में मुद्रा अथवा साख अथवा दोनों का प्रसार हो।

यह घाटा केवल राजस्व खाते से सम्बन्धित होना आवश्यक नही है, इसमें पूंजीगत व्यय भी सम्मिलित होना चाहिए तथा ये राजस्व व पूंजी के व्यवहार केन्द्रीय और राज्य सभी सरकारो के होने चाहिये।

सामान्यतः सरकारी बजट के घाटे को पूरे करने के कई ढग हैं जैसे नए कर लगाकर, पुराने करो मे बढोतरी करके, नागरिको, बैंको व अन्य वित्तीय सस्थाओ से ऋण लेकर, किन्तु इन सबकी अपनी-अपनी सीमाएं होती हैं। उस सीमा से आगे बढ जाने से देश म पूंजी-निर्माण कम हो जाता है, लोगो की कर-देय क्षमता क्षीण हो जाती है और निजी 'उद्योग-व्यापार' शिथिल होने लगते हैं। विदेशी ऋण भी सीमित मात्रा मे ही लिए जा सकते हैं। अतएव सरकार घाटा पूरा करने के ऐसे ढग अपनाती है जिनसे उपर्युक्त प्रतिक्रियाओ का बचाव हो सके। इनमे अपने संचित कोष मे से खर्च करना, केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा अधिक मुद्रा निर्गमन कराना इत्यादि ही रह जाते हैं। इन्ही साधनो के उपयोग द्वारा घाटा-पूर्ति करना घाटे की वित्त-व्यवस्था मानी जाती है।

आवश्यकता

प्राचीन अर्थशास्त्री संतुलित सरकारी बजट के पक्षपाती थे, किन्तु युद्ध, आर्थिक मन्दी, आयोजन इत्यादि ऐसे विशेष अवसर सरकार के सामने आ उपस्थित हुए जबकि सतुलित बजट रखना असम्भव हो गया और सरकार को आय से अधिक व्यय करने के लिए विवश होना पडा।

घोर आर्थिक मन्दी के वर्षों मे उद्योग-व्यापार शिथिल पड जाते हैं, मूल्य-स्तर गिर जाते हैं, बेकारी फैल जाती है, गरीबी और आर्थिक संकट बढ जाते हैं। ऐसी स्थिति मे सरकार नए-नए निर्माण, विनियोग और कल्याण कार्यों का संचालन करने के लिए अपनी आय से अधिक व्यय करती है। इससे कार्य के साधन बढ जाते हैं, बेकारी दूर होती है तथा उद्योग-व्यापार मे जान आती है। इस भांति मुद्रा प्रसार होकर मूल्य-स्तर ऊंचे होते हैं तथा मन्दी दूर होती है।

युद्ध काल मे युद्ध सम्बन्धी कार्यों, देशरक्षा उद्योगो एवं अन्य प्रकार अपार धन व्यय करना पडता है और उसकी पूर्ति मुद्रा प्रसार द्वारा ही की जाती है अर्थात् घाटा-वित्त की शरण लेनी पडती है।

आयोजित अर्थ व्यवस्था की पूर्ति के लिए सरकार को साधनो के समुचित उपयोग, कार्य वृद्धि, औद्योगीकरण तथा विविध निर्माण कार्यों के लिए असाधारण व्यय करना पडता है। इसके लिए मुद्रा और साख दोनो का सृजन करना पडता है अर्थात् घाटे की वित्त-व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

घाटा-वित्त के विविध ढंग

सरकारी बजट के घाटे की पूर्ति के विविध ढगो मे निम्नांकित मुख्य हैं: (१) विदेशी सहायता अथवा विदेशो से ऋण लेना, (२) अल्प बचत का परिचालन, (३)

देश के अन्तर्गत जनता से ऋण लेना; (४) सरकार की संचित रोकड़ी राशि का प्रयोग; (५) केन्द्रीय बैंक के स्वर्ण-कोष का प्रयोग; (६) पौंड पावने के प्रयोग द्वारा; (७) सरकारी ऋण-पत्र बेचकर; (८) केन्द्रीय बैंक द्वारा नई मुद्रा चालू करके अर्थात् बिना स्वर्ण-संचय के नए नोट छापना इत्यादि।

घाटा-वित्त के उद्देश्य

घाटा-वित्त आधुनिक युग में पिछड़ेपन का आवश्यक उपचार माना जाता है। पिछड़े देशों की गरीबी, बेकारी, निम्न जीवन, अशिक्षा, बीमारी इत्यादि दूर करने के लिए अमित धन की आवश्यकता होती है। इतना धन बचत अथवा परम्परागत आय के साधनों से जुटा लेना सम्भव नहीं होता अतएव घाटा-वित्त की सहायता लेनी पड़ती है। अनेक देशों की गरीबी साधनों के अभाव के कारण नहीं होती, वरन् साधनों के दोहन न होने के कारण होती है। घाटा-वित्त इन सुषुप्त साधनों के दोहन एवं उपयोग का मार्ग खोल देता है और साधनों का बड़ी मात्रा में एक साथ उपयोग किया जा सकता है। आयोजन आज के युग में विकास का एक वैज्ञानिक ढंग माना जाता है। घाटा-वित्त आयोजित अर्थ-व्यवस्था का एक आवश्यक अंग माना जाता है। औद्योगीकरण की नई-नई योजनायें चलाने, बांध बांधने, नहरें, सड़कें, रेलें व पुल बनाने, स्कूल, कॉलेज, विश्व-विद्यालय, अस्पताल इत्यादि स्थापित करने के लिए एक साथ अमित धन की आवश्यकता की आंशिक पूर्ति घाटा-वित्त से की जाती है।

ऐसा करने से बड़े पैमाने पर आर्थिक सम्पत्ति का निर्माण होता है, उत्पादन में वृद्धि होती है, काम के साधन बढ़ते हैं, विनियोग की दर ऊँची होती है, वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा बढ़ती है और विविध प्रकार से विकास होने लगता है।

घाटा-वित्त किसी संकट काल से पार उतरने का भी साधन है। आर्थिक मन्दी व युद्ध के समय देश का संकट निवारण करने में इसकी अपार सेवा का उपयोग सर्वत्र किया जाता है।

नियंत्रण की आवश्यकता

यद्यपि घाटा-वित्त आर्थिक विकास का एक अमोघ अस्त्र है, तो भी इसका उपयोग एक सीमा तक ही किया जा सकता है। असीमित एवं अनियंत्रित घाटा मुद्रास्फीति को जन्म दे सकता है जिसके दुष्परिणामों से कौन परिचित नहीं है? जब तक बढ़ाई गई मुद्रा की मात्रा के समकक्ष माल बन कर बाजार में नहीं आ जाता तब तक वस्तुओं के मूल्य चढ़ते रहते हैं; लोगों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है; बचत एवं विनियोग की क्षमता कम हो जाती है। घाटा-वित्त के इन कुप्रभावों को रोकने के लिए इसका प्रयोग सावधानी से करना होता है। इस के लिए बहुधा निम्नांकित उपचार किए जाते हैं:

(१) भोजन-वस्त्र आदि जीवनोपयोगी वस्तुओं की मांग और पूर्ति के असन्तुलन को दूर करने के विचार से उनका उत्पादन बढ़ाया जाता है, आयात अथवा उधाई द्वारा

उनका संचित कोष बनाया जाता है, उनके निर्यात पर नियन्त्रण लगाया जाता है, उनके उपभोग पर नियन्त्रण लगाया जाता है और आवश्यकता हो तो राशनिंग व्यवस्था चालू की जा सकती है। ऐसी वस्तुओं के व्यापार को सरकार अपने हाथ में ले सकती है।

(२) कर पद्धति में आवश्यक संशोधन किए जाते हैं। ये संशोधन ऐसे होते हैं कि लोगों के अनावश्यक एवं विलासी उपभोग सीमित हों और सरकारी कोष में अधिकाधिक धन आए।

(३) घाटा-वित्त के कुप्रभावों को रोकने के लिए साख-नियन्त्रण भी आवश्यक होता है। मुद्रा-स्फीति का लक्षण मुद्रा की मात्रा में वृद्धि ही नहीं, साख वृद्धि भी है। अतएव साख की आवश्यक मात्रा, दर व दिशा पर भी नियन्त्रण लगाया जाता है। यह नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक लगाता है जो देश के अन्य बैंकों की नीति का पथ प्रदर्शक है।

(४) आयात-निर्यात का सतुलन बनाए रखने के विचार से विनिमय नियन्त्रण भी आवश्यक होते हैं। ऐसे यत्न किए जाते हैं कि विदेशी विनिमय का उपयोग केवल विकास कार्यों अथवा जीवनोपयोगी उपभोग्य पदार्थों के आयात के लिए ही किया जाता है।

(५) विदेशी सहायता प्राप्त कर तथा ऐसी परियोजनाओं को प्राथमिकता देकर जिनके परिणाम शीघ्र मिलने लगे भी घाटा वित्त के दुष्प्रभावों को रोका जाता है।

भारतीय योजनाएँ और घाटा वित्त

प्रथम पचवर्षीय योजना मे योजना आयोग ने आयोजन के लिए घाटा वित्त का महत्व स्वीकार कर लिया था और २९० करोड रुपए घाटा-वित्त व्यवस्था का अनुमान लगाया था। योजना के अन्त तक ४२० करोड रुपए घाटा वित्त का विकास के लिए प्रयोग किया गया जो योजना के कुल सरकारी व्यय का २१% था। इस अवधि मे देश के पास पौंड पावने का पर्याप्त कोष था जिसका खुल कर प्रयोग किया गया। अत इस घाटे-वित्त से देश की अर्थ व्यवस्था पर मुद्रा स्फीति के प्रभाव दिखाई न दिए। इस समय तक देश की बहुत सी औद्योगिक क्षमता भी अप्रयुक्त थी जिसके उपयोग ने भी मुद्रा-स्फीति के दुष्प्रभाव रोकने मे सहायता दी।

द्वितीय योजना प्रथम से लगभग दूनी बडी बनाई गई। उसे अधिक साधनों की आवश्यकता हुई। अतएव १२०० करोड रुपए घाटे-वित्त द्वारा व्यय करने का निश्चय किया गया। यह अनुमान लगाया गया था कि लगभग २०० करोड रुपए पौंड पावने कोष से मिल जायेंगे और शेष १००० करोड रुपए से मुद्रा निर्गमन करना आवश्यक होगा। द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्ष म ९९७ करोड रुपए (प्रथम वर्ष २२८ क० रु०, द्वितीय वर्ष ४६४ क० रु० तथा तृतीय वर्ष २१५ क० रु०) के

घाटे वित्त का प्रयोग किया गया। यह सुरक्षा सीमा से बाहर था। अतएव देश की अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा-स्फीति के कुप्रभाव दिखाई देने लगे। पौंड पावने का बड़ी मात्रा में प्रयोग करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की साख सुविधाओं के उपरान्त भी देश में वस्तुओं के मूल्य तेजी से चढ़ने लगे, खाद्यान्न उत्पादन में कमी आगई, औद्योगिक उत्पादन की गति शिथिल होने लगी। अतएव आगामी वर्षों में घाटा-वित्त का कम प्रयोग करने का निश्चय किया गया। द्वितीय योजना काल में इस साधन से ११७५ करोड़ रुपए व्यय किए गए।

द्वितीय योजना के कटु अनुभव के उपरान्त देश तृतीय योजना में उस सीमा तक घाटा-वित्त प्रयोग करने के लिए असमर्थ था। अतएव तृतीय योजना में केवल ५५० करोड़ रुपए के घाटे-वित्त का अनुमान लगाया गया है। इस सीमा के निर्धारित करने में यह विचार किया गया है कि तीसरी योजना की अवधि में नोटों के चलन में ३३% की वृद्धि से मूल्यों पर विशेष दबाव नहीं पड़ेगा।

उपसंहार

घाटे की वित्त-व्यवस्था का सुरक्षित परिमाण निश्चय करने की कोई निश्चित विधि नहीं है। इस प्रसंग में, प्रचलित मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने के दोनों ढंगों अर्थात् बजट के माध्यम और बैंकों द्वारा ऋण-ग्रहण पर एक साथ विचार करना उचित है। घाटे की वित्त-व्यवस्था सम्बन्धी निर्णय समय-समय पर आर्थिक परिस्थितियों की जाँच करके ही किया जाना चाहिए। यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि उत्पादन में वृद्धि कितनी हुई—विशेषतः कृषि के क्षेत्र में—और मुद्रा स्फीति की प्रवृत्तियों पर कहाँ तक काबू पाया गया। वस्तुतः घाटा-वित्त एक उत्तम विकास साधन है, किन्तु इसके उपयोग में चतुराई और दूरदर्शिता की अतीव आवश्यकता है।

—

"समाज के माध्यम से ही भारत मे ऐसे समाज की स्थापना की जा सकती है, जिसका प्रत्येक सदस्य प्राथमिक आवश्यकताओ के अभाव से मुक्त हो।"

—पं० जवाहरलाल नेहरू

२७—समाजवादी समाजगठन

रूप रेखा

१. अर्थ।
२ मूल तत्व।
३ पाश्चात्य और भारतीय आदर्शों मे अन्तर।
४ आवश्यकता।
५ उद्देश्य।
६ औद्योगीकरण।
७ सामाजिक क्रांति।
८. आयोजन द्वारा प्राप्ति।
९ भारत मे प्रगति।

अर्थ

विश्व मे तीन वाद प्रचलित हैं· (१) सामन्तवाद, (२) समाजवाद एव (३) पूँजीवाद। सामन्तवादी व्यवस्था मे बडे-बडे भूपतियो, जमीदारो एवं राजकुमारो का बोलबाला होता है। समाज के अन्य अग बहुधा निर्धन, दुर्बल और तुच्छ समझे जाते हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत बडे-बडे कारखाने नही होते। उत्पादन कुटीर उद्योगो मे ही होता है।

पूँजीवादी व्यवस्था मे बडे-बडे कारखाने होते हैं जिनमे आधुनिक मशीनो से काम होता है। इन कारखानो पर धनी वर्ग का अधिकार होता है जिसे पूँजीपति अथवा उद्योगपति कहते है। उद्योग और व्यापार मे इन्ही का धन लगा रहता है और समाज की अधिकाश सम्पत्ति पर इन्ही का अधिकार होता है, यद्यपि वे स्वय काम

नही करते । समाज के अन्य वर्ग (मजदूर और किसान) गरीब एव तुच्छ समझे जाते हैं ।

समाजवाद इन दोनो से भिन्न है । ऐसे समाज म ऊँच-नीच अथवा धनी-निर्धन का भेदभाव नही होता । विशेषाधिकारो पर किसी एक वर्ग का एकाधिकार नही होता, उनका सभी मे वितरण होता है । भूमि और उद्योग पर समाज का अधिकार माना जाता है । सभी लोग सार्वजनिक हित साधन के लिये कार्य करते हैं । सम्मिलित प्रयास का परिणाम सभी को मिलता है और सभी सुखी जीवन व्यतीत करते हैं । ऐसे समाज मे मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण नही होता । सभी को उन्नति के समान अवसर उपलब्ध होते हैं । धन सम्पत्ति और आय का न्यायपूर्ण वितरण होता है ।

समाजवाद के भी दो रूप हैं । एक क्रान्तिकारी समाजवाद जिसे बहुधा साम्यवाद कहा जाता है और जो हिंसात्मक क्राति मे विश्वास करता है । ऐसा समाजवाद रूस, चीन, पूर्वी यूराप, उत्तरी कोरिया इत्यादि मे है । दूसरा वैधानिक समाजवाद है जिसमे शान्तिमय एव वैधानिक मार्ग से क्रान्ति की जाती है । इसे बहुधा राजकोय समाजवाद कहा जाता है ।

भारत मे समाजवाद से तात्पर्य वैधानिक समाजवाद से है । हम शान्ति और अहिंसा के वैधानिक मार्ग से सामाजिक क्राति के पक्ष मे हैं । यह एक ऐसा आर्थिक सगठन होगा जिसमे उत्पादन के प्रमुख साधन सरकार के अधिकार मे रहेंगे तथा उद्योग-व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण हो जायगा । औद्योगिक प्रबन्ध श्रमिक वर्ग की सहायता से किया जायगा । ऐसे समाज की रचना मे उत्पादन वृद्धि, आयोजित अर्थ-व्यवस्था, पूर्ण काम, न्यायपूर्ण वितरण, विषमता निवारण, समान अवसर इत्यादि आदर्शों की कल्पना की गई है ।८

भारत मे जिस समाजवादी समाज की कल्पना की गई है उसका अभिप्राय यह नही है कि आर्थिक क्षेत्र मे सभी नए काम केवल सरकार ही आरम्भ करेगी । वस्तुत राष्ट्रीय विकास मे निजी उद्योगपतियो का भी महत्वपूर्ण भाग माना गया है, कि तु निजी क्षेत्र को राष्ट्रीय योजना मे अन्तर्निहित अनुशासन और सिद्धान्तो का मानना और सरकारी क्षेत्र के साथ सहयोग करना आवश्यक होगा । निजी क्षेत्र से तात्पर्य बडी-बडी संगठित औद्योगिक इकाइयो से ही नही, वरन् करोडो किसानो, कारीगरो, व्यापारियो और छोटे-छोटे उद्योगपतियो से भी है । सरकारी क्षेत्र और सामाजिक भावना से अनुप्राणित निजी क्षेत्र मिल कर एक भव्य सहकारी जीवन की नीव डाल सकते हैं । सभी उद्योगो को, चाहे वे सरकारी हो या निजी, देश द्वारा स्वीकार किए गए आधारभूत आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यो के सन्दर्भ मे लोक हित की कसौटी पर खरा उतरना होता है ।

मूल तत्व

भारतीय समाजवादी समाजगठन के मूल तत्वो का समावेश भारतीय सविधान,

वादी समाज की प्रमुख आवश्यकता उद्योग-धन्धो का समाजीकरण माना जाता है। १९५४ के ससद के और १९५५ के आवडी प्रस्ताव के उपरान्त तदनुरूप औद्योगिक नीति मे परिवर्तन आवश्यक था। अतएव १९५६ की औद्योगिक नीति घोषणा की गई, जिसके अनुसार औद्योगिक क्षेत्र मे सरकार का अधिकार उत्तरोत्तर बढता जाएगा। अस्त्र-शस्त्र एव अन्य देश-रक्षा सम्बन्धी उद्योग, अणुशक्ति, लोहा-इस्पात, भारी मशीनें, कोयला इत्यादि १७ उद्योगों को सरकारी क्षेत्र म ले लिया गया है, अल्यूम्युनियम, मशीनी यन्त्र, उर्वरक, कृत्रिम रबड इत्यादि १२ उद्योग ऐसे हैं जिन्हे सरकार ने निजी साहस की सहायता से चलाने का निश्चय किया है, किन्तु जिनका उत्तरोत्तर उत्तरदायित्व सरकार लेती जाएगी, केवल कुछ कम महत्व के बडे और छोटे उद्योग ही पूंजीपतियो के लिये छोडे गए हैं। इन पर भी सरकारी नियन्त्रण रहेगा।

समाजवाद एव सामाजिक क्रान्ति

समाजवादी समाज की स्थापना के लिये पुनर्गठन ही आवश्यक नहो है, सामाजिक क्रान्ति भी अनिवार्य है, क्योंकि इस आदर्श के अ तर्गत सामाजिक न्याय, समान पद, समान अधिकार और विषमता निवारण इत्यादि सिद्धान्त निहित हैं। अतएव देश म १४ वर्ष तक की आयु के सभी बच्चो के लिए अनिवार्य एव नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई है। अनुसूचित जातियो को इस सम्बन्ध मे विशेष सुविधायें दी गई हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर देश म निरपेक्ष शासन स्थापित किया गया और सभी को समान अधिकार दिए गए हैं। स्त्रियो को आर्थिक स्वतन्त्रता देने के विचार से एक कानून बना दिया गया है तथा उनके कल्याण की व्यवस्था की गई है। हमारी योजनाओ मे शिशु-कल्याण की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। अस्पृश्यता कानूनी अपराध मान लिया गया है। पिछडी जातियो के जागरण के विशेष प्रयत्न किए जा रहे हैं। इस भाँति देश मे भारी सामाजिक क्रांति हो रही है।

समाजवाद और आयोजन

समाजवादी समाज के मुख्य लक्ष्यो में उत्पादन वृद्धि न्यायपूर्ण वितरण, विषमता एव वेकारी निवारण इत्यादि हैं। इन लक्ष्यो की प्राप्ति देश के लिए एक योजनाबद्ध कार्यक्रम अपना कर किया गया है। आयोजन की गति-विधि इस भाँति समायोजित की गई है कि देश शनै-शनै इन उद्देश्यो को प्राप्त करता जाए। गत दस वर्ष मे राष्ट्रीय आय मे ४२%, प्रति व्यक्ति आय मे २०%, कृषि उत्पादन मे ४०% तथा औद्योगिक उत्पादन मे ५१% की वृद्धि हुई है। उत्पादन वृद्धि के साथ साथ उचित वितरण की ओर भी ध्यान दिया गया है और देश की विषमता दूर होती जा रही है। कर-व्यवस्था के सुधार से, बचत की भावना जाग्रत करके इस ओर देश आगे बढ रहा है। आयोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा निजी क्षेत्र के उद्योगो को भी पूर्णतः नियन्त्रण मे ले लिया गया है।

भारत मे प्रगति

समाजवादी समाज की विचारधारा को व्यावहारिक रूप देने का प्रथम प्रयत्न

"सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणी पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात ॥"

(सब सुखी हों, दुखी कोई न हो,
सब निरोगी हों और सब सज्जन हों)

२८—सर्वोदय

रूपरेखा

१. अर्थ
२. मूल सिद्धान्त एवं गुण
३. आर्थिक-व्यवस्था
४ समाज-व्यवस्था
५ राजनैतिक व्यवस्था
६ सर्वोदय सम्मेलन
७ कार्यक्रम
८. उपसंहार।

अर्थ

सर्वोदय शब्द का अर्थ सबका उदय, सबका उत्कर्ष तथा सबका विकास है। यह सिद्धान्त भारत का पुरातन आदर्श माना गया है जो निम्नांकित श्लोक में निहित है :

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित दुःखमाप्नुयात ॥

महात्मा गांधी के मतानुसार सर्वोदय का अर्थ आदर्श समाज-व्यवस्था है जिसका आधार सर्वव्यापी प्रेम है। इस व्यवस्था में राजा-रंक, हिन्दू-मुसलमान, छूत-अछूत, काले-गोरे, सन्त-असन्त सबके लिये स्थान है। किसी भी व्यक्ति या समूह का दमन, शोषण या विनाश नहीं किया जायेगा। इस समाज-व्यवस्था में सब बराबर के सदस्य होंगे, सबको उनके परिश्रम की पैदावार में हिस्सा मिलेगा, बलवान दुर्बलों की रक्षा

आर्थिक व्यवस्था

सर्वोदय का आदर्श प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर है। इनके अन्तर्गत "सबै भूमि गोपाल की" मानी जाती है। भूमि अर्थात् उत्पादन के आधारभूत साधनों पर किसी व्यक्ति विशेष का आधिपत्य अन्यायपूर्ण है। सभी राष्ट्र की सम्पत्ति मानी जानी चाहिये अथवा उन पर राज्य का नियन्त्रण हो। वह स्वार्थपरता एवं निजी लाभ के लिये नही, वरन् मानव-जाति के लिए चलाए जाने चाहिएं। उनका हेतु लाभ के स्थान पर प्रेम होना चाहिए। इस व्यवस्था में उत्पादन का स्वरूप समाज की जरूरत से निश्चित होगा, न कि व्यक्ति की सनक अथवा लालच से। यह व्यवस्था सम्पत्ति में संरक्षकता का सिद्धान्त स्वीकार करती है जिससे समाज की वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था समतावादी व्यवस्था मे बदल जाती है। यह व्यवस्था व्यवसाय की स्पर्धा मे विश्वास नही करती जो धनी को अधिक धनी और निर्धन को अधिक निर्धन बनाने के लिए उत्तरदायी है।

सर्वोदय वस्तुत. न्याय का अर्थशास्त्र है। लोग जितना न्याय करना और सदाचारी बनना सीखेंगे उतने ही वे सुखी एवं सम्पन्न होगे। सर्वोदय कहता है कि जो अर्थशास्त्र केवल धन की पूजा करना सिखाता है और कमजोरों को हानि पहुँचा कर सबलों को धन जमा करने देता है, वह झूठा और भयानक अर्थशास्त्र है। वह मृत्यु का दूत है। इसके विपरीत सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय की हिमायत करता है। जैसे पिता के तमाम कमाऊ बेटों की कमाई परिवार के सम्मिलित कोष में जाती है, ठीक वैसे ही उसकी अधिकाश कमाई राज्य की भलाई मे काम आनी चाहिये। यह व्यवस्था आय की समानता प्रतिपादित करती है। वकालत का पेशा करने का यह मतलब नही कि एक देहाती बढई की मजदूरी से उसे ज्यादा मजदूरी मिले। इसके अन्तर्गत भंगियो, डाक्टरो, वकीलो, शिक्षकों, व्यापारियो और दूसरे लोगो को दिन भर के प्रामाणिक काम की एकसी मजदूरी मिलेगी। मजदूर की योग्यता उसका आधार होगा। सबके पास इतनी सम्पत्ति हो जिससे वे अपनी प्राकृतिक आवश्यकताएं पूरी कर सकें। यह आय और सम्पत्ति की समानता उद्योग-धन्धों के विकेन्द्रीकरण द्वारा सम्भव है। उद्योग-धन्धो के केन्द्रीयकरण से गरीब की गरीबी और अमीर की अमीरी बढती है। इस व्यवस्था के अनुयायी अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। अतएव अहिंसक धन्धे ही चला सकते हैं। अहिंसक धन्धा वह बताया गया है जो बुनियादी तौर पर हिंसा से मुक्त हो और जिसमे दूसरो का शोषण अथवा ईर्षा न हो। दस्तकारियो मे शोषण और गुलामी की गुंजाइश नही होती। यह व्यवस्था यंत्रों के विवेकहीन वृद्धि की विरोधी है। उसमे केवल सीधे-सादे मनुष्य का समय और श्रम बचाने वाले यन्त्रो का प्रयोग किया जा सकता है। हमे यह देखना होगा कि मशीन मनुष्य को बिल्कुल पगु न बना दे। इसमे पूंजी और श्रम के सम्बन्ध अच्छे रहते हैं। यदि पूंजी ताकत है, तो श्रम भी ताकत है और दोनो एक दूसरे पर निर्भर हैं।

समाज-व्यवस्था

सर्वोदय समाज एक मर्यादित समाज होगा। इसमें अहिंसा मनुष्य का एक सामाजिक गुण माना गया है, वह केवल व्यक्तिगत सद्गुण नहीं है। मनुष्य मुख्यतः एक सामाजिक प्राणी है। उसे अनियन्त्रित व्यक्तिवाद को त्याग कर व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा। सामाजिक संयम को खुशी से मानना व्यक्ति और समाज दोनों को समृद्ध करता है। सर्वोदय समाज में अस्पृश्यता के लिये स्थान नहीं है, यद्यपि उसमें सच्चे अर्थ में वर्णाश्रम धर्म की प्रशंसा की गई है। इस समाज में अन्तर्जातीय विवाह और खान-पान व्यक्तिगत प्रश्न माने गये हैं, उनका सर्वथा निषेध नहीं किया गया। स्त्री अहिंसा और प्रेम का अवतार मानी गई है और पुरुष के समान ही उसे अधिकार दिये गये हैं। पत्नी-पति की जीवन-सागनी और सहायक है तथा उसे अपना मार्ग चुनने की पति के समान ही स्वतन्त्रता है। विवाह धार्मिक संस्कार माना गया है तथा विवाहित जीवन में संयम का पालन आवश्यक बताया गया है। बाल-विधवाओं के विवाह को सामाजिक स्वीकृति दी गई है। गर्भ-निरोध को अनावश्यक कहा गया है। गो-रक्षा का अर्थ सभी जीवों की रक्षा और पशुओं के प्रति अहिंसा भाव से लिया गया है। इस भांति सर्वोदय समाज एक अहिंसक, प्रेमपूर्ण एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत समाज है। उसमें मनुष्यमात्र के ही नहीं बल्कि प्राणीमात्र के बन्धुत्व का आग्रह किया गया है।

राजनैतिक-व्यवस्था

सर्वोदय में राज्य-सत्ता का स्थान लोक-सत्ता ले लेती है। सच्चा लोकतन्त्र वह है जिसमें सम्पूर्ण सत्ता जनता के हाथ में हो। यह गांधीजी के रामराज्य की कल्पना है जिसमें लोकमत ही सर्वोपरि माना जाता है और सभी निर्णय सर्व-सम्मति से होते हैं। उसमें अल्पमत की उपेक्षा नहीं की जाती। चरित्र बल इस सत्ता का आधार है। ऐसा समाज अनगिनत गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग का नहीं, वरन् लहरों की तरह एक के बाद एक की शकल में होगा। इसका केन्द्र व्यक्ति होगा। व्यक्ति गांव के लिये और गांव ग्राम समूह के लिये मर-मिटने को हमेशा तैयार रहेगा। इस तरह अन्त में सारा समाज ऐसे व्यक्तियों का बन जाएगा जो अहंकार में आकर कभी किसी पर हमला नहीं करेंगे, बल्कि सदा विनीत रहेंगे। इस भांति सेना और पुलिस की आवश्यकता सर्वथा मिट जाती है। राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाता है कि वह स्वयं आत्म-नियमन कर लेता है और राजनैतिक सत्ता की आवश्यकता सर्वथा समाप्त हो जाती है।

लोक-शक्ति ही इस शासन-व्यवस्था का मूलाधार है जिसे न द्रव्य का भरोसा है, न हिंसा का और न कानून का। उसका एकमात्र संबल विचार शासन है। मनुष्य के स्वाभाविक प्रेम और सद्भाव की शक्ति का सामाजिक रूप ही विचार-शासन अथवा लोक शक्ति है।

सर्वोदय सम्मेलन

महात्मा गांधी ने सर्वोदय के इस दर्शन को जन्म दिया। विनोबा भावे इसे आज विकसित कर रहे हैं। भूदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान, साधनदान, बुद्धिदान, श्रमदान आदि प्रक्रियाएं सर्वोदय विचार-प्रचार के ही सक्रिय रूप है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद साम्प्रदायिक दगों की आग देश म भडक उठी। देश मे एक अद्भुत वातावरण उत्पन्न हो गया। कुछ लोग गांधी जी की हिन्दू-मुसलिम एकता की नीति की खुलकर निन्दा करने लगे और इसके परिणाम स्वरूप ३० जनवरी १६४८ को एक कट्टर पथी हिन्दू ने गांधी जी को गोली मार दी। गांधी जी की छाया देश से उठ गई। इन कठिन परिस्थितियो मे सेवा ग्राम आश्रम मे पं० जवाहरलाल नेहरू, विनोबा आदि प्रमुख व्यक्तियो की उपस्थिति मे यह सोचने के लिए कि "बापूजी की छत्र छाया हमारे ऊपर से उठ गई है, अब आगे क्या कार्यक्रम होगा?" एक सभा हुई। यह प्रथम सर्वोदय सम्मेलन था। दूसरा सर्वोदय-सम्मेलन इन्दौर के पास राऊ नामक ग्राम मे हुआ। सन् १६५० मे एक सर्वोदय-समाज की स्थापना हुई। इससे पूर्व कांग्रेस के सदस्य ही इन सम्मेलनो मे एकत्रित होते थे। अलग कोई सर्वोदय समाज नही था। तीसरा सर्वोदय-सम्मेलन ८ अप्रैल से ११ अप्रैल तक १६५१ मे शिवरामपल्ली मे हुआ। १८ अप्रैल १६५१ का दिन इतिहास का चिरस्मरणीय पृष्ठ रहेगा। इस दिन प्रथम भूदान हुआ। अब सन्त विनोबा ने सारे देश मे पैदल घूम-घूमकर भूदान यज्ञ आन्दोलन छेड दिया। चौथा सर्वोदय-सम्मेलन १३ अप्रैल १६५२ को सेवापुरी मे हुआ। इस सम्मेलन मे सर्व सेवा संघ ने २५ लाख एकड भूदान प्राप्त करने का सकल्प किया। मार्च १६५३ मे चाडील मे पांचवां सर्वोदय सम्मेलन हुआ जिसमे शासन मुक्त, शोषण विहीन समाज रचना की घोषणा की गई। अप्रैल १६५४ के बोध गया छठे सर्वोदय सम्मेलन मे प्रथम जीवन दान हुआ। मार्च १६५५ के जगन्नाथपुरी के सातवें सम्मेलन मे प्रथम ग्रामदान हुआ। आठवें सर्वोदय सम्मेलन मे मई १६५६ मे कांचीपुरम् ग्रामोदय की कल्पना सामने आई, नवम्बर १६५६ मे तन्त्रमुक्ति और निधिमुक्ति का महत्वपूर्ण निर्णय हुआ, मई १६५७ मे कालडी मे नवां सर्वोदय-सम्मेलन हुआ और जुलाई १६५७ मे गांव-गांव म शान्ति-सेना प्रस्थापित करने का नया विचार सूझा। दसवां सर्वोदय-सम्मेलन ३० मई से १ जून तक १६५८ म पढर-पुर मे हुआ और २५ जून को सर्वोदय-पात्र के प्रयोग का श्रीगणेश हुआ। इस प्रकार समय-समय पर सर्वोदय गगा मे विभिन्न विचाररूपी धारायें मिलती चली गई हैं। अब सर्वोदय-सम्मेलन सर्वोदय विचार-प्रचार का एक वार्षिक कार्यक्रम बन गया है जिसमे हजारो गांधीवादी एव सर्व सेवा सघ के सदस्य एकत्रित होते हैं और सर्वोदय के कार्यक्रम को आगे बढाते हैं।

सर्वोदय कार्यक्रम

सर्वोदय का मुख्य मार्ग विचार-प्रचार द्वारा लोगो का हृदय परिवर्तन और मत परिवर्तन है। इसके लिए गांधी जी का रचनात्मक कार्यक्रम चुना गया है। इस कार्य-

क्रम के मुख्य विषय जातीय एकता, अस्पृश्यता निवारण, मद्यनिषेध, खादी, ग्रामोद्योग, गाँव की सफाई, बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, स्त्रियाँ, आरोग्य नियमों की शिक्षा, प्रान्तीय भाषाएँ, राष्ट्रभाषा, आर्थिक समानता, किसान, मजदूर, आदिवासी, कुष्ठरोगी, विद्यार्थी और पशु-सुधार इत्यादि हैं। यह सूची केवल मार्ग दर्शक है। स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार इसे घटाया बढ़ाया जा सकता है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य मनुष्य मात्र ही नहीं जीव मात्र की सेवा करना तथा सामाजिक समानता उत्पन्न करना है।

उपसंहार

सर्वोदय का ध्येय एक वर्ग-विहीन, जाति-विहीन, शोषण-विहीन और शासन-विहीन समाज की स्थापना करना है। यह कोरा आदर्श ही नहीं पूर्णतः व्यावहारिक है। अन्तर्राष्ट्रीय संघ एवं अन्य विश्व सगठन इसी सन्देश के समर्थक हैं। सर्वोदय मानवीय विभूति के विज्ञान मे विश्वास करता है। घर मे, परिवार में हम जिस प्रेम से रहते हैं, दूसरों के लिए कष्ट सहते हैं तथा हर व्यक्ति की सुख-सुविधा का ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार हम सारे विश्व का, मानव मात्र का, प्राणीमात्र का ध्यान रखेंगे। इस आदर्श व्यवस्था में कोई किसी का शत्रु नहीं, सभी सामान्य ध्येय के लिए अपने अपने हिस्से का काम करते हैं। सब पढ़ लिख सकते हैं। रोग और बीमारी कम से कम होती है, संयम अधिक से अधिक। कोई दरिद्र नहीं होता। मजदूरों को सदैव काम मिल जाता है। ऐसे समाज मे जुआ, शराबखोरी, दुराचार, वर्ग-द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं। धनवान अपना धन बुद्धिमानी और उपयोगी ढंग पर खर्च करते हैं। ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं होता। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना हमारी रग-रग मे भिद जाती है।

"बिना विज्ञापन के राष्ट्र के १७०० दैनिक, ९००० साप्ताहिक एव ६०० मासिक पत्र-पत्रिकाओ की जीवन-नैया भंवर म पड जाएगी। रेडियो और टेलीविजन के सम्बन्ध में यह और भी सत्य है जिनकी आय का एक मात्र साधन विज्ञापन ही है।"

—एलसवर्थ बेकर

२९—विज्ञापन तथा उसकी उपयोगिता

रूप-रेखा

१. परिभाषा
२. उद्देश्य
३. विज्ञापन के लाभ
४ विज्ञापन के दोष व सीमाएं
५. विज्ञापन के माध्यम
   (क) समाचार पत्र,
   (ख) वाह्य विज्ञापन
   (ग) डाक द्वारा
   (घ) अन्य साधन
६. आधुनिक विज्ञापन की उपयोगिता।

परिभाषा

किसी वस्तु अथवा सेवा की धन व्यय करके ऐसी जानकारी कराना जिससे उनकी मांग उत्पन्न हो अथवा बढे, जिससे वे बिकें अथवा उनके बिकने मे सहायता मिले, और जिससे लोगो के ऐसे विचार बनें जो उन्हें एक निश्चित रूप मे सोचने अथवा काम करने के लिए प्रेरित करे, विज्ञापन कहलाता है। किसी वस्तु की बिक्री बढाना अथवा उसके बाजार का विस्तार करना इसका मूल उद्देश्य है। व्यापारिक जगत की प्रतियोगिता इसकी जननी है तथा उत्पादन की विविधता इसका जनक।

बाजार विस्तार के साथ-साथ दिन प्रति दिन इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है और अब इसने एक विज्ञान एवं कला का रूप धारण कर लिया है।

उद्देश्य

व्यापारिक क्षेत्र में विज्ञापन के तीन मुख्य उद्देश्य माने जाते हैं:—(क) नवीन वस्तु अथवा सेवा की जानकारी कराना और इस भाँति उसकी माँग उत्पन्न करना, (ख) उसकी माँग बढ़ाना तथा (ग) उसकी माँग को स्थिर बनाए रखना। आधुनिक जगत में विज्ञापन व्यापारिक आवश्यकता ही नहीं है, वरन् राजनीतिक, सामाजिक एवं जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी उपयोगी माना जाता है। यहाँ तक कि स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय इत्यादि शिक्षा संस्थाओं को भी विज्ञापन की शरण लेनी पड़ती है। लोकतंत्रीय आयोजन की सफलता भी प्रभावपूर्ण प्रचार पर निर्भर है।

विज्ञापन के लाभ

विज्ञापन से उत्पादक, उपभोक्ता एवं समाज के अन्य वर्गों को भी लाभ होता है। संक्षेप में ये लाभ निम्नांकित हैं:—

(क) उत्पादक को लाभ—(१) माल अथवा वस्तु की माँग उत्पन्न होती और बढ़ती है जिससे बिक्री बढ़ कर विक्रेता का लाभ बढ़ता है।

(२) बढ़ी माँग-पूर्ति के लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है जो सस्ता होता है, क्योंकि प्रति इकाई व्यय कम पड़ता है।

(३) विज्ञापन से व्यापारी की ख्याति बनती है।

(४) अस्वस्थ प्रतियोगिता पर काबू पाने का विज्ञापन अद्भुत अस्त्र है।

(५) वस्तु अथवा माल का विक्रय क्षेत्र विस्तृत होता है क्योंकि नये-नये दुकानदार उसे बेचने के लिए लालायित होते हैं।

(६) विज्ञापित वस्तुओं की माँग बनी रहने से व्यापार में सुरक्षा का भाव बना रहता है।

(७) ग्राहकों को बनाए रखने का काम भी विज्ञापन का ही है।

(८) व्यापार-व्यवसाय की नेकनामी के कारण योग्य कर्मचारी आकर्षित किए जा सकते हैं।

(ख) उपभोक्ता को लाभ:—(१) नवीन वस्तुओं की जानकारी होती है, (२) मध्यस्थ कम हो जाते हैं; (३) उपभोक्ता को सस्ते मूल्य पर माल मिल सकता है, (४) वस्तुओं के मूल्य स्थायी हो जाते हैं, (५) सस्ती वस्तुएँ प्राप्त होना उपभोक्ता के उच्च जीवन स्तर का कारण है, (६) उपभोक्ता बुद्धिमत्ता एवं मितव्ययता से व्यय करता है, (७) वस्तु व माल के गुण तथा उपयोग में विश्वास जम जाता है, (८) मूल्य की जानकारी हो जाती है, (९) सौदा करने में अधिक समय नष्ट नहीं करना पड़ता।

(ग) अन्य लाभ:—(१) विज्ञापन अनेक कलाकारों, कारीगरों, लेखकों इत्यादि के जीवन-निर्वाह का साधन है; (२) समाचार-पत्रों की आय का प्रमुख साधन

है, (३) उपभोक्ता को समाचार पत्र सस्ते मिलने लगते हैं, (४) अच्छे विज्ञापन लोगों का ज्ञान बढ़ाते हैं, (५) नवीन योजनाओं की जानकारी सहज सम्भव है, (६) विक्रय-कर्त्ता का काम सरल हो जाता है, (७) कर्मचारी अपने बनाए माल की बिक्री से गौरवान्वित होते हैं, (८) फुटकर दुकानदारों को माल बेचने में सुविधा हो जाती है।

विज्ञापन के माध्यम

आधुनिक विज्ञापन के अनेक साधन और माध्यम हैं जिन्हें हम सामान्यतः चार वर्गों में बाँट सकते हैं · (१) पत्र पत्रिकाओं द्वारा, (२) वाह्य विज्ञापन, (३) डाक द्वारा विज्ञापन और (४) अन्य साधन।

पत्र-पत्रिकाएँ—पत्र-पत्रिकाओं की आय का विज्ञापन एक मुख्य साधन है और उनकी सफलता नियमित विज्ञापन प्राप्त करने पर निर्भर है। व्यापारी वर्ग भी पत्र-पत्रिकाओं के विज्ञापन को एक सरल एवं सस्ता ढंग समझते हैं। ये विज्ञापन दैनिक, साप्ताहिक, अर्द्धमासिक, मासिक, त्रैमासिक, छमाही तथा वार्षिक पत्र-पत्रिकाओं में दिए जाते हैं। दैनिक पत्रों के विज्ञापन का प्रभाव अल्पकालीन होता है, किन्तु सामायिक पत्रिकाओं के विज्ञापन का प्रभाव दीर्घकालीन होता है।

वाह्य विज्ञापन (Mural Advertising)—वाह्य विज्ञापन का अर्थ दीवारों पर किए जाने वाले विज्ञापन से है, किन्तु आजकल इस श्रेणी में इश्तिहार चिपकाना अथवा बाँटना, बस, ट्राम, रेलगाडी द्वारा विज्ञापन, बिजली द्वारा सजावट, विमान द्वारा धुएँ से लिखना, डायरी, पेंसिल, कलम, स्याहीसोख इत्यादि पर विज्ञापन लिख कर बाँटना, सचित्र बोर्ड लगाना इत्यादि सभी आते हैं।

वाह्य विज्ञापन समाचार-पत्रीय विज्ञापनों के पूरक हैं अर्थात् जिन विज्ञापनों को पत्र-पत्रिकाओं में दिया जा चुका है उनका स्मरण कराने अथवा उनकी ओर व्यस्त व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए ये विज्ञापन किए जाते हैं। इनसे वस्तुओं के लिए अनुकूल वातावरण बनता है, उनकी विशेषताएँ जनता के सामने आती हैं तथा मिलने के स्थान की जानकारी होती है।

डाक द्वारा विज्ञापन (Mail Advertising)—आधुनिक युग में डाक सुविधायें अधिक लोकप्रिय हो गई हैं और यह विज्ञापन का एक प्रभावशाली माध्यम बन गई हैं। परिपत्र, मूल्य सूची, विवरण पत्र, स्मरण पत्र इत्यादि ग्राहकों अथवा सम्भावित ग्राहकों के पास भेजे जाते हैं। चुने हुए व्यक्तियों पर प्रभाव डालने का यह उत्तम साधन है। ग्राहकों के साथ व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और उन्हें स्थायी बनाया जा सकता है।

अन्य साधन—विज्ञापन के अन्य साधनों में विषय से सम्बन्धित विशेष पत्रिकाएँ अथवा मुखपत्र, मेले व प्रदर्शिनियाँ, सिनेमा, चल-चित्र, रेडियो, नमूने, प्रतिनिधियों द्वारा सम्पर्क, उपहार इत्यादि हैं।

विज्ञापन के दोष व सीमायें—आजकल विज्ञापन का इतना चलन हो गया है कि बिना विज्ञापन के माल की बिक्री असम्भव सी हो गई है। अच्छे से अच्छा माल भी बिना विज्ञापन के बेचना दुर्लभ है। अतएव सभी उत्पादकों एवं विक्रेताओं को विज्ञापन पर अधिक धन व्यय करना पड़ता है। अनेक छोटे व्यापारी-व्यवसाई दिवालिया तक हो जाते हैं। इससे वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है और उपभोक्ता की क्रय-शक्ति कम होती है। वस्तु की मांग कम हो जाती है। नए-नए विज्ञापन मनुष्य के मन में असन्तोष की भावना जाग्रत करते हैं, क्योंकि सभी वस्तुएं खरीद लेना सम्भव नहीं है। आजकल अनेक प्रकार के झूठे विज्ञापन होने लगे हैं जो भोले-भाले लोगों को भ्रम में डाल देते हैं। उपभोक्ता के मन में अनेक बार विज्ञापन अनिश्चितता उत्पन्न कर देते हैं और कभी-कभी उन्हें अनावश्यक वस्तुओं पर धन खर्च करना पड़ता है। कुछ वस्तुयें मनुष्य के मस्तिष्क एवं स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालती हैं। विज्ञापन मकानों व दीवारों को गन्दा कर देते हैं। चिल्ला-चिल्ला कर विज्ञापन करने वाले लोगों की शान्ति भंग करने में कुछ उठा नहीं रखते। विज्ञापन की अधिकता लोगों के मन में अरुचि उत्पन्न करके उनका विश्वास सर्वथा हटा देती है। एक बार विज्ञापन करने से काम नहीं बनता। उसे बार-बार करते रहना आवश्यक है।

आधुनिक विज्ञापन के उपयोग

इन सब दोषों और सीमाओं के होते हुए भी विज्ञापन आज के व्यापार-व्यवसाय का एक आवश्यक अंग माना जाता है और उसका प्रचार दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। (क) वाणिज्य निर्माता—विज्ञापन को आधुनिक युग का वाणिज्य निर्माता (**Business builder**) कहा जाता है। ब्रिटेन में देश की राष्ट्रीय आय का ६% और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ४% विज्ञापन व्यय है। इंगलैंड का एक सिगरेट निर्माता अपने नये नमूने अथवा नई छाप (Brand) की जानकारी कराने पर २०,००,००० पौंड (२ ६७ करोड रुपए) खर्च कर देता है। इसी भांति संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की एक बड़ी सिगरेट कम्पनी १,४०,००,००० पौंड से १,५०,००,००० पौंड (२० करोड रुपए) प्रारम्भिक विज्ञापन पर खर्च करने को प्रस्तुत रहती है। इस अमित व्यय के पीछे नए विज्ञापन की व्यापार-व्यवसाय जमाने की अनुपम शक्ति ही काम करती है। (ख) मांग सृष्टा (**Demand creator**)—विज्ञापन में मांग उत्पन्न करने की अपार क्षमता है। माल के गुण, स्वभाव, उपयोग, मूल्य, रंग-रूप इत्यादि की बिना जानकारी के मांग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, विशेषतः आज के विश्वव्यापी बाजार में। आज से ठीक सौ वर्ष पूर्व १८६० में जब संयुक्त राष्ट्र अमेरिका अपना औद्योगीकरण प्रारम्भ कर रहा था और जब विज्ञापन अपनी बाल्यावस्था में हो था संयुक्त राष्ट्र विज्ञापन पर १,००,००,००० पौंड व्यय करता था और उसका राष्ट्रीय उत्पादन ५,००,००,००,००० पौंड था। आज सौ वर्ष उपरान्त संयुक्त राष्ट्र का विज्ञापन व्यय ११,००,००,००,००० पौंड और राष्ट्रीय उत्पादन ५,००,०००,०००,००० पौंड है अर्थात् विज्ञापन में ११०० गुनी वृद्धि हो गई है और

राष्ट्रीय उत्पादन में १०० गुनी। राष्ट्रीय उपज से भी विज्ञापन की ११ गुनी अधिक वृद्धि विज्ञापन के माँग वर्द्धन सम्बन्धी चमत्कार की ओर संकेत करती है। विश्व-व्यापी बाजार का निर्माण विज्ञापन ने ही किया है, क्योंकि माँग उत्पन्न करना आज की प्रतियोगी प्रणाली की एक मुख्य क्रिया है। (ग) आयोजित उत्पादन एवं उपयोग का संगी (**Essential adjunct to planned production and consumption**)—जैसे दोषपूर्ण मुद्रा उत्तम मुद्रा को प्रयोग से हटा देती है, वैसे ही उपभोग्य पदार्थों में उत्तम पदार्थ दोषपूर्ण पदार्थों को उपभोग से हटा देते हैं। उपभोग्य पदार्थों का विज्ञापन सहायक है। अच्छा विज्ञापन बुरे विज्ञापन को हटाने में सफल होता है। अच्छा विज्ञापन अच्छे माल का ही हो सकता है। उपभोग्य क्षेत्र में गुण ही प्रधान है। इसी कारण आजकल व्यापार चिन्हों और छापों में लोगों की अधिकाधिक आस्था और विश्वास बढ़ता जा रहा है। वे किसी छाप का माल इसी लिए लेते हैं कि उन्हें उसके गुण का विश्वास हो जाता है। इस भाँति विज्ञापन माल के उत्तम नमूने और प्रतिमान स्थापित करने का एक साधन बन गया है। जो व्यापारी-व्यवसायी दोषपूर्ण माल से लोगों को धोखे में डालते रहते हैं वे या तो बाजार से सर्वथा निकल जाते हैं या वे अपने माल का गुण सुधार करने को विवश हो जाते हैं।

अच्छा विज्ञापन स्वस्थ प्रतियोगिता उत्पन्न करता है। इससे उत्पादक और उपभोक्ता दोनों को लाभ होता है। इस स्वस्थ प्रतियोगिता से उत्पादक को नई क्रिया, नया कच्चा माल, नए रूपाकण, नए रूप-रंग की प्रेरणा मिलती है ताकि उसका माल अधिक आकर्षक हो सके। इस गुण सुधार का लाभ उपभोक्ता को उच्च कोटि के माल और सस्ते मूल्य के रूप में मिलता है। इस भाँति विज्ञापन आयोजित उत्पादन एवं उपभोग का सहगामी माना जाता है। **(घ) रचनात्मक कला (Creative art)**—आज के युग में विज्ञापन को एक वैज्ञानिक तथा रचनात्मक कला माना जाता है। इसे व्यापारिक प्रबन्ध का एक यंत्र माना जाता है और मनोविज्ञान, अंक शास्त्र, बाजार सर्वेक्षण इत्यादि व्यापारिक प्रबन्ध सम्बन्धी सभी प्रकार के विश्लेषणों से इसे विभूषित किया जाता है। आज के विज्ञापन-विशेषज्ञ बाजारों, माध्यमों, अपीलों, प्रति-लिपियों, स्थापन स्थान, उत्पादन क्रिया इत्यादि के विषय में संभवतः वैज्ञानिकों से अधिक जानकारी रखते हैं। इस भाँति वे विश्व की सुन्दर से सुन्दर रचना के श्रेय के भागी हैं। **(ड) बिक्री यंत्र (Tool of Market)**—विज्ञापन आधुनिक विक्रय-कला का यंत्र है। इसका मुख्य ध्येय माल की बिक्री है। बिक्री की सफलता माल, वस्तु अथवा सेवा का आकार-प्रकार, रूप-रंग एवं मूल्य जानना आवश्यक है। केवल ऊपरी जानकारी से भी काम नहीं चलता, माल का उपभोक्ता के साथ सम्बन्ध ज्ञात होना चाहिए। उपभोक्ता का माल के रूप, रंग, आकार, प्रकार, मूल्य, सुगन्ध, चमक, ऊपरी दिखावट इत्यादि के सम्बन्ध में क्या विचार है? ये बातें विज्ञापन में और अन्ततोगत्वा बिक्री में बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

"वस्तुतः सुखी वही है जिसने जीवन बीमा जैसी वैज्ञानिक बचत योजनाओं द्वारा अपनी अर्थ-व्यवस्था आयोजित की हो।"

—कैलाशनाथ काटजू

३०—जीवन बीमा निगम

रूप-रेखा

१. प्रस्तावना।
   (क) जीवन बीमा का संक्षिप्त इतिहास।
   (ख) जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण।
२ जीवन-बीमा निगम का संगठन।
३. जीवन-बीमा योजनाएँ।
४. बीमा कार्य की प्रगति।
५ कर्मचारी वर्ग एवं शिक्षण।
६. विनियोग नीति।
७. आलोचना।

प्रस्तावना

प्राचीन भारत मे जीवन बीमा का प्रयोग होता था। ऋग्वेद मे 'योगक्षेम' शब्द का इस अर्थ मे प्रयोग किया गया है। आधुनिक जीवन-बीमा प्रणाली यहाँ इङ्गलैण्ड और यूरोप से आई जहाँ सोलहवीं शताब्दी मे उसका जन्म हुआ। भारत मे प्रथम जीवन बीमा करने वाली ओरियण्टल जीवन बीमा कम्पनी थी जो १८१८ मे कलकत्ता मे बनी थी। १८७० तक कुल लगभग १५ कम्पनियाँ बन गईं जिनमे से सात भारतीय और आठ विदेशी थी। ये कम्पनियाँ केवल यूरोप के लोगो का बीमा करती थीं। भारत के लोगो के बीमा के लिए उन्हें अतिरिक्त धन देना पड़ता था। १८७१ मे बम्बई म्यूचुअल जीवन बीमा कम्पनी और १८७४ मे ओरियण्टल गवर्नमेंट सिक्योरिटी जीवन बीमा कम्पनी और बनी जिन्होने भारतीय लोगो से अतिरिक्त धन

बनाने के दृष्टिकोण से कई प्रकार की योजनाएँ चालू की गई हैं जिनमें से मुख्य निम्नांकित हैं :—

(१) सम्पूर्ण जीवन बीमा, (२) वृत्ति बीमा (Endowment), (३) संयुक्त जीवन वृत्ति बीमा, (४) अस्थायी बीमा, (५) पारिवारिक आय बीमा, (६) शुद्ध वृत्ति बीमा तथा द्विगुणित वृत्ति बीमा, (७) विविध लाभ गारंटी बीमा, (८) परिवर्तनीय आजीवन बीमा, (९) शिशु पालिसियाँ, (१०) जनता पालिसी, (११) वेतन बचत योजना, (१२) समुदाय बीमा योजना, (१३) वार्षिक वृत्ति।

निगम के बीमा सम्बन्धी आंकड़ो से ज्ञात होता है कि वृत्ति बीमा (Endowment) सबसे अधिक लोकप्रिय बीमा है जिसका भाग कुल बीमित मूल्य का लगभग ७०% है। संयुक्त बीमा का भाग १९५८ में १०%, सम्पूर्ण जीवन बीमा का ८%, शिशु बीमा का ५% तथा शेष ७% अन्य पालिसियों का था। विविध रुचि-स्वभाव के लोगों की माँग के अनुसार निगम नई-नई बीमा योजनायें चालू करती है।

बीमा कार्य की प्रगति

१९२९ से भारतीय बीमा सम्बन्धी पूर्ण आंकड़े उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि १९२९ मे २९ करोड रुपये के मूल्य की १,४३,००० पालिसियाँ चालू थी। १९३९ तक पालिसियों की संख्या लगभग ३ लाख और उनका मूल्य ४७ करोड रुपये हो गया तथा इसमें उपरोक्त वृद्धि होती रही। सन् १९५१ तक पालिसियों की संख्या ५·३६ लाख तथा उनका मूल्य १४८ करोड रुपए अर्थात् १९२९ की अपेक्षा पाँच गुने से ऊँचा हो गया। गत वर्षों की प्रगति के आंकड़े नीचे दिए गए हैं।

वर्ष	पालिसियों की संख्या (लाख)	बीमा का मूल्य (करोड रु०)	सूचक अंक (१९२९=१००)
१९५१	५ ३६	१४७ ८६	५१७
१९५५	७·९६	२४० ५१	८४१
१९५६	५·४९	१८७ ६९	६५६
१९५७	७ ९५	२८१ ९०	९८५
१९५८	९ ३६	३४३·९७	११९९
१९५९	११·५१	४२८·९४	१४९९

इन आंकड़ो से ज्ञात होता है कि राष्ट्रीयकरण के तुरन्त उपरान्त बीमा मूल्य कम हो गया था, किन्तु तुरन्त यह कमी पूरी ही नहीं करली गई, वरन् उसमे आगे

तीव्र गति से वृद्धि होती चली गई। प्रत्येक पालिसी के औसत मूल्य मे भी बढोतरी हुई। १९५५ में प्रति पालिसी मूल्य ३२०० रु० था जो १९५७ मे ३५७५ रु० और १९५८ म ३६६६ रु० हो गया। निगम के व्यवसाय की इस तीव्र वृद्धि के कारण नए कार्यालय खोलना तथा नई योजनाएं (जनता पालिसी), संयुक्त जीवन बीमा, वेतन बचत योजना इत्यादि) चालू करना है।

कर्मचारी वर्ग एव शिक्षण

निगम के ऊपर से नीचे तक सम्पूर्ण कार्यकर्त्ताओ को दो श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है : (क) प्रशासन कर्मचारी वर्ग तथा (ख) क्षेत्र अधिकारी (Field Officers)। निगम के कुल अधिकारियो एवं कर्मचारियो की संख्या लगभग ३५००० है। निगम के कार्य-विस्तार के साथ गत वर्षों में कर्मचारियो की संख्या बढती गई है।

अपने कर्मचारियो की योग्यता और कार्य-कौशल बढाने के निमित्त निगम ने सभी अधिकारियो एवं कर्मचारियों को शिक्षा देने की व्यवस्था की है। दफ्तरो मे काम करने वाले सभी नए-पुराने कर्मचारियो के शिक्षण के लिए प्रत्येक प्रादेशिक केन्द्र मे शिक्षण व्यवस्था की गई है। उच्च अधिकारियो के शिक्षण के लिए नागपुर मे एक कालेज खोल दिया गया है।

विनियोग नीति

जीवन बीमा व्यवसाय में बडी मात्रा मे धन संचय होना स्वभाविक है और उस व्यवसाय की सफलता उस धन के उत्पादक विनियोग मे है।

जीवन बीमा निगम कानून द्वारा निगम को अपने बचे धन का विनियोग करने के लिए एक सलाहकार समिति की सहायता लेने का अधिकार है। निगम की विनियोग नीति निर्धारित करने वाली यही समिति है और इस सम्बन्ध मे निगम स्वतन्त्र है, उस पर १९३८ के कानून की धाराएं लागू नहीं होती। १९५७ के निगम के विनियोग का विवरण निम्नांकित है :

	करोड रु०	कुल का प्रतिशत
१. सरकारी ऋण-पत्र	२६०·६१	७०
२. कम्पनियों के अंश व ऋण-पत्र	६६ १४	१८
३ बंधक भूमि	१३ ८६	३
४. मकान	२१·३८	५
५. अन्य	१६·६१	४
जोड	३८१·९०	१००

आलोचना

गत वर्षों मे निगम ने अपनी सेवा का स्तर उच्चतर करने एवं भारतीय जनता को अधिकाधिक संरक्षण देने मे कोई बात उठा नही रखी। उसने कई नई योजनाएं (जनता पालिसी, सामुदायिक बीमा, वेतन बचत योजना, सयुक्त जीवन पालिसी) चालू की हैं जिनसे समाज क विविध अगो ने लाभ उठाया है। निगम ने अपने संचित धन को राष्ट्रीय महत्व के आधारभूत उद्योगो मे लगाकर देश में औद्योगीकरण की गति बढाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। उसने पंचवर्षीय योजनाओं के लिए भी अपार धन दिया है। निगम ने नए-नए कार्यालय ऐसे स्थानो में खोलकर जहां पहले कभी नही खोले गए थे बीमा के सन्देश को अधिक लोकप्रिय एवं व्यापक बनाने का भरसक यत्न किया है। निगम ने उचाई एजेण्ट नियुक्त करके ग्रामीण जनता से उचाई के प्रश्न को सरल कर दिया है। निगम ने अपने निजी लक्ष्य निर्धारित किये हैं और पंचवर्षीय योजना बनाई है। यह योजना १९५९ मे प्रारम्भ हुई जिसमे प्रथम वर्ष का नये काम का लक्ष्य १००० करोड रुपये रखा गया था जिसे प्राप्त करने मे निगम को पूरी-पूरी सफलता मिली। इस भांति निगम नित प्रति लोकप्रिय होती जा रही है और उसका सेवा क्षेत्र उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। तो भी हमें उसे और भी विस्तृत करने के प्रयत्न जारी रखने चाहिये। हमारा उद्देश्य देश के प्रत्येक परिवार तक बीमा का सन्देश पहुँचाने का होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि निगम को ८ करोड पालिसियाँ चालू करनी चाहियें, किन्तु अभी तक केवल ७० लाख पालिसियाँ ही दी गई हैं अर्थात् निगम के कार्य में दस-ग्यारह गुनी वृद्धि की अभी आवश्यकता है। इस आदर्श स्थिति तक पहुँचने के लिए आवश्यकता है कि निगम के प्रति जहाँ भी उँगली उठाई जाती हो उन दोषो को दूर किया जाए।

निगम के प्रति एक दोषारोपण यह किया जाता है कि वह एक महान वित्तीय संगठन को आदर्श आर्थिक सिद्धान्तो के अनुकूल नही चला रही और न वह वर्तमान निहित-सामर्थ्य का पूरा उपयोग करने मे ही सफल हुई है। बहुधा अस्वाभाविक लक्ष्य नियत कर दिए जाते हैं और अकुशल प्रबन्ध, बढते हुए व्यय तथा अन्य अस्वाभाविक ढंगो से इन्हें प्राप्त करने के यत्न किए जाते हैं जिनसे जनता की करोडो की बचत यो ही व्यर्थ बह जाती है। निगम के कार्य का समुचित फैलाव भी नही होता और वर्ष भर के बीमा कार्य का एक बडा भाग वर्ष के अन्तिम दो महीने में ही पूरा होता है। यह कार्य मे देरी होने का सूचक अंक है। प्रस्तावो को पूरा करने में असाधारण देरी होती है।

इस बात की आवश्यकता है कि बीमा के सन्देश को ग्रामीण क्षेत्र में अधिक ले जाया जाए जहां लोगो मे बचत की भावना कम है और जो कुछ भावना है उसके लिए उपयुक्त साधन नही हैं इसके लिए जनता पालियो को और भी अधिक सफल बनाना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्र मे होने वाले मेलो और प्रदर्शिनियो में प्रचार कार्य

बढाना चाहिए। तभी यह सभव है, क्योंकि इन मेलों में करोड़ों ग्रामीण इकट्ठे होते हैं जहाँ सहज प्रचार सभव है। हाल में ग्रामीण क्षेत्र के लिए निगम ने एक डाक्टरी-हीन योजना (Non medical Scheme) चालू की है। इसे आगे बढ़ाने की नितान्त आवश्यकता है। निगम को सर्वेक्षण की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। सभी क्षेत्रों मुख्यत ग्रामीण क्षेत्र का पूर्ण सर्वेक्षण करा कर उपयुक्त आँकड़े सकलित करने मे कोई देरी न करनी चाहिए। कोई भी वैज्ञानिक योजना बनाने के लिए पूर्ण एव अधिकृत आँकड़े अत्यन्त आवश्यक हैं।

"खाद्याभाव के उपरान्त मकानों के अभाव की समस्या इस समय भारत की एक भयानक समस्या बन गई है।"

—एस० डी० पुनेकर

३१—मकानों की समस्या

रूपरेखा

१ मकानों का महत्व
२ समस्या का स्वरूप
३ कमी के कारण
४ सरकारी हस्तक्षेप
५ सरकारी संगठन
६ भवन निर्माण की प्रगति
७ विविध योजनाएं
(क) औद्योगिक आवास
(ख) निम्न आय वर्ग
(ग) मध्य वर्ग
(घ) घनी बस्तियाँ एवं हरिजन आवास
(ङ) विस्थापित वर्ग
(च) बगीचा उद्योग
(छ) सरकारी कर्मचारी
(ज) ग्रामीण क्षेत्र
८ उपसंहार।

महत्व

भोजन और वस्त्र के उपरान्त मनुष्य की तीसरी अनिवार्य आवश्यकता मकान है। आवास-व्यवस्था का मनुष्य के स्वास्थ्य और सुख से घनिष्ट सम्बन्ध है। सुन्दर और स्वच्छ निवास स्थान का मनुष्य की कार्य-शक्ति, कार्य-कौशल और कार्य-क्षमता

पर भी प्रभाव पडता है। उद्योग, व्यवसाय और प्रशासन व्यवस्था के लिये आवास व्यवस्था लगभग अनिवार्य है।

समस्या का स्वरूप

अब से कुछ दिन पूर्व तक हमारे देश म आवास व्यवस्था की ओर ध्यान नही दिया गया था। ग्रामीण क्षेत्रों म जीवन के लगभग सभी पहलुओं की उपेक्षा की जाती रही है। बहुधा नगरो का भी अव्यवस्थित विकास हुआ है। इस समय हमारी मकानों की समस्या के दो रूप हैं। ग्रामीण क्षेत्र म मकानों के अभाव की समस्या नहा है। सभी ग्राम्य वासी मकान मालिक होते हैं चाहे मकान पक्का हो चाहे कच्चा अथवा केवल फूंस की झोंपडी। इसके विपरीत नगरो म बहुधा लोग कियेदार हैं। नगरो की जनसख्या म वृद्धि होने के कारण किराये के मकान मिलना भी दुर्लभ हो गया है और मकान किराये अनेक लोगो की देय शक्ति के बाहर हो गये हैं। प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ म देश के नगरो म २५ लाख मकानो की कमी का अनुमान लगाया गया था। द्वितीय योजना के प्रारम्भ म यह कमी बढकर ५३ लाख हो गई। इस समय स्थिति इतनी ही अधिक बिगडी हुई बताई जाती है जितनी कि वह प्रथम योजना काल म बिगड गई थी अर्थात् द्वितीय योजना के अन्त म योजना के प्रारम्भ की अपेक्षा मकानो की कमी दुगुनी होने का अनुमान लगाया गया है। तृतीय योजना के प्रारम्भ म केवल नगरो म ७८ लाख मकानो की कमी आकी गई है। इस भांति हमारी मकानो की समस्या का भयानक रूप बडे नगरो म दिखाई देता है जहाँ जनसख्या का भारी जमघट हो गया है और आज का सभ्य और शिष्ट नागरिक बजारे की भाँति पडाव डाल पडा दिखाई देता है।

कमी के कारण

द्वितीय विश्व युद्ध के समय से सभी औद्योगिक देशो मे मकानो की समस्या भयानक हो गई है। भारत म इसके भयानक रूप धारण करने का कारण जनसख्या की अपार वृद्धि है। गाँव की अपेक्षा बडे नगरो की जनसख्या और भी तेजी से बढ रही है। धनी मानी, महत्वाकाक्षी और शान्तिप्रिय लोग गाव छोडकर नगरो म बसते जारहे हैं। ग्रामीण क्षेत्र मे बढती हुई बेकारी अथवा अर्द्ध बेकारी, कार्य के साधनो और आधुनिक जीवन की सुख सुविधाओ का अभाव तथा नगरो का औद्योगीकरण एव आकर्षण इस प्रवास के मुख्य कारण हैं। द्वितीय युद्ध और उसके उपरान्त के वर्षों म, विशेषत योजना काल मे औद्योगीकरण के कारण नगरो की जनसख्या विशेष तेजी से बढती गई है। देश विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई शरणार्थी समस्या ने भी मकानो की कमी को बढाने मे कम योग नही दिया। भवन निर्माण सामग्री का अभाव और ऊंचे मूल्य तथा किराया नियत्रण कानून भी इस समस्या की प्रज्वलित ज्वाला म आहुति देते रहे हैं। अतएव मकानो की बढती हुई माँग से भवन-निर्माण की गति लगभग १६% पीछे रह गई है। १९५४ म लिये गये आँकडो से ज्ञात हुआ है कि गत दशक म कानपुर नगर म जनसख्या ६६% बढी कि तु मकान व्यवस्था म

केवल ७% वृद्धि हुई । इलाहाबाद के सम्बन्धित आँकड़े ३५% और १०%, बनारस के ३४% और २%, आगरा के ४५% और ११ प्रतिशत तथा लखनऊ के २८ प्रतिशत और ७½ प्रतिशत थे ।

सरकारी हस्तक्षेप

इस समस्या का मुख्य पहलू मकानो के मूल्य अथवा उनके किराये का लोगो की आय से सम्बन्ध स्थापित करना है । भारतवर्ष मे एक बडी जनसंख्या ऐसे लोगो की है जो अपनी वार्षिक आय से मकान निर्माण के लिये कुछ भी बचाने मे असमर्थ हैं । विनियोग के दृष्टिकोण से भवन-निर्माण आकर्षक विषय नही है । जो कुछ पूँजी मकान निर्माण के लिये पूँजीपतियो द्वारा लगाई जाती है उससे उच्चवर्ग के लोगो के लिये भले ही कोठियाँ खडी हो जायें, निम्न श्रेणी के लोगो को इससे कोई सुविधा नही होती । ऐसी स्थिति मे और विशेषत लोक-कल्याण शासन, समाजवादी समाज और संतुलित आयोजन इत्यादि उद्देश्यो के परिपालन के लिये इस क्षेत्र मे सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक समझा गया । हमारे देश मे सरकार का ध्येय जनसंख्या के अनुपात मे मकानों की वृद्धि करना, वास्तविक लागत व्यय पर लोगों को मकान उपलब्ध करना अथवा ऐसे किराये पर मकान देना है जो अधिकतर लोगो की देय शक्ति के अनुकूल हो । सरकार ऐसे लोगो के लिये आवास व्यवस्था करना चाहती है जिनकी आर्थिक स्थिति भवन निर्माण के लिये अनुकूल नहीं है । ऐसे लोगों को बचत की प्रेरणा प्रदान की जाती है और बचाये हुये धन को मकान बनाने के लिये लगाने को लोगों को प्रोत्साहित किया जाता है ।

सरकार विविध प्रकार की सहायता भी प्रदान करती है । सरकार की ओर से मकान बनाकर उचित किराये पर उठाये जाते हैं । भवन-निर्माण के लिये आर्थिक सहायता और ऋण भी दिये जाते हैं । कर सम्बन्धी छूट देकर भी लोगो को प्रोत्साहित किया जाता है ।

सरकारी संगठन

मकानो की भारी कमी देखकर प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे भारत सरकार ने इस सम्बन्ध मे विशेष संगठन स्थापित करने का निश्चय किया और मई १९५२ मे निर्माण, आवास तथा पूर्ति मंत्रालय की स्थापना की । १९५४ मे राष्ट्रीय निर्माण संस्था (National Buildings Organisation) जिसका उद्देश्य अनुसंधान और समन्वय द्वारा भवन-निर्माण व्यय मे कमी करना तथा लोगों को आवश्यक सूचना देना है । इस सगठन का मुख्य अंग राष्ट्रीय निर्माण परिषद् है । इसी वर्ष एक केन्द्रीय ग्रामीण सगठन (Central Rural Cell) की भी स्थापना की गई जिसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र को आवश्यक सहायता और परामर्श प्रदान करना है ।

भवन निर्माण की प्रगति

देश मे प्रथम पंचवर्षीय योजना के आविर्भाव के साथ-साथ नगरो मे मकानो

की कमी दूर करने के यत्न किये जाने लगे। इस योजना में श्रमिक वर्ग, निम्न आय क लोग और विस्थापितों के लिये समुचित आवास व्यवस्था की योजनाएं चालू की गई। योजना की अवधि म ६३ करोड रुपये लगाकर ७ लाख ४० हजार मकान सरकारी क्षेत्र मे बनाये गये जिनमे से ७७ हजार श्रमिक वर्ग के लिये ४० हजार निम्न आय के लोगो के लिये, ३ लाख २३ हजार शरणार्थियो के लिये और ३ लाख मकान सरकारी कर्मचारियों के लिये बनाये गये। व्यक्तिगत क्षेत्र में इसी अवधि म ७ लाख ५० हजार मकानो का निर्माण हुआ। इस भाँति प्रथम योजना काल मे १४ लाख ६० हजार नये मकान भारतीय नगरों में बने।

द्वितीय योजना म १२० करोड रुपये मकान निर्माण के लिये योजना आयोग ने रखे। यह अनुमान लगाया गया था कि कुल मिलाकर १ हजार करोड रुपये भारत सरकार, राज्य की सरकारो, स्थानीय सस्थाओ और व्यक्तिगत पूंजीपतियो द्वारा इस काम मे लगाये जा सकेंगे तथा योजना के अन्तर्गत १२ लाख और व्यक्तिगत प्रयत्नो से १० लाख अर्थात् २२ लाख मकान इस योजना की अवधि म बन जाएंगे। द्वितीय योजना मे सरकारी कर्मचारियो, ग्रामवासियो, घनी बस्तियो मे रहने वाले लोगो, हरिजनो, बगीचा उद्योगो और मध्यम वर्ग के लोगों के लिय आर्थिक सहायता सम्बन्धी योजनाएं चालू की गई। द्वितीय योजना के १९५८ म संशोधन करते समय अनुमानित धन राशि १२० करोड रुपये स घटाकर ८४ करोड रुपये करदी थी जिसमे से ५६ करोड रुपए व्यय किए गए। रिजर्व बैंक के एक अनुमान के अनुसार शहरो मे मकान बनवाने मे प्रथम योजना काल में कुल ५०० करोड रुपए और दूसरी योजना काल मे ६०० करोड रुपए व्यय किए गए। तीसरी योजना मे १२० करोड रुपये रखे गए हैं, किन्तु कुल १२०० करोड रुपए व्यय होने का अनुमान है।

विविध योजनायें

(क) **औद्योगिक आवास (Industrial Housing)**—प्रथम और द्वितीय योजना के अन्तर्गत चालू की गई भवन निर्माण योजनाओ मे यह पहली योजना है जिसे सितम्बर १९५२ में कारखानो मे काम करने वाले लोगो के लिये चालू किया गया था। इसके अन्तर्गत फैक्टरी कानून और खान कानून के अन्तगत आने वाले सभी श्रमिक सम्मिलित हैं। इस योजना के अनुसार केन्द्रीय सरकार राज्य की सरकारो अथवा आवास बोर्डों को मकानो की लागत का ५०% ऋण और ५०% आर्थिक सहायता के रूप मे देती है। इसी भाँति उद्योगपतियो को ३७½% ऋण और २५% आर्थिक सहायता तथा श्रम जीवियो की सहकारी समितियो को ५०% ऋण और २५% आर्थिक सहायता देती है। प्रथम योजना काल मे इस सुविधा से लाभ उठाकर ७७ हजार मकान बने और द्वितीय योजना मे १ लाख ४२ हजार।

(ख) **निम्न आय वर्ग**—यह कार्यक्रम नवम्बर १९५४ मे राज्य की सरकारो को ऋण देने के सम्बन्ध मे चालू किया गया था। इसका उद्देश्य ऐसे लोगों को भवन

निर्माण के लिये ऋण देना है जिनकी आय ६,००० रु० वार्षिक अथवा ५०० रु० मासिक से अधिक नहीं होती। राज्य की सरकारें यह ऋण ५३/४% व्याज पर ३० वर्ष की अवधि के लिये ऐसी आय वाले व्यक्तियों अथवा उनकी सहकारी समितियों को देती हैं। ऋण की अधिकतम सीमा मकान और भूमि के मूल्य का ८० प्रतिशत अथवा ८ हजार रुपए प्रति मकान है। प्रथम योजना काल में इस सुविधा से लाभ उठाकर ४० हजार मकान बनाये गये तथा द्वितीय योजना काल में ६८ हजार मकान।

(ग) **मध्यम वर्ग**—यद्यपि मध्यम वर्ग के लिए प्रथम योजना काल में ही कोई कार्यक्रम बनाने का विचार था, किन्तु कई कारणों से कोई सक्रिय कदम न उठाया जा सका। जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण के कारण यह योजना कई वर्ष तक यों ही पड़ी रही। फरवरी सन् १९५९ में भारत सरकार ने जीवन बीमा निगम की सहायता से इसे अन्तिम रूप दिया। इसके अन्तर्गत ६,००१ रुपए से १२,००० रुपए तक की वार्षिक आय के लोगों को ५॥ प्रतिशत ब्याज की दर से २५ वर्ष के लिये ऋण दिए जाने की व्यवस्था की गई है।

(घ) **घनी बस्तियां एवं हरिजन आवास**—यह योजना ५ मई १९५६ में बनाई गई थी। इसके अन्तर्गत घनी बस्तियों में रहने वालों और हरिजनों के लिए केन्द्रीय सरकार ने राज्य की सरकारों अथवा स्थानीय संस्थाओं को २५ प्रतिशत आर्थिक सहायता और ५० प्रतिशत ऋण के रूप में देने की व्यवस्था की है। मकान की लागत का शेष २५ प्रतिशत राज्य की सरकार अथवा स्थानीय संस्था को अपनी ओर से देने की व्यवस्था करनी आवश्यक समझी गई। इस योजना से वही लोग लाभ उठा सकते हैं जिनकी आय बम्बई और कलकत्ता में २५० रुपया मासिक और अन्यत्र १७५ रुपए मासिक से अधिक न हो। द्वितीय योजना काल में १,१०,००० मकान बनने की सम्भावना की गई।

(ङ) **विस्थापित लोग**—विस्थापित लोगों के बसाने और उन्हें काम देने की योजनाएं देश विभाजन के फलस्वरूप चालू की गई थीं। प्रथम योजना में इस काम के लिए १३६ करोड़ रुपए रखे गए थे जिसमें से ६५ करोड़ रुपए भवन-निर्माण में खर्च हुए। द्वितीय योजना में इस विषय पर ९० करोड़ रुपए के व्यय का अनुमान लगाया गया था। अनेक बड़े नगरों में विस्थापितों के लिए बस्तियां बसाई गई हैं और कई नये नगर भी इन लोगों के बसाए गए हैं। दण्डकारण्य योजना की सफलता के साथ-साथ विस्थापितों के बसाने की समस्या लगभग पूर्णतः हल हो जायेगी।

(च) **बगीचा उद्योग**—इस वर्ग के लोगों के लिए अप्रैल १९५६ में आवास व्यवस्था का कार्यक्रम बनाया गया था। प्रारम्भ में मकान के मूल्य के ८० प्रतिशत के बराबर अथवा उत्तरी भारत में २,००० रुपए तक और दक्षिणी भारत में १,६०० रु० तक ऋण रूप में बगीचा उद्योग में काम करने वाले लोगों को दिए जा सकते थे। अगस्त १९५७ में उपयुक्त सीमायें बढ़ाकर क्रमशः २४०० रु० और १९२० रुपए तक करदी गईं। द्वितीय योजना काल में ११,००० मकान बनने की सम्भावना की गई।

(छ) **सरकारी कर्मचारी**—केन्द्रीय और राज्य की सरकारों द्वारा अपने कर्मचारियों के लिये आवास व्यवस्था करना एक सामान्य प्रथा समझी जाती है। आवश्यक सेवाओं (रेल और देश रक्षा विभागों) और छोटे नगरों में काम करने वाले कर्मचारियों के लिये आवास व्यवस्था आवश्यक समझी जाती है। युद्धोपरान्त काल में इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है। प्रथम योजना काल में विभिन्न सरकारों ने अपने कर्मचारियों के लिए लगभग ३ लाख मकान बनवाये। द्वितीय योजना में विभिन्न सरकारों ने ५ लाख ७६ हजार मकानों की व्यवस्था की। इनके अतिरिक्त १ लाख ७७ हजार मकान खनिज उद्योग में काम करने वाले लोगों के लिए भी केन्द्रीय सरकार की ओर से बनवाए गए।

(ज) **ग्रामीण क्षेत्र**—प्रथम योजना काल में ग्रामीण क्षेत्र के लिए कोई व्यवस्थित कार्यक्रम न बनाया जा सका, तो भी देश के विभिन्न भागों में १८ हजार आदर्श मकान बनवाए गए और ९५ हजार मकानों का सुधार किया गया। यह व्यवस्था सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत की गई। द्वितीय योजना में अक्टूबर १९५७ में ग्राम सुधार कार्य के आवश्यक अंग के रूप में एक योजना बनाई गई। इस योजना का मुख्य उद्देश्य शैल्पिक सहायता प्रदान करना तथा मकानों का सुधार करना है। सुधार व्यवस्था इस प्रकार की जायगी कि १० वर्ष के अन्तर्गत सारे गांवों के मकानों का पुनर्निर्माण हो सके। आर्थिक सहायता की अधिकतम सीमा लागत व्यय के ५० प्रतिशत अथवा १५०० रुपए प्रति मकान ऋण के रूप में सीमित होगी। यह ऋण व्यक्तियों अथवा सहकारी समितियों को २० वर्ष के लिये दिये जायेंगे। द्वितीय योजना में ५,००० ग्रामीण पुनर्निर्माण सम्बन्धी योजनाएं कुछ चुने हुए गाँवों में चालू की गईं। इन पर ५ करोड़ रुपए व्यय करके १ लाख २० हजार मकान बनाए गए।

इन योजनाओं की प्रगति अत्यन्त धीमी है। बहुधा आर्थिक सहायता अथवा ऋण व्यवस्था ऐसी हैं जिनकी या तो लोगों को जानकारी नहीं है या तो उनकी शर्तें कठोर हैं। जिसे निम्न वर्ग ठहराया गया है वह वास्तव में मध्य वर्ग है और मध्य वर्ग व्यावहारिक दृष्टि से उच्च वर्ग। यद्यपि आर्थिक सहायता भवन निर्माण के लिए आवश्यक है किन्तु केवल धन से मकान नहीं बन सकते। धन से भी अधिक आवश्यक ईंटें, सिमेंट, लोहा, चूना और अन्य सामिग्री हैं जिसके मूल्य अत्यन्त ऊँचे हो गये हैं और उनका मिलना भी दुर्लभ हो गया है। भवन निर्माण की प्रगति में स्थानीय संस्थाओं के कानून भी एक भारी बाधाएं हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने से ही भवन निर्माण की उचित प्रगति सम्भव है।

' जो विकासशील अर्थ-व्यवस्था अपने साधनो को बढाने का प्रयत्न करती है, उसे इस समस्या का सामना करना ही पडता है कि वह विशिष्ट यत्र सामग्री, धातुएं और कल-पुर्जे आदि का अधिकाधिक मात्रा मे विदेशों से आयात करे, परन्तु वह उनका मूल्य कुछ समय तक अपने निर्यात-व्यापार की कमाई द्वारा नही चुका पाती। इस परिस्थिति मे विदेशी साधनो की आवश्यकता पड़ना अवश्यम्भावी है। इस तरह की सहायता भारत के आर्थिक विकास मे गति लाने मे काफी समर्थ सिद्ध हुई है और उसकी जितनी भी कीमत आँकी जाए, कम है।"

—योजना आयोग

३२—विदेशी पूँजी

रूप-रेखा

१. विदेशी पूँजी का महत्व।
२. विदेशी पूँजी के प्रकार।
३. विदेशी पूँजी का आगमन।
४. विदेशी पूँजी की मात्रा।
५. विदेशी पूँजी के लाभ।
६. दोष।
७. सरकारी नीति।
८. उपसंहार।

महत्व

उत्पादन का पूँजी से सीधा सम्बन्ध है। आज के पूँजीवादी युग मे उत्पादन के साधनो मे पूँजी का एक महत्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक विशालकाय व्यवसाय को न केवल यन्त्र उपकरणो तथा चल-अचल सम्पत्ति के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है, वरन् उत्पादन के अन्य साधनों (भूमि, श्रम, संगठन) के जुटाने के लिये भी

पूँजी अपेक्षित है। किसी औद्योगिक संगठन की उत्पादन-सामर्थ्य पूँजी के सरल, नियमित और सशक्त प्रवाह पर निर्भर है।

पूँजी के प्रकार

पूँजी दो प्रकार की हो सकती है, देशी और विदेशी। सुदृढ एवं संतुलित औद्योगिक विकास के लिये स्वदेशी पूँजी ही वाछनीय है। जिन अविकसित देशो म पर्याप्त स्वदेशी पूँजी उपलब्ध नही, वहाँ विदेशी पूँजी का उपयोग कर लेने मे कोई आपत्ति नही। आज के विश्व बन्धुत्व और विश्व सहयोग के युग मे रूस और सयुक्त राष्ट्र जैसे धनी देशो को छोडकर कोई विरला ही राष्ट्र ऐसा होगा जहाँ थोडी-बहुत मात्रा मे विदेशी पूँजी न लगी हो।

प्रयोग के दृष्टिकोण से भी पूँजी के दो रूप हो सकते है; स्थायी पूँजी और अस्थायी अर्थात् कार्यशील पूँजी। यहाँ पर हमारा मन्तव्य केवल स्थायी दीर्घकालीन पूँजी की समस्या पर विचार करना है।

विदेशी पूँजी का आगमन

यूरोपीय जातियो के आगमन के साथ-साथ भारत मे विदेशी पूँजी का पदार्पण हुआ। तब से १८ वी शताब्दी के अन्त तक वणिक पूँजी का प्राधान्य रहा। सन् १५०० में सर्वप्रथम पुर्तगाल वालो ने अपनी पूँजी लगाकर कालीकट मे एक कोठी खोली। उसके लगभग एक शताब्दी उपरान्त अँग्रेजो द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। उसी समय डच और फ्रांसीसियो ने भी भारत मे व्यापारिक कोठियाँ बनाईं। ये सभी जातियाँ केवल व्यापारी की हैसियत से अपना रुपया भारत मे लगाती रहीं।

धीरे-धीरे ये व्यापारी उद्योगपति बन गये और इन्होने बडे पैमाने के उद्योग स्थापित करने प्रारम्भ किये। चाय, कहवा, और सन के खेतो मे काम आरम्भ किया; रेलो, सडको और नहरो के निर्माण मे अपनी पूँजी लगाई, कोयले की खानें खोदने लगे, सन और रुई के वस्त्र बुनने के कार्यालय, बैंक तथा बीमा के व्यवसाय प्रारम्भ किये। इस भाँति देश म आधुनिक उद्योगो का जन्म हुआ और इस काल मे लगी हुई विदेशी पूँजी औद्योगिक पूँजी कहलाई। यह स्थिति सन् १९१४ तक बनी रही।

प्रथम युद्ध के उपरान्त भारत ने औद्योगिक संरक्षण की नीति अपना कर विदेशी पूँजी का आगमन सीमित कर दिया, तो भी देश की बढती हुई आवश्यकताओ के कारण विदेशी पूँजी का अधिकाधिक प्रयोग होता रहा। इस युग म ऋण रूप मे बहुधा विदेशी पूजी का सचय हुआ। स्वतन्त्रता के समय तक इस सम्बन्ध मे हमारी कोई स्थायी नीति नही थी। स्वतन्त्र भारत मे किसी स्थायी नीति का निर्धारण आवश्यक था। अतएव इस प्रश्न को लेकर एक भारी वाद-विवाद उठ खडा हुआ। यद्यपि इस समय भारत सरकार द्वारा एक निश्चित नीति घोषित की जा चुकी है, तो भी यह वाद-विवाद सर्वथा शान्त नही हुआ है।

(३) औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था म जोखिम का अंश अधिक होता है। यह सम्भव है कि प्रारम्भिक जोखिम विदेशी पूंजी उठावे और स्थापित उद्योगो को देशवासी प्राप्त कर लें। भारत म यही हो रहा है। सभी नये उद्योग विदेशी सहायता से स्थापित किये जा रहे हैं जिन्हे निश्चित अवधि के उपरान्त भारत सरकार अथवा भारतवासी ले लेंगे।

(४) यह पूंजी बहुधा समुन्नत और समृद्ध देशा से आती है जो अपने साथ उत्पादन की नई क्रियाये, नई मशाने और नए कारोबार लेकर आती है। इनके प्रवेश से देश को अपार लाभ होना स्वाभाविक है।

(५) विदेशी पूंजी के साथ-साथ प्रतियोगिता वृद्धि होती है जो कि देश के उद्योगो को चौकन्ना रखने और उत्पादन के ऊंचे ढंग अपनाने के लिए बाध्य करती है।

(६) इससे देश में स्थायी सम्पत्तियो की सृष्टि होती है तथा काम के साधन बढते हैं।

(७) अविकसित देशो के विकास का एक मात्र श्रेय विदेशी पूंजी को ही है क्योंकि बिना पूंजी के साधनो का उपयोग सम्भव नहीं।

दोष

(१) विदेशी पूंजी का सबसे अधिक भयानक रूप राजनैतिक क्षेत्र में दिखाई देता है। विदेशी पूंजी के साथ विदेशी प्रभुत्व और प्रभाव अवश्यम्भावी है। व्यापार के पीछे-पीछे ध्वजा चलती है अर्थात् आर्थिक प्रभुत्व के साथ-साथ राजनैतिक प्रभुत्व स्वाभाविक है। अंग्रेजी शासन काल मे हम इसके कडवे फल चख चुके है।

(२) विदेशी पूंजी की सहायता से देश के प्राकृतिक साधनो का दोहन और विकास बहुधा विदेशियो के लिए ही अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। परिस्थितियो का स्वाभाविक ज्ञान न होने के कारण विकास की गतिविधि उचित दिशा मे नहीं हो पाती।

(३) इससे देश के युवको को प्रशिक्षण सम्बन्धी अवसर प्राप्त नही होते और देश के उद्योग-धन्धो का संचालन एवं प्रबन्ध सर्वथा विदेशियो के हाथ मे रहता है।

(४) रक्षा तथा आधारभूत उद्योग में विदेशी पूंजी का विनियोग भयानक समझा जाता है।

(५) देशी पूंजी के द्वारा देश में पूंजी निर्माण की गति बढती है क्योंकि उद्योगो से प्राप्त लाभ भी बहुधा पूंजी बन जाते हैं। इससे देश की औद्योगिक परिधि उत्तरोत्तर चौडी होती चली जाती है। विदेशी पूंजी के लाभ बहुधा विदेश चले जाते

हैं और देश इस स्वाभाविक औद्योगीकरण से वंचित रह जाता है। सन् १९५९ में विदेशी कम्पनियों को ३८ करोड़ रुपए लाभ हुआ जिसमें से केवल १० करोड़ रुपए देश में रहे।

सरकारी नीति

स्वतन्त्र भारत की औद्योगिक नीति की घोषणा करते समय भारत सरकार ने अनेक महत्वपूर्ण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की। इस घोषणा से विदेशी पूँजी का भविष्य संदेह पूर्ण हो गया और विदेशी पूँजी निरुत्साहित हो गई। इससे देश की योजनाओं के कार्यान्वित करने में बाधा उपस्थित होने लगी। अतएव अप्रैल १९४९ में भारत सरकार ने अपनी विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति की इस भाँति घोषणा की —

(क) सामान्य औद्योगिक नीति के कार्यान्वित करने में देशी और विदेशी औद्योगिक संस्थाओं में कोई भेद-भाव नहीं रक्खा जायगा।

(ख) विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों को ध्यान में रख कर विदेशी पूँजी द्वारा कमाए हुए लाभ को विदेश भेजने के लिए आवश्यक सुविधायें प्रदान की जायेंगी और पूँजी के स्वदेश गमन पर कोई रोक नहीं लगाई जायगी।

(ग) उद्योग के राष्ट्रीयकरण के समय उचित हानिपूर्ति के उपरान्त ही सरकार ऐसे उद्योगों को अपने स्वामित्व में लेगी।

उक्त नीति को भारत सरकार ने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं का एक अंग मान लिया है और उनके कार्यान्वित करने के लिए विदेशी पूँजी का पूर्णतः स्वागत किया जाता है क्योंकि इसके द्वारा हमें पूँजीगत माल, औद्योगिक विशेषज्ञों और विदेशी एकस्व अधिकारों के उपयोग करने के अवसर मिलते हैं।

उपसंहार

पिछले कटु अनुभव का ध्यान रखते हुए विदेशी पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में हमें सचेत रहने की आवश्यकता है। केवल ऐसे क्षेत्रों में विदेशी पूँजी लगाने की अनुमति दी जानी चाहिए जिनमें कि विदेशी पूँजी के कारण किसी प्रकार के भय की आशंका न हो। देश रक्षा सम्बन्धी और आधारभूत उद्योगों में विदेशी पूँजी का विनियोग वाछनीय नहीं है। नैतिक दृष्टि से इस सिद्धान्त को मानते हुये भी हमने इसका उल्लंघन किया है। हमारे लोहे-इस्पात के नए कारखाने विदेशी सहायता से स्थापित हुए हैं। तो भी हमें इसे एक अल्पकालीन व्यवस्था मानकर उससे शीघ्र छुटकारा पाने का यत्न करना चाहिए।

विदेशी पूँजी स्वीकार करते समय ऐसी शर्तें लगानी आवश्यक हैं जिनके द्वारा विदेशी पूँजी देश में आए किन्तु विदेशी प्रभुत्व देश में न आए। इस सम्बन्ध में विशेष सचेत रहने की आवश्यकता है।

औद्योगिक विकास के दृष्टिकोण से ऋणों के रूप में विदेशी पूंजी का विनियोग वांछनीय बताया जाता है। ऋण रूप में विदेशी पूंजी का आगमन बुरा नहीं माना जाता, किन्तु यह ऋण विदेशी सरकारों अथवा महत्वपूर्ण संस्थाओं (विश्व बैंक, आयात-निर्यात् बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक वित्त निगम) से ही लिए जाने चाहिएं।

हाल के वर्षों में विदेशी पूंजी का भारत में बहुधा साझेदारी के रूप में आगमन हुआ है। यह साझेदारी की प्रथा वांछनीय है, किन्तु इस साझेदारी से पूर्व केन्द्रीय सरकार की अनुमति ले लेनी चाहिए। समझौते की शर्तों में देश के युवकों को प्रशिक्षण देने की उचित व्यवस्था अवश्य कर लेनी चाहिए।

गत वर्षों में विदेशी पूंजी की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई है। इस बात की आवश्यकता है कि विदेशी पूंजी का विनियोग देशी पूंजी के निर्माण की गति बढ़ाने के लिए होना चाहिए न कि उसके ह्रास के लिए। देश को स्वावलम्बन की नीति अपनानी चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विदेशी पूंजी के विनियोग हमारी देय शक्ति के बाहर न चला जाय।

संक्षेपिका लेखन एवं अपठित

विषय-प्रवेश

किसी भाषा की सामान्य जानकारी का एक प्रचलित ढंग उस भाषा मे लेख लिखने एवं अपठित का अभ्यास है। अपठित से तात्पर्य पाठ्य पुस्तक के अतिरिक्त स्थान से लिए हुए वक्तव्य, लेख अथवा अवतरण से है। इस अवतरण के अध्ययन से ज्ञानवृद्धि के बहुधा चार मार्ग हैं : (क) अवतरण का साराश (Summary) लिखना, (ख) उसकी संक्षेपिका लिखना, (ग) पारिभाषिक शब्दो अथवा शब्द-समूहो का अर्थ अथवा भावार्थ लिखना, एवं (घ) अवतरण के अनुसार कुछ प्रश्नो के उत्तर लिखना। इन चारो क्रियाओ मे संक्षेपिका लिखने की क्रिया सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं कठिन है और सबसे अधिक अभ्यास की अपेक्षा करती है। अतएव सभी परीक्षाओ मे संक्षेपिका को विशेष महत्व दिया जाता है। इस पुस्तक मे विद्यार्थी वर्ग की इस आवश्यकता को दृष्टिगोचर करके ही संक्षेपिका की ओर विशेष ध्यान दिया गया है और उसके अभ्यास का मार्ग भी बताया गया है।

संक्षेपिका की परिभाषा

संक्षेपिका किसी मूल विषय, वक्तव्य, विवरण, लेख अथवा अवतरण का सार-गर्भित संक्षिप्त रूप है। यह विस्तृत विवरण को कम से कम शब्दो मे व्यक्त करने की एक कला है। इसका मुख्य उद्देश्य विषय को अधिक स्पष्ट, बोधिगम्य, सहज ग्राह्य बना कर श्रम और समय की बचत है। वस्तुत: यह मुद्रण यंत्र और टंकन यंत्र की भाँति ही आधुनिक युग का एक श्रम संचक यंत्र है। संक्षेपिका पाठक को मूल विषय का कम प्रयास और कम समय मे ज्ञान कराने का एक साधन है। संक्षेपिका लिखते समय मूल अवतरण की काट-छाँट उसी सावधानी से की जाती है जिस सावधानी से एक चतुर माली उपवन की लताओ की काट-छाँट करके उन्हे अधिक सुन्दर, आकर्षक और उपयोगी बनाता है।

संक्षेपिका अपने छोटे रूप मे भी उसी भाँति पूर्ण और स्पष्ट होती है जैसे किसी बडे चित्र का छोटा रूप जिसमे मूल चित्र की सभी रेखायें और सभी हाव-भाव विद्यमान रहते हैं। उद्यान का माली किसी आवश्यक लता-पल्लव से हाथ नही लगाता, केवल अनावश्यक पर कैंची चलाता है। उसी भाँति संक्षेपिका लेखक का कर्तव्य है। आवश्यक तर्क और विचार निकाले नही जाते और अनावश्यक भाव छोडे नही जाते।

किसी अवतरण का साराश लिखने और संक्षेपिका बनाने मे अन्तर है। सारांश बनाने मे मूल विषय के वाक्य विन्यास, क्रम, शैली, विचारधारा, तर्क इत्यादि को बहुधा

अपने मूल रूप मे ही प्रस्तुत करना होता है और अधिक से-अधिक मूल लेख के शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। सक्षेपिका म ऐसा नही है। सक्षेपिका मे बिखरे हुए भावो को क्रमबद्धता के साथ एक सूत्र मे बाँध कर इस भांति प्रस्तुत करना होता है कि विषय शीघ्र और कम प्रयास से समझ मे आ सके। कोई विचार, भाव अथवा तर्क मूल लेख मे किसी कारणवश दबे रह गए हो जिनकी वजह से विषय स्पष्ट न होता हो, तो संक्षेपिका मे उन्हे उभार देना चाहिए। इसके विपरीत यदि मूल विषय मे कोई तर्क अथवा विचार दुहराए तिहराए गए हो तो सक्षेपिका मे उन्हे दुहराने तिहराने की आवश्यकता नही है। किसी बात को दुहराना सक्षेपिका का भारी दोष माना जाता है। साराश लिखते समय लेखक अथवा वक्ता द्वारा कही गई प्रत्येक बात और प्रत्येक तर्क को ग्रहण किया जाता है, किन्तु संक्षेपिका मे केवल आवश्यक बातो और तर्कों को सम्मिलित किया जाता है, अनावश्यक बातो को छोड दिया जाता है। साराश सदैव एक सा लिखा जाता है, किन्तु सक्षेपिका अवसर और उद्देश्य के अनुसार बदल सकती है।

सक्षेपिका और लेख मे भी अन्तर है। लेख लिखते समय लेखक प्रपाद्य विषय के पक्ष-विपक्ष के तर्कों का उल्लेख करने, उनकी आलोचना और काट-छांट मे स्वतन्त्र है। सक्षेपिका लिखने मे लेखक के विचारो की आलोचना करने, उनके समर्थन अथवा त्याग की स्वतन्त्रता प्राप्त नही है। लेख लिखते समय कोई व्यक्ति निजी विचार व्यक्त करने मे भी स्वतत्र है, किन्तु सक्षेपिका मे उसे यह स्वतन्त्रता भी प्राप्त नही है। उसे उसी परिधि के अन्तर्गत रहना है जो सीमा मूल लेखक ने बाँध दी है। उसे पूर्ण भक्ति भाव अपनाना आवश्यक है। सक्षेपिका लेखक सदैव मूल लेखक का अनुसरण करता है और उसकी विचारधारा के प्रति भक्ति-भाव बरतता है।

किसी लेख मे रूपक, उपमा, विशेषण, प्रश्न-वाचक, विस्मयादि बोधक, उदाहरण और अलकृत भाषा के लिए पूर्ण स्थान होता है, किन्तु संक्षेपिका मे नही। सक्षेपिका मे किसी बात को न तो घुमा-फिरा कर कहने का अवसर है और न अलकृत भाषा का।

संक्षेपिका के मुख्य गुण

सक्षेपिका का सौंदर्य निम्नाकित गुणो पर निर्भर है। किसी संक्षेपिका मे जितने ही अधिक ये गुण होगे, वह उतनी ही अच्छी समझी जाएगी और अपनी उद्देश्य पूर्ति म वह उतनी ही अधिक सफल होगी।

(१) **स्पष्टता**—सक्षेपिका लेखक अथवा वक्ता के विचारो का शुद्ध और सच्चा विवरण होना चाहिए और उसे सर्वथा वही विचार व्यक्त करना चाहिए जिसे कहने का मूल लेखक अथवा वक्ता का उद्देश्य था।

(२) **सुबोधता**—सक्षेपिका मे दुरर्थ शब्दो अथवा वाक्यो के लिए कोई स्थान नही होता। अस्पष्टता सक्षेपिका का सबसे बडा दोष है। सक्षेपिका इतनी सुबोध और सुस्पष्ट भाषा मे लिखी-जानी चाहिए कि पाठक उसे बिना प्रयास समझ सके।

(३) **सक्षिप्तता**—सक्षेपिका का सबसे बडा गुण उसका सक्षिप्त रूप है, किन्तु यह रूप अवसर और उद्देश्य के अनुसार भिन्न हो सकता है। सामान्यत सक्षेपिका

अपने मूल आकार के एक तिहाई के बराबर होनी चाहिए, किन्तु यह अवतरण की प्रकृति पर निर्भर है। कोई अवतरण इतने सारगर्भित हो सकते हैं कि उनका एक तिहाई कर देना भी कठिन होता है और कोई इतने सारहीन कि उनका दसवाँ रूप सहज प्रस्तुत किया जा सकता है।

(४) **पूर्णता**—संक्षिप्त होने के साथ-साथ संक्षेपिका में पूर्णता का गुण होना आवश्यक है। कोई आवश्यक विचार और तर्क छूटना नहीं चाहिए और अनावश्यक तर्क अथवा विचार उसमे आना नही चाहिए किन्तु वह स्वत पूर्ण अवश्य होनी चाहिए।

(५) **क्रमागत विवरण**—यह आवश्यक नही कि संक्षेपिका लेखक मूल अवतरण के क्रम का ही पालन करे। उसे अपना निजी क्रम अपनाने की आवश्यकता है। इस क्रम के अपनाने म उसे विचारो और तर्कों के महत्व का ध्यान रखना पडता है। महत्वपूर्ण विचारो और तर्कों को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है। संक्षेपिका एक क्रमबद्ध विवरण उपस्थित करती है।

संक्षेपिका का महत्व

संक्षेपिका आधुनिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। यह आधुनिक युग के अन्य अनेक श्रम सचक यन्त्रो और युक्तियो म से एक है। बडे से बडे राजकीय अधिकारी से लेकर सामान्य कर्मचारी तक और प्रकाण्ड पण्डित से लेकर विद्यार्थी तक के लिए इसका ज्ञान अपेक्षित है।

आज के लोकतन्त्रीय शासन म एक के ऊपर दूसरे-तीसरे अधिकारी होते हैं और केन्द्रीकृत शासन का मूलाधार ये उच्च पदाधिकारी और उनकी कार्य पटुता ही होती है। इन पदाधिकारियो और उप-पदाधिकारियो की कार्य पटुता और क्षमता अधीन अधिकारियो के संक्षेपिका-लेखन के ज्ञान पर निर्भर है। यदि अधीन अधिकारी विचारणीय विषय को थोडे से थोडे शब्दो मे उच्च पदाधिकारियो के सम्मुख रखने म समर्थ हैं तो अन्तिम निर्णय मे कोई देर न लगेगी। इसके विपरीत यदि अधीन अधिकारी संक्षेपिका के ज्ञाता नही हैं तो उच्च पदाधिकारी का बहुत सा अमूल्य समय अनावश्यक विवरणो, लेख-प्रलेखो, पत्र प्रपत्रो इत्यादि के पढने म व्यय जाएगा और निर्णय मे देरी होगी।

आज के व्यापार व्यवसाय का क्षेत्र भी विश्वव्यापी है। बहुधा सौदे, संविदे और समझौते पत्र-व्यवहार द्वारा होते हैं। आधुनिक उद्योग-व्यवसाय का प्रतीक संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियाँ हैं जिनके भागीदार देश-विदेश मे फैले रहते हैं। व्यापार-व्यवसाय के संचालक व प्रबन्धकर्त्ता को इनसे पत्र-व्यवहार द्वारा ही सम्बन्ध स्थापित करना पडता है। प्रबन्धकर्त्ता उस विस्तृत पत्र-व्यवहार को अधीन अधिकारियो की सहायता से शीघ्र समझने और निर्णय करने की क्षमता ग्रहण करता है। ये अधीन अधिकारी लम्बे लेख-प्रलेखो और पत्र-प्रपत्रो को संक्षिप्त करके उच्च-

अधिकारियों का समय और श्रम बचाते हैं और व्यापार-व्यवसाय की गति बढ़ाते हैं।

लोकमत के निर्माता सम्पादक एवं सम्वाददाता तथा ज्ञान-विज्ञान के प्रतीक शिक्षक व शिक्षार्थी की सफलता भी संक्षेपिका के ज्ञान पर बहुत सीमा तक निर्भर है। सम्पादक बिना संक्षेपिका के ज्ञान के विस्तृत विवरणों और वक्तृताओं को सीमित स्थान में व्यक्त करने में असमर्थ रहेगा। इसी भाँति अध्यापक एवं विद्यार्थी का अध्ययन भी बिना संक्षेपिका की जानकारी के सीमित रहेगा।

संक्षेपिका का आकार

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है संक्षेपिका का आकार उसके उद्देश्य और अवतरण के प्रकार पर निर्भर है। संक्षेपिका का आकार मूल लेख अथवा वक्तृता का एक-तिहाई, एक-चौथाई, अथवा और भी कम हो सकता है। इसकी कोई निश्चित सीमा नहीं बाँधी जा सकती और न कोई निश्चित नियम ही बनाया जा सकता है। विषय के अनुसार कोई अवतरण इतने सारगर्भित हो सकते हैं कि उन्हें अपने मूल आकार के आधे के बराबर भी कठिनाई से किया जा सके और कोई अवतरण इतने सारहीन हो सकते हैं कि उन्हें अपने मूल आकार के दसवें के बराबर भी सहज किया जा सकता है। विद्यार्थियों को इस संबंध में निर्देशानुसार काम करना चाहिए। सामान्यतः परीक्षा में कोई शब्द संख्या अथवा सीमा निश्चित कर दी जाती है। इस सीमा अथवा शब्द संख्या का उन्हें उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यदि शब्द संख्या ८० माँगी गई हो तो विद्यार्थी अधिक से अधिक ८५ शब्द और कम से कम ७५ शब्द लिख सकता है। इस सीमा के बाहर उसे कदापि न जाना चाहिए। यदि कोई शब्द-संख्या अथवा सीमा न बताई गई हो अथवा जहाँ विद्यार्थी को निर्णय करने में सन्देह हो वहाँ उसे विषय को अपने मूल आकार के एक-तिहाई के बराबर छोटा कर देना चाहिए।

संक्षेपिका लिखने की विधि

संक्षेपिका प्रायः दो प्रकार की हो सकती हैं :

(क) क्रम बद्ध लेख-प्रलेखों की संक्षेपिका जैसे वक्तृता, प्रस्ताव, लेख, बाजार-सूचना अथवा इनका कोई अवतरण।

(ख) पत्र-व्यवहार की संक्षेपिका जिसमें व्यापारिक और सरकारी दोनों प्रकार के पत्र हो सकते हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य प्रथम प्रकार की संक्षेपिका लिखने का है। क्रमबद्ध विवरण की संक्षेपिका लिखने के लिए निम्नांकित विधि अपनाई जा सकती है :—

संक्षेपिका लिखने के लिए प्रस्तुत अवतरण को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए, और उसके मूल विषय एवं भावार्थ को समझने का यत्न करना चाहिए। एक बार पढ़ने से भाव समझ में न आवे तो दो-तीन बार पढ़ना चाहिए। पढ़ते समय पारिभाषिक एवं सांकेतिक शब्दों एवं शब्द-समूहों को रेखांकित करते जाना चाहिए अथवा अलग कागज पर लिखते जाना चाहिए।

रेखाकित साकेतिक शब्दो अथवा वाक्यो को एक बार पढ कर उनका क्रमबद्ध कर लेना चाहिए और क्रमबद्ध करने के उपरान्त सक्षेपिका का एक प्रारूप (draft) बना लेना चाहिए। प्रारूप बनाने के उपरान्त मूल अवतरण पर एक बार और दृष्टि डाल कर यह देख लेना चाहिए कि कोई तर्क अथवा बात छूट तो नही गई।

अब प्रारूप की भाषा और वाक्यो को व्याकरण के नियमो के अनुसार ठीक कर लेना चाहिए। साथ-साथ उसका आकार भी देख लेना चाहिए कि वह बताई गई सीमा के अनुसार है अथवा नही। यदि आकार बडा हो तो वाक्यो को काट-छाँट कर आवश्यकतानुसार उसे छोटा कर लेना चाहिए। यदि आकार छोटा हो तो उसम आवश्यक बातें जोड लेनी चाहिए।

इतना करने के उपरान्त वाछनीय ढग की सक्षेपिका बन जाएगी। सक्षेपिका बनाते समय निम्नाकित नियमो का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) अवतरण को एक या दो बार सावधानी से पढिए।

(२) उसकी महत्वपूर्ण बातो को रेखाकित करते जाइए अथवा अलग लिखते जाइए।

(३) एक बार उन रेखाकित शब्दो अथवा शब्द समूहो को तथा अवतरण को फिर पढ जाइए।

(४) संक्षेपिका का एक प्रारूप बना डालिए।

(५) प्रत्येक संक्षेपिका को उपयुक्त शीर्षक देना आवश्यक ही नही, वरन् अनिवार्य है। शीर्षक छोटे से छोटा और ऐसे साकेतिक शब्दो का बना हुआ होना चाहिए कि अवतरण का मुख्य भाव उससे तुरन्त स्पष्ट हो जाए।

(६) प्रारूप को व्याकरण के नियमानुकूल सुधारिए और उसमे आवश्यक विराम व अर्द्ध-विराम भी लगा दीजिए।

(७) संक्षेपिका सदैव अन्य पुरुष मे और भूतकाल मे लिखी जानी चाहिए।

(८) संक्षेपिका मे अपने निजी विचार व्यक्त न कीजिए।

(९) गद्यात्मक भाषा का प्रयोग कीजिए। संक्षेपिका मे विशेषण, प्रश्नवाचक विस्मयादि बोधक, उपमा, रूपक, अलकार, दृष्टान्त, इत्यादि के लिए कोई स्थान नही है। भाषा को अलंकृत करने के सभी प्रयत्न सक्षेपिका मे वर्जित हैं।

(१०) यदि किसी अवतरण मे आंकडो का प्रयोग किया गया है तो उन्हे पूर्णाङ्को (१०,१००,१०००० इत्यादि) अथवा प्रतिशत मे बदल दीजिए ताकि पाठक के लिए वे शीघ्र ग्राह्य हो सकें।

उदाहरण १

कलकत्ते के चोर बागान की भांति चोर बाजार शहर के किसी बाजार या मुहल्ले का नाम नहीं है, जिसको आप सहज म तलाश ले और न वह किनारी बाजार या चांदनी चौक का सा खुला बाजार है, जहाँ ले जाकर तांगा या टैक्सी वाला आपको खडा कर दे। **वह भगवान की भांति हर एक बाजार मे व्याप्त है और साधारण चर्म चक्षुओं से देखने वालो को** कहीं भी नहीं है। चोर बाजार उसे इसलिए नही कहते हैं कि उसम क्रय-विक्रय करने वाले चोरी का माल बेचते और खरीदते हैं। वह माल प्राय सरकार की आज्ञा से खरीदा हुआ होता है। खरीददार को धोका-धडी से माल नही दिया जाता। सोते म उसके घर म सेंध नही लगाई जाती, न उसके अनजाने म गांठ काटी जाती है। जितनी सावधानी के साथ माल-जायदाद का बयनामा लिखा जाता है, उससे भी अधिक चेतनता के साथ चोर-बाजार का सौदा होता है। बचने वाले और खरीददार भी साधारण जनता की दृष्टि म धर्मात्मा, साहब और साख वाले समझे जाते हैं, फिर यह चोर बाजार क्यो कहलाता है ?

चोर बाजार यह इसलिए कहलाता है कि उसका माल खरीदा तो प्राय सरकार की आज्ञा से, कि तु बेचा जाता है सरकार की निश्चित की हुई दर के प्रतिकूल और सरकार की जानकारी से बाहर। इसका खुले आम सौदा होते हुए भी इसम **थोडी-बहुत गुप-चुप का सा वातावरण रहता है।** कीमत की या तो रसीद नही दी जाती और यदि दी भी जाती है तो उचित दामो की। उचित दामो के ऊपर के दाम बट्टे खाते जाते है। **खेल खतम और पैसा हजम। गरज बावली होती है और गरज वाला खुशी-खुशी उल्टे उस्तरे से मुंड जाता है।** जिस काम को सबके सामने न कर सके, जिसके करने को सबके सामने न स्वीकार कर सकें और जो बिना अधिकार किया जाय, वही चोरी का काम कहलाता है, इसलिए इस तरह के सौदे का नाम चोर-बाजार पडा। **(व्यापार कानून)**

प्रश्न

(१) काले पदो का अर्थ समझाइए।

(२) इस अवतरण को उपयुक्त शीर्षक दीजिए और उसकी सक्षेपिका बनाइए।

(३) चोर बाजार किसे कहते है और इसका यह नाम क्यों पडा ?

उत्तर

प्रश्न १— **चोर बाजार**

चोर बाजार किसी शहर के बाजार, मुहल्ले अथवा गली का नाम नही है। वह सब शहरों तथा सब नियन्त्रित बाजारो म व्याप्त है। चोर बाजार म चोरी के माल का क्रय-विक्रय नही होता और न ग्राहक के साथ कोई धोका ही किया जाता है। पूर्ण चेतनता के साथ इस बाजार म सौदा होता है। तो भी यह चोर बाजार इसलिए

कहलाता है कि यह सौदा सरकारी नियमो के विरुद्ध एवं निश्चित दर के प्रतिकूल होता है। क्रेता को या तो कीमत की रसीद नही दी जाती है और यदि दी जाती है तो जालो। दूसरो से छिपाकर यह सौदा किया जाता है। इसीलिए ऐसे सौदे को चोर बाजार कहते है, क्योंकि छिपकर किए जाने वाला काम ही चोरी का काम कहलाता है।

प्रश्न २—

वह भगवान **की भाँति······कहीं** *भी नही है*—चोर बाजार किसी बाजार विशेष का नाम नही है, किन्तु वह सर्वव्यापी भगवान की भाँति सभी नियन्त्रित बाजारो मे विद्यमान है जिसे केवल जानकार व्यक्ति ही पहचान सकते हैं।

थोड़ी-बहुत गुप-चुप का सा वातावरण रहता है—यद्यपि चोर बाजार मे माल का सौदा खुले आम होता है, तो भी उसमे माल के मूल्य अथवा रसीद की बात दूसरो से छिपा कर की जाती हैं।

खेल खतम और पैसा हजम—चोर बाजार से माल खरीदने वाला व्यक्ति अपनी माँग पूर्ति के स्वार्थवश जान-बूझ कर सरकार की निश्चित की गई दर से अधिक मूल्य देता है। इस दर से अधिक दिए हुए पैसे का उसे कोई हिसाब अथवा रसीद नही दी जाती जिसका उसके पास कोई प्रमाण नही है। इस व्यवहार के लेन-देन के उपरान्त वह इस बात को सिद्ध करने मे सर्वथा असमर्थ है कि उसने माल का अधिक मूल्य चुकाया है और बात वही समाप्त हो जाती है।

गरज बावली होती है······मुँड़ जाता है—स्वार्थवश मनुष्य दुकानदार के चंगुल मे फँस जाता है और उसे मनमाना मूल्य देने पर उतारू हो जाता है। इस भाँति वह अकारण हानि सहन करता है जिसके सम्बन्ध मे वह किसी से उचित-अनुचित की चर्चा भी नही कर सकता।

उल्टे उस्तरे से मुँड़ जाता है—जान-बूझ कर हानि सहन करता है।

प्रश्न ३—

चोर बाजार किसी बाजार विशेष को नही कहते। यह बाजार सभी नियंत्रित बाजारो में उपस्थित रहता है। जिन वस्तुओ की मात्रा देश की आवश्यकता-पूर्ति के लिए पर्याप्त नही होती और उनके मूल्यो मे अपार वृद्धि होने लगती है। उनके मूल्य अथवा क्रय-विक्रय पर सरकार नियन्त्रण लगा देती है। ऐसी वस्तुओ अथवा माल को सरकार द्वारा निश्चित मूल्य पर सरकारी नियमो के अनुसार बेचा जा सकता है। ये वस्तुयें बहुधा सीमित मात्रा मे ही दी जाती हैं। जिस मनुष्य को अधिक की आवश्यकता होती है वह बहुधा उसे अधिक मूल्य देकर सरकारी दर और नियमो का उल्लंघन करके खरीदता है। इस प्रकार के क्रय-विक्रय को चोर बाजार कहते हैं।

दूसरो से छिप कर किए जाने वाले काम को चोरी का काम कहते है और इस माल का क्रय-विक्रय दूसरो से छिपकर किया जाता है। अतएव इसका नाम भी चोर बाजार पड़ गया है।

उदाहरण २

भारत म जनसख्या की समस्या पर लोगो का ध्यान आकर्षित करने और उनके मत को जानने के लिय यह अत्यन्त आवश्यक है कि इस सम्बन्ध मे जाँच की जाए। इस सम्बन्ध म कलकत्ते के स्वास्थ्य विभाग की एक सस्था ने इस दिशा मे अपना उपयोगी कदम बढाया है। यह जांच कलकत्ते के दो क्षेत्रो मे की गई। एक मे उच्चतर मध्यवर्गीय लोगो की बस्ती थी और दूसरे म मुसलमानो की। पहले क्षेत्र म १,०६७ पुरुष जांच के लिये चुने गए। इनम १,०१७ व्यक्तियो मे ८६६ लोगो से सम्पर्क स्थापित किया गया, जिनम ५८ १ प्रतिशत लोगो ने परिवार मे सीमित संख्या मे बालको की आकाक्षा की। ५६ ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होने कहा कि जितनी भी सम्भव सन्ताने हो, उतनी हो, ६० ऐसे व्यक्ति थे जो परिवार की सीमा निर्धारण के विपरीत थे।

सामाजिक सुधार और आर्थिक दृष्टि दोनो दृष्टिकोणा से यह जाँच बडे महत्व की है। विदेशो मे आर्थिक और सामाजिक जांच के लिये अनेक प्रयत्न किए जाते हैं, पर भारत मे अखिल भारतीय स्वास्थ्य विभाग की ओर से यह प्रथम बार सार्वजनिक प्रयत्न हुआ है। इस जाँच म जो लोग सीमित सख्या म बालक चाहते थे, उन्होने २ ६ की माँग की, पर आमतौर पर उनमे से किसी ने दो-तीन बालको से अधिक की माँग नही की।

इस प्रकार ६६ प्रतिशत लोगो ने सीमित परिवार की इच्छा प्रकट की। उन्होने कहा कि बच्चा को उपयुक्त शिक्षा देने और जीवन निर्वाह का स्तर न गिरने देने और लडकियो के विवाह-व्यय की दृष्टि से कम से कम सन्तानो का होना उचित है।

इस जाँच म एक बात यह भी सामने आई कि बालको की उत्पत्ति में समय का भी अन्तर होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे जब प्रश्न पूछे गये तो लोगो ने तीन साल का अन्तर आवश्यक बताया। इस सम्बन्ध में अशिक्षितो तक ने आमतौर पर अपनी सहमति प्रकट की। ८८६ व्यक्तियो मे स ६२८ व्यक्तियो ने यह भी वचन दिया कि वे पारिवारिक सयोजन का समाज मे आम प्रचार करेगे। (सम्पदा)

प्रश्न

(१) उपयुक्त शीर्षक देते हुए उक्त अवतरण की ६० शब्दो मे सक्षेपिका बनाइये।

(२) पारिवारिक नियोजन की आवश्यकता समझाइये।

उत्तर

प्रश्न १—

पारिवारिक नियोजन

भारतीय जनसख्या की समस्या की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित करन और जनमत जानने के विचार से कलकत्ते के स्वास्थ्य विभाग ने एक तथ्यपूर्ण जाँच की है

जो समाज सुधार और आर्थिक दृष्टि से बडी महत्वपूर्ण है, क्योकि इससे पता लगता है कि ९६ प्रतिशत लोग सीमित परिवार के पक्ष मे हैं। वे दो-तीन से अधिक बालक नही चाहते और बालको की उत्पत्ति म भी ३ वर्ष का अन्तर आवश्यक समझते हैं। लोगो की एक बडी सख्या ने पारिवारिक नियोजन का समाज मे प्रचार करने का भी वचन दिया है। (९३)

प्रश्न २—

बच्चो को उपयुक्त शिक्षा देने और जीवन-निर्वाह का स्तर न गिरने देने तथा लडकियों के विवाह व्यय की दृष्टि से कम से कम सन्तानो का होना उचित है।

भारत की जनसख्या इतनी तेजी से बढती जारही है कि उसके लिए आवश्यक भरण-पोषण पदार्थ और खाद्यान्न उपलब्ध करना हमारे लिए अत्यन्त दुर्लभ हो गया है और हमारा जीवन-स्तर दिन प्रतिदिन गिरता चला जारहा है। अतएव देश को आगे बढाने के विचार से और उन्हे सुखी और सम्पन्न बनाने के लिए पारिवारिक नियोजन की नितान्त आवश्यकता है।

उदाहरण ३

चाय की खेती एक राज्य से दूसरे राज्य म भिन्न आकार म होती हैं। विभाजन के पूर्व देश म चाय की खेती के कुल खेत ६,५५१ थे। आसाम म १,१२८ खेतो की ४४,०२८ एकड भूमि थी, जिसके अनुसार प्रत्येक खेत का औसत क्षेत्र-फल ३९० एकड था, किन्तु बगाल म ४१३ खेतो मे प्रत्येक का क्षेत्रफल ५१५ एकड था। ट्रावनकोर म २२० खेतो मे प्रत्येक का क्षेत्रफल ३५१ एकड और मैसूर के १५ बगीचो में प्रत्येक का औसत क्षेत्रफल २६७ एकड था। इसके अतिरिक्त चाय कोचीन बिहार, उत्तर-प्रदेश और मद्रास मे भी पैदा होती है। यहाँ का क्षेत्रफल बहुत थोडा है, जो क्रमश १८६, १५५, १७४ और ३७ एकड है। पजाब भी चाय की खेती मे अछूता नहीं रहा। वहां भी विभाजन के पूर्व ४ एकड मे खेती होती थी। विभाजन का परिणाम बगाल और आसाम पर पडा। उन प्रदेशो में चाय की पैदावार बढ गई, पर अन्य सब प्रदेशो म चाय की खेती पूर्ववत् होती है। चाय के जिस क्षेत्रफल का हमने यहाँ उल्लेख किया है उसमे वास्तविक खेती होती है, किन्तु इसके अतिरिक्त चाय के उत्पादको के पास और भी भूमि है, जिसका उपयोग खेती मे नही होता।

चाय के उत्पादन के सम्बन्ध में सन् १९४९-५० के उपरान्त के कोई-कोई अङ्क उपलब्ध नही हैं। सन् १९४९ तक विभिन्न राज्यो में चाय का उत्पादन निम्नलिखित था। इससे प्रकट होगा विभाजन के परिणामस्वरूप आसाम का सिल-

हट प्रदेश और बगाल का कुछ भाग पाकिस्तान में जाने पर उत्पादन में कितनी क्षति हुई।

(उत्पादन १००० पौंड मे)

राज्य	१९४२	१९४८	१९४९
आसाम	३,०८,८७९	३,११,०८९	३,१४,३५७
प० बगाल	१,५२ ९९९	१ ५० २३८	१,६६,१३६
द० भारत	९४,१५३	१,०३,४०६	९५,६१६
उ० भारत	४ ९२७	३,३३३	३,१२३
बिहार	२,१०१	१,९८९	२,१२३
त्रिपुरा	अप्राप्य	३,७५२	३,६७५

इससे यह प्रकट होता है कि चाय के उत्पादन का जो भी क्षेत्र आसाम और बगाल का पाकिस्तान मे गया, उससे कही अधिक उपज बढाने मे देश आगे बढा। सन् १९४८ मे विभाजित बगाल और आसाम में चाय की प्राय अधिक उपज हुई। (सम्पदा)

प्रश्न

(१) उपयुक्त अवतरण को उपयुक्त शीर्षक दीजिए तथा उसकी लगभग ९० शब्दो मे सुबोध सक्षेपिका बनाइए।

उत्तर

प्रश्न १— **चाय की खेती**

चाय की खेती भिन्न-भिन्न राज्यो में भिन्न-भिन्न क्षेत्रफल म होती है। क्षेत्रफल और उत्पादन दोनो ही में आसाम सर्वोपरि है, किन्तु पश्चिमी बगाल के खेत आसाम से भी बडे हैं। अन्य उत्पादको में त्रावनकोर, मैसूर, मद्रास, बिहार, उत्तर प्रदेश, पजाब और त्रिपुरा उल्लेखनीय हैं। देश-विभाजन का आसाम और बगाल की खेती पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, किन्तु शीघ्र ही वहाँ चाय का उत्पादन पहले से भी अधिक हो गया जैसा सन् १९४८ और १९४९ के उत्पादन सम्बन्धी आँकडे बतलाते है। देश के कुल उत्पादन मे भी वृद्धि हुई है। (९३)

उदाहरण ४

ग्रेट ब्रिटेन का आर्थिक सकट एक देशीय सकट नही है। यह स्टर्लिंग-क्षेत्र तक भी सीमित नहीं। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के बाद उत्पन्न आर्थिक सङ्कटो में से यह चौथा सङ्कट है। आर्थिक सङ्कट का चक्र लगभग प्रति दो वर्षो के बाद आ रहा है। अमेरिकी मदद, मार्शल योजना के अन्तर्गत आर्थिक सहायता और अवमूल्यन द्वारा तीन सङ्कटो को ब्रिटेन ने पार किया। पहला सङ्कट **युद्ध-जन्य महाविनाश के कारण पुनर्निर्माण के निमित्त था। दूसरा, स्टर्लिंग के** रूपान्तर होने म

कठिनाई होने के कारण आया। तीसरा, डालर-सङ्कट निर्यात और उत्पादन की कमी के कारण आया, परन्तु यह चौथा सङ्कट अर्थ मन्त्री श्री रिचार्ड बटलर के अनुसार पिछले संकटों से बड़ा है। पालियामेंएट में इस सङ्कट का परिचय देते समय उन्होंने कहा था—"आज हमारे सामने साधारण भुगतान की समस्या है। सन् १६४६ के समान यह मुख्यतः केवल स्टर्लिंग-क्षेत्र और डालर क्षेत्र के बीच ही नहीं है। अकेला ग्रेट ब्रिटेन ही घाटे में नहीं, स्टर्लिंग-क्षेत्र के अन्य बहुत से देश, जो पहले पर्याप्त बचत के देश थे, घाटे में जा रहे है, फलतः **सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र समस्त विश्व के प्रति घाटे मे है**। यह एक दम **स्वर्ण-महानिधि मे कमी होने से प्रतिलक्षित हो गया है। आज** पहले जैसा **दुर्लभ मुद्रा और सुलभ मुद्रा के बीच दृश्यमान विभेद नहीं** रहा है। वस्तुतः सब विदेशी मुद्रायें दुर्लभ हो गई हैं। स्टर्लिंग-क्षेत्र और डालर-क्षेत्र के बीच की व्यापारिक भुगतान की समस्या हमारे लिए आज एक विकट रोकड भुगतान की समस्या हो रही है और हमे संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका और कनाडा के साथ *निर्यात् व्यापार और बढ़ाना चाहिए।* **वर्तमान सङ्कट मे स्टर्लिंग-क्षेत्र मे बाहर के शेष संसार के साथ घाटा कम महत्वपूर्ण नहीं और वह भी प्रभावशाली उपाय योजना की अपेक्षा रखता है।"** (*Agra, B Com., Part I, 1953*)

प्रश्न

(१) उपर्युक्त का अपने शब्दो मे संक्षेप दीजिए।

(२) काले भागो की व्याख्या कीजिए।

उत्तर

प्रश्न १— **ब्रिटेन का आर्थिक संकट**

युद्धोपरान्त काल मे ब्रिटेन पर प्रति दो वर्ष बाद एक आर्थिक संकट आ रहा है और अब तक उस पर चार संकट आ चुके हैं। पहला संकट युद्ध-जन्य विध्वंस से *उत्पन्न हुई पुनर्निर्माण की समस्या के द्वारा उत्पन्न हुआ, जिसे ब्रिटेन ने अमेरिकी सहा*यता से पार किया। दूसरा संकट स्टर्लिंग के रूपान्तर की कठिनाई के कारण आया, *जिसे उसने मार्शल योजना के अन्तर्गत मिली आर्थिक सहायता से पार किया* तथा तीसरे डालर-संकट को अवमूल्यन द्वारा पार किया। यह चौथा और पिछले तीनो संकटो से भयानक संकट व्यापारिक भुगतान का संकट है, जिसे टालने का एक मात्र उपाय निर्यात् वृद्धि है, विशेषत दुर्लभ मुद्रा राष्ट्रों अमेरिका और कनाडा के साथ। यह संकट अकेले ब्रिटेन का ही नहीं, सम्पूर्ण स्टर्लिंग-क्षेत्र का संकट है, अतः इसे टालने के लिए सभी स्टर्लिंग राष्ट्रों के सम्मिलित प्रयत्न वांछनीय हैं।

प्रश्न २—

युद्ध-जन्य महाविनाश के कारण पुनर्निर्माण के निमित्त था—द्वितीय महायुद्ध से ब्रिटेन का इतना विध्वंस हुआ कि उसके पुनर्निर्माण की समस्या ने ब्रिटेन के सम्मुख *एक भारी आर्थिक संकट उपस्थित कर दिया।*

पर्याप्त बचत के देश—व देश जिनका निर्यात व्यापार आयात व्यापार से अधिक हो अथवा जिनका विदेशी व्यापार पक्ष मे हो।

सम्पूर्ण स्टर्लिग क्षेत्र समस्त विश्व के प्रति घाटे मे है—युद्धोपरान्त काल मे सभी स्टर्लिग क्षेत्रो का व्यापार विपक्ष मे हो गया। सन् १६४६ म व्यापारिक भुगतान का समस्या केवल डालर राष्ट्रो के साथ थी, किन्तु अब विश्व के सभी राष्ट्रो के साथ स्टर्लिग क्षेत्र के देशो का व्यापार विपक्ष म होगया है।

स्वर्ण महानिधि मे कमी होने से प्रतिलक्षित हो गया है—सम्पूर्ण स्टर्लिग राष्ट्रा के व्यापार क विपक्ष म जाने का प्रमाण उन देशो म स्वर्ण के रक्षित कोष मे कमी होना है।

दुर्लभ मुद्रा और सुलभ मुद्रा के बीच दृश्यमान विभेद नहीं रहा है—कुछ काल पूव विश्व के राष्ट्र दो वर्गो म बँट गए थे—दुर्लभ मुद्रा, अर्थात् डालर राष्ट्र और सुलभ मुद्रा, अर्थात् स्टर्लिग राष्ट्र। इसका कारण यह था कि डालर राष्ट्रा के साथ स्टर्लिग राष्ट्रो का व्यापार कम था। अब यह भेद भाव मिट गया है और सारे स्टर्लिग क्षेत्र के देश अन्य सभी देशा के प्रति घाटे म पहुँच गए हैं।

वर्तमान सकट मे योजना की अपेक्षा रखता है—व्यापारिक घाटे सम्बन्धी वर्तमान आर्थिक सकट स्टर्लिग राष्ट्रो के लिए एक भयानक सकट है और बिना किसी व्यावहारिक योजना के इसे पार करना कठिन है।

उदाहरण ५

आर्थिक उन्नति की प्रगति अशत सरकारी व्यय और पूँजी निर्माण पर निर्भर रहती है। पश्चिमी देशो म **राष्ट्रीय आय** का लगभग सप्ताश सरकार स्वय व्यय करती है और इतना ही पूँजी-निर्माण (प्राइवेट तथा सरकारी) म लगता है। एशियाई तथा सुदूर-पूर्वी देशा म इन दोनो मदा पर मुश्किल से इतनी राष्ट्रीय आय व्यय होती है कि जनसख्या वृद्धि के प्रभाव को रोक सकें। वहाँ **ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम दान की सम्भावना** है। तब भी यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय-आय-वृद्धि का ४०-५०% सरकार द्वारा व्यय किया जाय। इसके दो उपाय हैं—अधिक कर और द्रव्य निर्गमन। अर्द्ध-विकसित और बेकारी वाले देशा म सरकारी व्यय के कारण बेकार पडे साधन काम आते हैं। यदि साथ ही उपभोग-पदार्थों की वृद्धि न हुई तो मुद्रा-स्फीति की स्थिति प्रगट होती है। ऐसा अनुमान है कि शिक्षा तथा कुटीर-उद्योगिया व किसानो की कार्य-प्रणाली म सुधार पर कुछ व्यय करन से ही खाद्य तथा कुटीर-उद्योग पदार्थों की पर्याप्त वृद्धि शीघ्र होती है। फैक्टरिया क लिए पूँजी तथा यन्त्रो पर द्रव्य व्यय करने पर भी अन्त म उपभोग-पदार्थों की वृद्धि हाती है। स्मरण रहे कि **उत्पादक और अनुत्पादक मदों में द्रव्य उपयोग के कारण होने वाली मुद्रा स्फीतियों मे भिन्नता है**। मुद्रा-स्फीति और अधिक राष्ट्रीय उत्पादन का सयाग श्रेयस्कर है। जिन क्षेत्रो म अतिरिक्त-द्रव्य पहुँचेगा उनमे से यदि उपभोग वस्तुओ की आनुपातिक वृद्धि नही हुई तो कर-पद्धति द्वारा अतिरिक्त

द्रव्य को खींच लेना चाहिए, तभी मूल्य नहीं बढेग । यदि अधिक वस्तु या कर द्वारा अतिरिक्त द्रव्य निष्क्रिय नहीं बना दिया जाता तो कड़े मूल्य-नियन्त्रण द्वारा भी मूल्य स्तर को बढने से रोका जा सकता है । कुछ मुद्रा स्फीति से देश में प्राइवेट पूंजी-विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु यदि आयात का कड़ा नियन्त्रण न किया और निर्यात-पदार्थों का देश मे ही उपयोग बढने से न रोका गया तो मुद्रा स्फीति का भुगतान की बाकी पर अति कुप्रभाव पडेगा, अन आयात घटाने और निर्यात बढाने वाली योजनाएं वाछनीय हैं । (Agra, B Com, Part I, 19ɔ4)

प्रश्न

(१) उपर्युक्त का अपने शब्दो मे सक्षेप दीजिए ।

(२) काले भागो की व्याख्या कीजिये ।

उत्तर

प्रश्न १— **एशियाई देशों का आर्थिक विकास**

किसी देश की आर्थिक उन्नति अधिकतर सरकारी व्यय और पूंजी निर्माण पर निर्भर है। विकसित देशो मे राष्ट्रीय आय का सप्तांश भाग इन दोनों मदो पर व्यय होता है, किन्तु एशियाई तथा सुदूर पूर्व के अविकसित देशो मे बहुत कम । इन देशो के समुचित विकास के लिए वस्तुत श्रमदान के अतिरिक्त, उनकी राष्ट्रीय आय का ४०-६०% इन मदो मे व्यय होना चाहिए। द्रव्य निर्गमन और अधिक करो द्वारा ही इतना अधिक व्यय सम्भव है । सरकारी व्यय और पूंजी निर्माण से अप्रयुक्त साधन काम आते हैं और उत्पादन बढता है । सरकारी और गैर सरकारी पूंजीगत व्यय के साथ-साथ आनुपातिक उत्पादन वृद्धि नहीं होती तो मुद्रा स्फीति अवश्यम्भावी है, जिसके विकृत प्रभावो से बचने के दो मार्ग हैं कर-वृद्धि और कडे मूल्य नियन्त्रण । इनके द्वारा अतिरिक्त द्रव्य को निष्क्रिय बना दिया जाता है । मुद्रा स्फीति पर काबू पाने के लिए आयात घटाने और निर्यात बढाने वाली योजनायें भी वाछनीय हैं अन्यथा भुगतान की बाकी पर इसका विकृत प्रभाव पडेगा ।

प्रश्न २— **राष्ट्रीय आय**

राष्ट्रीय आय—किसी देश के सम्पूर्ण साधनो का मूल्य ।

ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमदान की सम्भावना—एशियाई और अन्य पूर्वी देशो में बिना मजूरी लिए ही जनता सार्वजनिक कार्यों में सहयोग देती है, जिससे बहुत कुछ आर्थिक विकास सम्भव है । कार्य करने वाले अपने श्रम का प्रतिफल न लेकर उसे दान स्वरूप सरकार को सौंप देते हैं ।

उत्पादक और अनुत्पादक" भिन्नता है—उत्पादक कार्यों के लिए चलाए जाने वाले और अनुत्पादक कार्यों में लगाये जाने वाले द्रव्य में अन्तर है । उत्पादक कार्यों के लिए मुद्रा प्रसार श्रेयस्कर है, अनुत्पादक कार्यों के लिए नहीं ।

स्वाभाविकता का लोप हो गया है। आज के जीवन में प्राकृतिक सम्पर्क तनिक भी नहीं रहा तथा अत्यधिक कृत्रिमता आ गई है, इसलिए उसे नास्तिक युग कहा गया है।

जैसे मानव मानने की बात ही न्यारी हो उठी—पूँजीवादी युग में अधिकार शक्ति इतनी बढ़ गई कि पूँजीपति वर्ग श्रमजीवी वर्ग को मनुष्य मानने में भी हिचकिचाने लगा, भूमि इत्यादि अन्य उत्पादन के साधनों की भाँति वह उसे एक अचेतन साधन मात्र समझने लगा।

स्वनियंत्रित वेदनापूर्ण एवं दुखद मृत्यु—आज के समाज में पूँजीपति और श्रमजीवी वर्गों के पारस्परिक संघर्ष ने इतना भीषण रूप धारण कर लिया है कि अत्याचार पीड़ित मानव दुखद मौत की इच्छा करने लगा है। निम्न वर्ग अपने जीवन से इतना तंग आ गया है कि इस जीवन से वह मरना अच्छा समझने लगा है।

भूदान, श्रमदान, धनदान आदि आन्दोलन—आज के समाज की विषमता को दूर करने के लिए विनोबा भावे ने भूमि, श्रम और धन के दान द्वारा समता लाने का मार्ग सुझाया है। जिनके पास अधिक भूमि अथवा सम्पत्ति है वे उसका एक अंश उन्हें दें जिनके पास उसका अभाव है तो सामाजिक विषमता दूर होकर निम्न वर्ग का कल्याण हो सकता है। यह प्रेम और त्याग का मार्ग है, दमन और अत्याचार का नहीं।

तत्सदृश जीवन—कृत्रिम एवं आडम्बरपूर्ण जीवन, सादा और स्वाभाविक जीवन के विपरीत जीवन।

उदाहरण ७

शोषण की प्रवृत्ति आज समाज में सर्वत्र है। **उत्पादक-श्रम की प्रतिष्ठा** समाज में नहीं है। किसान और मजदूर भी श्रम इसलिए नहीं करते कि वे धर्मनिष्ठ हैं। वे लाचार हैं, इसलिए वे श्रम करते हैं। **गरीब भी संग्रह की आकांक्षा के शिकार हैं।** वे देखते हैं कि यहां गुनाहों और बीमारी पर लोग जीते हैं, उनसे रोजी कमाते हैं और अमीर बनते हैं। ऐसे अनुत्पादक व्यवसायों को सेवा के रूप में अवशिष्ट रखना चाहिए, परन्तु ऐसा हो इससे पहले जन-समूह का, जो अधिकांशतः गरीबों का समूह है, हृदय-परिवर्तन कर देना चाहिए। मुट्ठी भर अमीरों को छाँटना मुश्किल नहीं है, परन्तु उनके बाद छोटे-बड़े गरीब रहेंगे। उनको एक सतह पर लाना अति कठिन होगा, इसलिए अभी से **छोटे-बड़े सभी शोषकों को बदलना अनिवार्य है।**

गरीबी और अमीरी की जड़ नष्ट करनी ही पड़ेगी इस हेतु जमीन का बँटवारा पहला कदम है। कारखानों का बँटवारा तो हो नहीं सकता है। उन पर केवल समाज का स्वामित्व स्थापित करना होगा। इस सम्बन्ध में **स्वेच्छापूर्वक दान और बँटवारा अपेक्षित है। सह-जीवन** के सिद्धान्त की यही माँग है। यही भारतीय योग है, जो किसी भी "वाद" से उत्तम है। तोड़ने की अपेक्षा जोड़ना श्रेष्ठ है।

क्या पंचवर्षीय योजनाकार इन बातों में विश्वास करते हैं? वे आधारभूत बड़ी मात्रा के उद्योगों और बहुमुखी योजनाओं के आधार पर रोजगार और रहन-सहन का

स्तर ऊपर उठाना चाहते हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे छोटी मात्रा के तथा कुटीर उद्योगो के विकास पर भी जोर दिया जायेगा। अर्थशास्त्री उनकी श्रम उत्पादन क्षमता की ओर उंगली उठाते हैं। जन-प्रतिनिधि कहता है—इनका महगा माल कौन खरीदेगा? विशेषज्ञ और जनता दोनो ही सह-जीवन के सिद्धान्त को नही समझते। वे इस ओर ध्यान नही देते। जनता का ध्यान इस ओर खीचना सरल है। यही विभिन्न दान-आन्दोलनो का कार्य-क्षेत्र प्रारम्भ होना है। (Agra, B Com, Part I, 1956)

प्रश्न

(क) उपर्युक्त गद्याश का सक्षेप लगभग ७५ शब्दो मे दीजिए।

(ख) काले भागो का अर्थ तथा महत्व स्पष्ट कीजिए।

उत्तर

प्रश्न (क)— **सह-जीवन**

आज के समाज मे उत्पादक श्रम की प्रतिष्ठा नही है। यह मनोवृत्ति सारे सामाजिक शोषण का कारण है। हृदय-परिवर्तन द्वारा इसे बदलना सह-जीवन का श्लाघनीय उद्देश्य है और भूमि का समान वितरण तथा कारखानो का सामाजिक स्वामित्व इसके मुख्य साधन हैं, किन्तु अमीरी-गरीबी को पूर्णत मिटाने के लिए सभी छोटे-बड़े शोषको का हृदय-परिवर्तन वाछनीय है। आज के भूदान, श्रमदान आदि आन्दोलनो तथा पचवर्षीय योजना का यही वास्तविक क्षेत्र है। (७२)

प्रश्न (ख)—

उत्पादक श्रम की प्रतिष्ठा—किसान-मजदूर जो प्रत्यक्षत धन उत्पन्न करके समाज की सेवा करते हैं, उनकी सेवा की समाज मे इतनी प्रतिष्ठा नही, जितनी वकील, डाक्टर इत्यादि, अप्रत्यक्ष सेवा करने वालो की है। वस्तुत किसान-मजदूरो की सेवा अधिक आवश्यक सेवा है, अतएव इस वर्ग के लोगो का समाज मे अधिक आदर होना चाहिए।

गरीब भी सग्रह की आकाक्षा के शिकार हैं—धन-सचय के इच्छुक अमीर लोग गरीब लोगो का शोषण करते हैं और अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए उन्हे सताते है। जिन वस्तुओ के लिए गरीब तरसते है, उन्ही का अमीर लोग सग्रह करते है तथा सामाजिक कुरीतियो को जन्म देते है। सग्रह न हो तो चोरी-डकैती और वर्ग-सघर्ष भी न रहे।

जहाँ गुनाहो और बीमारी पर लोग जीते है—समाज के अनेक लोग (वकील, डाक्टर) गरीबो की गरीबी और बीमारो की बीमारी को अपने निर्वाह और अमीरी का साधन बना लेते हैं। यदि समाज-सेवा के उद्देश्य से वकील-डाक्टर उचित महनताना लें तो न इतनी बीमारी बढे और न मुकद्दमेबाजी और अपराध। गरीबी के कारण लोग बीमार पडते हैं और अपराध करते हैं। अपराध से मुकद्दमेबाजी बढती है

और मुकद्दमेबाजी के लिए गरीब लोग धन कमाने के अनुचित मार्ग अपनाते हैं। एक बार इस जाल में फँस कर छुटकारा मिलना कठिन हो जाता है।

छोटे-बड़े गरीब—अमीर-गरीब के भेद-भाव को समूल नाश करने से ही सामाजिक समता स्थापित हो सकती है। इसके लिए उत्पादन के साधनों और धन का सारे समाज में समान वितरण आवश्यक है, अर्थात् सभी लोगों की आय एक स्तर पर आ जानी चाहिए अन्यथा छोटे-बड़े का कुछ भी भेद-भाव बना रहा तो वर्ग-संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता।

सह-जीवन के सिद्धान्त—मिलकर रहने अथवा सहकारी जीवन का आधार-भूत सिद्धान्त यही है कि प्रेम और अहिंसा द्वारा लोगों का हृदय-परिवर्तन किया जाए, अर्थात् स्वेच्छापूर्वक धनी और पूँजीपति अपनी धन-सम्पदा के दान और बँटवारे के लिए प्रस्तुत हो जायें। कानून द्वारा उनमें यह न कराया जाय।

जो किसी भी "वाद" से उत्तम है—सह-जीवन अथवा प्रेम और अहिंसा का यह मार्ग संसार में प्रचलित सभी वादों, अर्थात् साम्यवाद, समाजवाद इत्यादि से उत्तम है, क्योंकि इस मार्ग का प्रभाव स्थायी होगा।

अर्थशास्त्री उनकी कम उत्पादन-क्षमता की ओर उँगली उठाते हैं—आज के अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि छोटी मात्रा के तथा कुटीर उद्योगों की उत्पादन-क्षमता बड़े पैमाने के उद्योगों की उत्पादन क्षमता से कम होती है, अतएव आज के विशाल उद्योगों के युग में इन उद्योगों का कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः संतुलित अर्थव्यवस्था और पूर्ण कार्य इत्यादि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इनका महत्व आज भी कम नहीं है। भारत जैसे देश के लिए इनका और भी अधिक महत्त्व है, अतएव आर्थिक विकास की योजना में इन्हें महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

अभ्यास १

वन-महोत्सव शब्द का उच्चारण करते ही आँखों के सामने देश के प्राकृतिक सौन्दर्य का एक सजीव चित्र खिंच जाता है। देश के पहाड़, जंगल, नदियाँ सब उन्मत्त होकर नाचते कूदते दृष्टिगोचर होते हैं। वन-महोत्सव का अर्थ है कि वन में स्थित जड़, चेतन जो भी हैं, इस उत्सव में सम्मिलित हों। हमारे प्राचीन ग्रन्थ और काव्यों में वनों की बड़ी महिमा बताई गई है और काव्य के काव्य वनों की प्राकृतिक छटा और उसके सौन्दर्य की चर्चा से भरे पड़े हैं। ऊँचे से ऊँचे जितने काव्य लिखे गये हैं, उनकी पृष्ठभूमि कोई न कोई जंगल या हरे-भरे पहाड़ या ऐसी नदी, जिसके दोनों ओर सुन्दर और सघन वृक्षावलियाँ हों, से ही मिलेगी। हमारे पूर्वजों ने वनश्री को स्थायी रूप से जीवित रखने के लिए धार्मिक रूप दे दिया था। किसी भी हरे वृक्ष को काटना महापाप माना जाता था। प्रत्येक शुभ कार्य पर सुन्दर छाया वाले और फल वाले वृक्षों को लगाना एक पुनीत कर्तव्य समझा जाता था। वनों के नाम महान्

उन्हे पुरस्कार देकर सम्मानित किया और उस दिन पटना मे राज्यपाल महोदय ने भी इस देवी को पुरस्कार प्रदान किया। आश्चर्य की बात यह थी कि जब उसने राज्यपाल महोदय माननीय दिवाकर जी को एक जनेऊ दिया, छोटी इलाइची के छिलके के भीतर बन्द करके, उस समय वे उस 'भेट' को समझ न सके। भाई का पुरस्कार राजस था—उसकी अभिव्यक्ति हुई विज्ञप्ति के रूप मे। बहन का उपहार नारीत्व की गौरव गरिमा के रूप मे ध्वनित हो कर रह गया, भारतीय काव्य की आत्मा के रूप मे। सात्विक उपहार, जनेऊ का धागा राखी का तागा।

कल्पना का दानव उस जनेऊ के सम्बन्ध मे रग पर रग भरता जा रहा है—कैसा था, वह जनेऊ? लाल, पीला, शुभ्र? उसकी बारीकी की ओर भी मन खिच रहा है और भारत के उस कालखड की ओर ध्यान आकर्षित हो रहा है, जब मुगल बादशाह की अल्हड बहन या बेटी, उसके सामने ढाका की मलमल पहनकर निकली थी। उसमे लज्जा की खीझ थी, यौवन सौंदर्य और वैभव-विलास का प्रदर्शन था। वह दूसरे के हाथ की कती-बुनी थी। यहाँ मिथिला की नारी, सलज्ज, सकरुण मूर्ति, सामने जनेऊ भेंट कर रही थी।

कनिष्क के समय के एक रोमन लेखक ने शिकायत की थी—भारतवर्ष रोम से प्रति वर्ष साडे पाँच करोड रुपये का सोना खीच लेता है और यह कीमत हमे अपनी विलासिता और अपनी स्त्रियों की देनी पड़ती है। एक दूसरे रोमन लेखक ने रोमन स्त्रियो की शिकायत करते हुए लिखा है कि वे भारतवर्ष से आने वाली "बुनी हुई हवा के जाले" पहनकर अपना सौन्दर्य दिखाती थी। उस सौन्दर्य की झाँकी भी मानस लोचन के सम्मुख खिच आती है। रोमन सौन्दर्य, भारतीय वस्त्र। उसकी प्रतिक्रिया के रूप म जैसे कोई यूनानी मूर्तिकार किसी मिनर्वा की मूर्ति, यक्षिणी के रूप म गांधारी ढांचे मे, भारतवर्ष मे बैठकर बनाने का प्रयास करे।

और आज का अभाव—अन्न-वस्त्र का अभाव। फिर भी हमारी कला म सजीवता है। मिथिला की एक बेटी ने घटे भर मे ३५० नम्बर का १३० गज सूत कातकर चमत्कार किया।

एक ओर विज्ञान अपने समस्त वैज्ञानिक आविष्कारो के साथ खडा है—एटम-हाइड्रोजन बम लेकर। एक ओर दर्शनवेत्ता मैथिल स्मृतिकारो की लडकी इस युद्ध, विनाश और कोलाहल से परिपूर्ण म खादी का महीन जनेऊ लिए मानो कह रही है—

सन्तोष और भाव मर्मज्ञता के साथ साथ मनुष्य का गृह उद्योग मे ही कल्याण है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं—कोकटी धोती, पटुए का साग, साधारण वस्त्र एव भोजन, लिपस्टक पाउडर नहीं। भावतरल तन तरुणी का लावण्य है—इसके सिवा और सब मिथ्या है—माया-परिग्रह, जजाल।

(सम्पदा)

प्रश्न

(१) उपर्युक्त गद्यांश की संक्षेपिका लिखिए ।
(२) काले पदो का भावार्थ समझाइए ।
(३) मुगलकाल की मलमल और मिथिला की नारी के अनेक म कौनसा अन्तर आप पाते हैं ?

अभ्यास ३

हाल के वर्षों म भारत के वस्त्र-उद्योग ने पर्याप्त प्रगति की है । अब भारत न केवल अपनी कपडे की माँग स्वय ही पूरी कर सकने की स्थिति मे है, बल्कि *वह अपनी कपडा मिलो द्वारा निर्मित कपडा बहुत बडे परिमाण म विदेशो को* भी भेज रहा है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए भारतीय वस्त्र उद्योग को भारी सघर्ष करना पडा है ।स्वतत्रता आन्दोलन की प्रगति के साथ स्वदेशी की भावना का विकास हुआ और उसने भारतीय वस्त्र उद्योग को पनपाने मे बहुत सहायता दी । वह दयनीय स्थिति अब नही रही, जब करोडो रुपए के मूल्य का कपडा प्रति वर्ष विदेशो से आकर भारत मे खपता था । राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने अन्न और वस्त्र के मामले मे देश को स्वावलम्बी होने की शिक्षा दी थी और उसने उस शिक्षा को कार्य रूप म लाकर दिखा दिया ।

किन्तु आज की दुनिया मे कोई भी देश अन्य देशो की भाँति आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्र म भी अलग-अलग नही रह सकता । प्रत्येक देश को अपने अतिरिक्त उत्पादन को दूसरे देशो को निर्यात करना पडता है और जब वह निर्यात करता है तो वह दूसरे देशो के माल के लिए अपना दर्वाजा बिल्कुल बन्द नही कर सकता । किसी भी देश को अपनी आवश्यकता का माल विदेशो से आयात करने मे तो कोई आपत्ति नही होती, *बल्कि वह ऐसे आयात का स्वागत करता है*, किन्तु अपने निर्यात के हित मे उसे अपने यहाँ ऐसे माल के आयात की अनुमति और सुविधा देनी पडती है, जो बिल्कुल जरूरी नही होता, किन्तु जिसका निर्यात करने मे दूसरे देशो की रुचि होती है । आदान-प्रदान व्यापार का मूलभूत आधार होता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे *पारस्परिक लाभ का ध्यान रखना ही* पडता है । (हिन्दुस्तान)

प्रश्न

(१) इस अवतरण को सक्षिप्त कीजिए ।
(२) आदान-प्रदान व्यापार का मूलभूत आधार क्यो है ?

अभ्यास ४

शायद ही कोई देश कच्ची सामग्रियो के लिए ससारव्यापी माँग के कारण उत्पन्न हुई मुद्रा स्फीति की प्रबल शक्तियों से बच सका होगा, जो सन् १९५० मे

कोरियाई युद्ध छिड़ने के बाद पैदा हुई थी। यद्यपि इस प्रभाव ने व्यक्तिगत आर्थिक स्थिति के अनुसार विभिन्न रूप धारण किए है फिर भी देशो को दो विस्तृत समूहो म विभाजित किया जा सकता है। पहले म मुख्यत कच्ची सामग्री के उत्पादक और दूसरे म मुख्यत वस्तु निर्माता देश सम्मिलित है। पहल समूह के बारे में यह कहा जा सकता है कि कच्ची सामग्रियो के मूल्य परिवर्तन आमदनियो म शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं फलस्वरूप मुद्रा स्फीति या मुद्रा सकोच जल्दी सामने आते हैं। दूसरे समूह के सम्बन्ध म यह कहा जा सकता है कि आयात की गई कच्ची सामग्रियो की लागत के परिवर्तन तैयार माल के मूल्यो म इतनी शीघ्रता से प्रकट नही होते, क्योकि कच्ची सामग्रिया से चीज तैयार करने म समय लगता है। यहाँ मुद्रा स्फीति या मुद्रा सकोच बहुत धीरे धीरे सामने आते है। तैयार निर्यातो की कीमत भी आयात की गई कच्ची सामग्रियो की पहले से ऊची या नीची कीमतो को बहुत समय बाद प्रकट करती हैं। भारत का स्थान प्रथम और दूसरे समूह म समान रूप स है। वह कच्ची तथा निर्मित सामग्रियो का निर्यात करता है और उसके आयात म अधिकतर मशीने, मोटरे अन्न और अन्य तैयार चीज सम्मिलित होती हैं। कीमतो और अन्य सम्बन्धित बातो की गति केवल यही प्रकट नही करती कि इन शक्तियो ने देश पर कैसा प्रभाव डाला बल्कि भारत के निर्यातो के लिए प्राप्त किये गये औसत मूल्यो की धीमी वृद्धि के कारणो पर भी प्रकाश डालती है। द्वितीय विश्व युद्ध के अनन्तर मुद्रा स्फीति को रोकने के लिये भारत सरकार ने जो प्रयास किए, उह केवल आशिक सफलता ही मिली। **(विशाल भारत)**

प्रश्न

(१) इस अवतरण को सक्षिप्त कीजिए।
(२) काले पदो का भावार्थ समझाइए।
(३) मुद्रा-स्फीति और मुद्रा सकुचन स क्या अभिप्राय है ?

अभ्यास ५

आज की समस्त आर्थिक बुराइयो की एक दवा आर्थिक योजनाय है। आर्थिक योजनाओ के महत्व का वर्णन लारविन महोदय निम्नलिखित शब्दो म करते है —

योजना आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की प्रगति के ऊपर नियन्त्रण रखने का अवसर प्रदान करती है। एक योजनाबद्ध अर्थ प्रणाली की परिभाषा साधारण शब्दो म इस प्रकार दी जा सकती है—आर्थिक सगठन की वह योजना जिसमे व्यक्तिगत और विभिन्न उत्पादन की इकाइयाँ सगठित इकाइयो की एक समूह समझी जाती है जिनका उद्देश्य एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत जनता की आवश्यकताओ की पूरक स तुष्टि के लिए सब प्रकार के उपलब्ध साधनो का सदुपयोग करना होता है। इसके आवश्यक लक्षण है कि समूह की समस्त उत्पादक इकाइया एक दूसरे की आश्रित रहती है रहन सहन के स्तर और बढ़ती हुई उत्पादन

प्रणाली की प्रगतिशीलता का सन्तुलन होता है और एक सयोजक केन्द्र का अस्तित्व होता है, जो कि इस प्रकार की प्रणाली को चेतन रूप मे राष्ट्र द्वारा मान्यता प्रदत्त लक्ष्य की ओर बढ़ाता है।

स्पष्टत आर्थिक योजना मुक्त व्यवसाय और नियन्त्रित सयुक्त पूँजीवाद से आर्थिक पथ प्रदर्शन के विषय म भी भिन है। प्रत्येक उत्पत्ति की इकाई को स्वय विधान बनाने का अधिकार न देकर, योजना उनसे एक सर्वमान्य आर्थिक उद्देश्य पूर्ति के सम्बन्ध म सहयोग की आशा रखती है। सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के कामो का नियन्त्रण अधिकतर प्रतिकूल और असमर्थित विधानो द्वारा होने देने के स्थान पर योजना सम्बन्धित कार्य तथा एक लक्ष्य की प्रणाली का पालन चाहती है।

उन्नीसवीं शताब्दी की मुक्त व्यवसाय की नीति प्राकृतिक नियमानुसार दैवी-पथ प्रदर्शन के आध्यात्मवाद पर आधारित थी। बीसवीं शताब्दी की योजना-नीति दार्शनिकता पर आधारित है जो अन्वेषण और रचनात्मक दूरदर्शिता द्वारा क्रमबद्ध आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए मनुष्य की शक्ति पर विश्वास रखती है।" (विशाल भारत)

प्रश्न

(१) "आज की समस्त आर्थिक बुराइयों की दवा आर्थिक योजनायें हैं।" कैसे ? कारण सहित समझाइए।

(२) काले पदों का अर्थ समझाइए।

(३) उपयुक्त शीर्षक देते हुए उक्त अवतरण का लगभग १०० शब्दों म सक्षिप्तीकरण कीजिए।

अभ्यास ६

विदेशी पूँजी की सहायता से देश के प्राकृतिक साधनो का दोहन और विकास बहुधा विदेशियों के लिए ही अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। आधारभूत एव राष्ट्र रक्षा सम्बन्धी उद्योगों म विदेशी पूँजी का विनियोग और भी भयानक होता है। विदेशी पूँजी के विनियोग से देश के युवकों का प्रशिक्षण सम्बन्धी अवसर प्राप्त नहीं होता। देश के उद्योग धन्धो का सचालन एव प्रबन्ध सर्वथा विदेशियों के हाथ म रहता है। विदेशी लोगो को देश की वास्तविक परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण उनके पथ प्रदर्शन की दिशा बहुत गलत हो सकती है। औद्योगीकरण का सबसे पहला परिणाम आत्म निर्भरता होना है। अथवा लाभ सचय इतना सामर्थ्यवान हो जाता है कि पूँजी लगाने की कोई समस्या शेष नहीं रह जाती। यह लाभ ही पूँजी बन जाते हैं। और ज्यों-ज्यों इन लाभों की परिधि विस्तृत होती जाती है त्यों त्यों औद्योगीकरण का क्षेत्र भी चौड़ा होता चला जाता है। साथ ही व्यापार एव व्यवसाय सम्बन्धी अनुभव और ज्ञान म भी वृद्धि होती जाती है जो औद्योगीकरण के लिए अत्यन्त

आवश्यक है किन्तु हमारे देश में अंग्रेजी सरकार ने जो औद्योगीकरण किया उससे इन दोनों में से एक भी समस्या की पूर्ति नहीं हुई। विदेशी पूंजी का सबसे भयानक स्वरूप हम राजनैतिक क्षेत्र में मिलता है 'व्यापार के पीछे-पीछे ध्वजा चलती है" कहावत को हमने संसार के कई देशों में चरितार्थ होते देखा है और हम इसका बड़ा कटु अनुभव हो चुका है। आर्थिक प्रभुत्व के साथ-साथ राजनैतिक प्रभुत्व अवश्यम्भावी है। (Agra, B Com I, 1957)

प्रश्न

(क) उपर्युक्त गद्यांश का संक्षेप लगभग ७५ शब्दों में दीजिये।
(ख) काले शब्दों का अर्थ सोदाहरण संक्षिप्त रूप से अपने शब्दों में समझाइये।

अभ्यास ७

संसार की अस्त-व्यस्त वास्तविकताओं के साथ साथ नैतिक गुणों की संगति लगाना कठिन है। तदनु कुछ लोग धर्म का सहारा लेते हैं। कुछ लोग **विज्ञान को सदाचार का निर्णायक** मानते हैं। कुछ लोग उसको ही सदाचार मानते हैं जो समाज के बार-बार के अनुभव में ठीक लगता है और कुछ लोग नैतिक गुणों को सर्वथा व्यर्थ तथा सभी आदर्शों को निरर्थक एवं दम्भपूर्ण बतलाते हैं। पिछले दो विश्वयुद्धों ने अरक्षा का भय बढ़ा दिया है। **बड़े बूढ़ों की चिन्ता युवकों में भी दीखने लगी है।** युद्ध-काल की क्रूरता नागरिक जीवन में चली आयी है। यद्यपि आदर्श-परायणता, साहस और सहयोग की भावनाओं को भी बढ़ावा मिला है, युद्ध और उससे सम्बद्ध घटनाओं ने सदाचार के पुनर्विकास का काम बढ़ा दिया है। वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक सफलताओं से बहुतरी सामाजिक समस्याएं खड़ी हो गयी हैं। बड़े कारखानों की कार्य-स्थिति वैयक्तिक-उत्तरदायित्व की भावना को कम करती है। **कारीगर की अपनी कुशलता का अभिमान तथा आत्म संतोष कुण्ठित हो जाता है।** एक ओर सुखी व समृद्ध जीवन बिताने के भौतिक साधन प्रचुर हो गये हैं। दूसरी ओर हम फुरसत का समय आत्म-चिंतन, आत्म-विकास तथा समाज-सेवा के कार्यों में अधिक नहीं लगाते हैं। पश्चिमी देशों और बड़े शहरों में मित्र-मंडली अथवा पड़ोसी की चौपाल का स्थान क्लब और नाचघर ले रहे हैं। टेलीफोन के कारण मुट्ठी भर आटे के लिये पड़ोसी के घर की अपेक्षा परचूनिये की दूकान पास लगती है। मोटरकार मेलजोल के दायरे को मुहल्ले और गाँव की सीमा के बाहर ले जाती है। **हमारा अकृत्रिम निजी सम्बन्ध कृत्रिम तथा अनिजी बनता जाता है।** परिवार में माता-पिता का नियंत्रण शिथिल होता जाता है। डर है कि वे यह समझने लगें कि बालक को रास्ता दिखाने की उनकी जिम्मेवारी भी समाप्त हो गई। जीवन का सामना स्वयं करने से पूर्व बालकों के लिये आवश्यक अच्छे उदाहरणों, निर्देश, नियन्त्रण, सुरक्षा और प्रेम की पूर्ति खतरे में है। **विज्ञापन,** नाटक तथा सिनेमा का प्रभाव स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध पर पड़ता है। संसार

के राष्ट्रों के आपसी तीव्र विरोध का मूल कारण आचार सम्बन्धी यह प्रश्न है कि मानव-व्यवहार का आदर्श क्या होना चाहिये ? **संसार के मतभेद का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति का आन्तरिक मतभेद है।** आज के संसार में स्वतन्त्रता की रक्षा नैतिक और आत्मिक गुणों के विकास की समस्या है। **शिक्षक ही इसका एकमात्र सुधारक है।**

(Agra, B Com I, 1958)

प्रश्न

(क) उल्लिखित गद्यांश का संक्षेप लगभग ६० शब्दों में दीजिए।

(ख) काले पदों की विवेचना कीजिए।

अभ्यास ८

प्रत्येक किसान उत्पादन कार्य के लिये अपनी भूमि का स्वेच्छानुसार उपयोग करने के लिए स्वतन्त्र है। जब तक वह भूमि को भली भांति जोतता बोता है तब तक भूमि पर उसका ही अधिकार रहे। उसे यह विश्वास होना चाहिए कि वह **अपने श्रम का पूरी तरह से फल भोग सकेगा।** भूमि पर उसका अधिकार काश्तकारी कानून के आधार पर हो अथवा उसे इच्छानुसार **भू-स्वामित्व के अधिकार** खरीदने की स्वतन्त्रता हो। ऐसा होने पर किसानों की भूमि पर अधिकार करने की लालसा पूरी हो सकती है। देशों के भिन्न-भिन्न भागों के लिये **लाभकर खातों के क्षेत्र** निर्धारित किये जायें और इस बात का प्रयत्न हो कि अधिक से अधिक किसानों के पास ऐसे खाते हों। सभी किसानों का खाता सम्भवतः लाभकर होना चाहिये, अर्थात् उसका क्षेत्र १० एकड़ से कम नहीं होना चाहिये। १० एकड़ से कम होने पर उत्तराधिकारियों में उसका बँटवारा किसी भी दशा में नहीं किया जाय, क्योंकि इससे **एक नई समस्या खड़ी हो जावेगी।** जब खाता १० एकड़ के लगभग हो तो उसका स्वत्व अनेक उत्तराधिकारियों में किस प्रकार हस्तान्तरित किया जाय, यह प्रश्न उपस्थित होता है, क्योंकि यदि खाता सबसे बड़े लड़के को मिलता है, तो **शेष के साथ अन्याय होता है,** इसलिये इस समस्या का हमको सामना करना ही है अन्यथा भूमि के विभाजन से राष्ट्रीय हित के स्थान पर व्यक्तिगत हित को ही बल मिलता है, जो समाज के लिये अत्यन्त घातक है। इस सम्बन्ध में यही किया जा सकता है कि भूमि-**सम्बन्धी उत्तराधिकार काश्तकारी नियमों** के आधार पर इस प्रकार निश्चित हो कि १० एकड़ से कम के टुकड़े न हो सकें और उत्तराधिकारी, जिसे खाता प्राप्त हो, अपने से छोटे उत्तराधिकारियों के पूर्ण वयस्क होने तक उनके भरण-पोषण तथा शिक्षा के लिये पूरी तरह उत्तरदायी हो। किसी भी व्यक्ति को ३० एकड़ से अधिक भूमि को अपने अधिकार में रखने की आज्ञा न हो। जिनके पास इससे अधिक भूमि हो उसकी **अतिरिक्त भूमि अलाभकर** खातेवालों को दे दी जाय। इसके अलावा गांवों में बेकार पड़ी हुई भूमि भी इन्हीं अलाभकर खातेवालों में बाँट दी जाय। इतना होने पर भी बहुत से अलाभकर खातेवालों तथा भूमिरहित मजदूरों की समस्या शेष रह ही जायेगी,

जिसका हल होना आवश्यक है। इसलिये ग्रामो में कुटीर धन्धों का अधिक विकास किया जाय जिससे यह लोग बेकार समय में काम करके जीविका उपार्जित कर सकें तथा अपनी आय बढ़ा सकें। गाँव की जन संख्या तथा खातों की भूमि के अतिरिक्त शेष सभी भूमि पर गाँव समाज का अधिकार हो, जिसका निर्माण प्रत्येक गाँव में होना चाहिये। गाँव समाज को अपने सदस्यों के रहन सहन का स्तर उन्नत करने के लिये सभी प्रकार के कार्य करने चाहिये। गाँव से मालगुजारी एकत्र करके सरकार को उसके भुगतान करने के लिये भी ग्राम समाज ही उत्तरदायी हो।

(Agra B Com I 1959)

प्रश्न

(क) उपर्युक्त गद्यांश का संक्षेप लगभग ७५ शब्दों में दीजिये।
(ख) काले भागों को संक्षिप्त रूप से अपने शब्दों में समझाइये।

अभ्यास ९

छोटी छोटी बस्तियों में रहने और अधिकांश अपने लिए या स्थानिक उपयोग के लिये छोटे छोटे यन्त्रों पर उत्पादन करने को लोग **विज्ञान की सुई को पीछे घसीटना** कह सकते हैं। लोग समझते है विज्ञान एवं बड़े पैमाने पर केंद्रित उत्पादन और मनुष्यों की घनी घनी बस्तियाँ अनिवार्य रूप से साथ साथ रहेंगी। इससे अधिक बेमानी बात और क्या हो सकता है? विज्ञान दो तरह का है (१) शुद्ध विज्ञान, (२) उपयोगी विज्ञान। मैं केवल शुद्ध विज्ञान को ही विज्ञान कहूँगा दूसरा तो यन्त्रकला है। फिर विज्ञान का उपयोग स्वतः विज्ञान पर निर्भर नहीं करता, बल्कि समाज की प्रवृत्ति और गठन पर निर्भर करता है। बड़ी बड़ी मशीनों के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन करना रुपया कमाने वालों के लिए लाभदायक था, इसलिए यन्त्रकला ने उस विशिष्ट प्रकार के उत्पादन का मार्ग अपनाया। समाज में पैसा कमाने वाले पूँजीपतियों का प्रभाव था इसलिये उनके मन की बात होने ही वाली थी। सरकारों ने भी अपने आदर्शों की चिन्ता न करते हुए **केंद्रित और बड़े पैमाने पर उत्पादन** को पसन्द किया। क्योंकि युद्ध करने के लिये अथवा आप चाहें तो संरक्षण के लिये भी कह सकते है उसकी आवश्यकता थी। इसलिए भी उसका महत्व था कि उसके द्वारा सारी **आर्थिक और इसलिये राजनीतिक सत्ता** उनके हाथों में केंद्रित हो गयी थी। इस प्रकार सरकारों और मुनाफाखोरों ने मिलकर **आधुनिक समाज के भस्मासुर को पैदा किया है**। बेचारे विज्ञान का इस मामले में कोई हाथ नहीं था। इतना ही नहीं, वैज्ञानिकों का बस चलता तो वे उत्पादन और विज्ञान के बहुत से इंजनों को जिनके निर्माण में उनके अनुसन्धान से सहायता मिली है चकनाचूर करके प्रसन्न होते किन्तु समाज ने यदि सत्ता मुनाफा और युद्ध के लक्ष्यों को न अपनाकर शान्ति सद्भावना, सहकार स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के लक्ष्यों को अपनाया होता तो निश्चित ही यन्त्र कला का तदनुरूप विकास करने में विज्ञान का उतना ही उपयोग हुआ होता। वह विज्ञान

की अवनति नहीं कही जाती, बल्कि विनाश के बदले निर्माण की दिशा में उसकी प्रगति ही कही जाती। यह बता देना चाहिए कि आणविक शक्ति ने उत्पादन के व्यापक **वितरण और लघु-उद्योगों के विकास को पहले की अपेक्षा अधिक सम्भव कर दिया है।** (Agra, B Com I, 1960)

प्रश्न

(क) उपर्युक्त गद्यांश का संक्षेप लगभग ७५ शब्दों में दीजिए और एक उचित शीर्षक भी।

(ख) काले भागों को संक्षिप्त रूप से अपने शब्दों में समझाइए।

अभ्यास १०

इसमें सन्देह नहीं कि संयुक्त कृषि के समर्थक जिस आदर्श तक पहुँचना चाहते हैं वह बहुत प्रशंसनीय है। संयुक्त कृषि के आलोचक भी इस आदर्श से सहमत हैं। वे भी परस्पर सहयोग और सहकारिता को अवांछनीय नहीं मानते, किन्तु उनकी यह दृढ़ सम्मति है कि संयुक्त कृषि के रूप में सहकारिता किसी तरह भी व्यावहारिक नहीं है। उनके तर्कों पर अभी तक हमें सन्देह है, गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया। **आत्म प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर तर्काभास तथा दृढ़ भाषा द्वारा उन्हें चुप कराने का प्रयत्न किया जा रहा है।**

इस आन्दोलन और प्रत्यान्दोलन में जो कुछ दोनों ओर से कहा जा रहा है, उस पर यदि शान्त मस्तिष्क से विचार करें तो, प्रतीत होगा कि मूल प्रश्न जिस पर मतभेद हैं, निम्नलिखित हैं —

आलोचकों की धारणा यह है कि किसान का अपनी भूमि के प्रति जो मोह है, उसके कारण वह अपनी भूमि पर किसी दूसरे को खेती नहीं करने देगा। श्री राजाजी के शब्दों में **किसान अपनी भूमि से पत्नी की तरह प्रेम करता है।** वह स्वयं भले ही अपने किसी साथी को सहयोग के लिए बुलाले और बदले में उसको भी सहयोग दे दे, ***एक नियन्त्रण और नियम के नीचे अपने जिस किसी पड़ोसी को अपने खेत पर हल जोतने नहीं देगा।*** दूसरे वह अपने खेत पर बहु स्वामित्व को सहन नहीं करेगा। जात पाँत, बिरादरी और पारिवारिक झगड़ों से भी वह आज ऊपर उठ जाए, इसकी भी बहुत कम सम्भावना है। आलोचकों की तीसरी मुख्य आपत्ति यह है कि आज तो वह अपने खेत का स्वतन्त्र रूप से स्वामी है, जब चाहता है और जो चाहता है और जैसे चाहता है, अपने खेत में हल जोतता, फल बोता और अपने बाल बच्चों का सहयोग लेता है। वह अपने लाभालाभ को देखकर अपनी बुद्धिपूर्वक यथाशक्ति परिश्रम करता है किन्तु संयुक्त कृषि के बाद वह मजदूर भर रह जाएगा, जिस सहकारी समिति के कर्मचारी उसके परिश्रम के अनुसार वेतन देंगे। **आज भी लोकतन्त्र राज्यों में वह सरकारी कर्मचारियों, विधान सभाओं के सदस्यों और मन्त्रियों से आत्मीयता स्थापित**

नहीं कर पाता, यद्यपि वे उसके ही वोटों से चुने जाते हैं। सयुक्त कृषि का अर्थ है कारखानों की भांति कृषि का भी केन्द्रीयकरण व उद्योगीकरण।

सयुक्त कृषि चालू करने से पूर्व इन तीनों आपत्तियों का निरसन करना होगा। भारतीय किसान को प्रशिक्षित करने और सहकार की भावना उत्पन्न करने के लिए तपस्वी, ईमानदार, निस्वार्थ जनसेवकों की आवश्यकता है, जो गाँव गाँव म घूमकर किसानों के हृदय से स्वार्थ व अपने-पराए की भावना को निकाल सकें। क्या आज के भ्रष्टाचार और स्वार्थ के युग म ऐसे नि स्वार्थ कर्मचारी तैयार हो सकेंगे ? इस प्रश्न के उत्तर पर सयुक्त कृषि का भविष्य निर्भर है। यदि इसका उत्तर 'हाँ' म है तो संयुक्त कृषि सफल होगी और यदि उत्तर 'नहीं' म है तो विधाता भी इस प्रयत्न म सफल नहीं होगा। (सम्पदा)

प्रश्न

(१) उपर्युक्त सन्दर्भ को उपयुक्त शीर्षक दीजिए और लगभग ७५ शब्दों में उसकी संक्षेपिका बताइए।

(२) काले भागों का भावार्थ समझाइए।

अभ्यास ११

मानव जाति के लिए एक नये युग का सूत्रपात हो गया है। यह नया युग आणविक शान्ति का युग है। भविष्य में इतिहासकार इस युग को "आणविक युग" कह कर पुकारेंगे या सभ्यता के महाविनाश की बीभत्स और रोमांचकारी गाथा सुनने के लिए कोई इतिहासकार जीवित ही नहीं बचेगा, इसका निर्णय आज हम—समस्त मानव जाति को ही करना है, क्योंकि आज समस्त संसार का भविष्य खतरे में पड़ गया है।

फिर भी युद्ध मे महाविनाश की क्षमता के रखने वाला अणु तेजी से शान्ति के दूत के रूप मे परिणित होता जा रहा है। ससार के प्रमुख वैज्ञानिकों और राजनीतिज्ञों का कहना है कि अणु-शक्ति हमारे युग का सबसे महत्वपूर्ण और मनोरंजक आविष्कार है।

विज्ञान की प्रगति और मानव जाति के कल्याण की दृष्टि से इस आविष्कार की तुलना **अणुवीक्षण यन्त्र** और भाप चलित इंजन से की जा सकती है। वस्तुत अभी से अणु शक्ति का उपयोग रोगों से संघर्ष करने, औद्योगिक उत्पादन की कोटि और विधियों को सुधारने, कृषि उत्पादन बढाने और समस्त मानव जाति के रहन-सहन को उन्नत करने के लिये किया जा रहा है।

बहुत से लोग 'अणु-विस्फोट' शब्द से 'महाविनाश' या 'अपरमिति शक्ति' की कल्पना करते हैं, लेकिन वैज्ञानिकों को ज्ञात है कि हमारे युग के सबसे अधिक महत्वपूर्ण 'अणु विस्फोट' परीक्षणशालाओं में हुये हैं। ये अणु-विस्फोट न तो देखे जा सके और न इनसे किसी प्रकार की आवाज ही हुई। परीक्षणशालाओं म हुए इन 'आणविक-

विस्फोटों' द्वारा महत्वपूर्ण सफलतायें प्राप्त की गयी हैं और आज मानव जाति अणु-युग को उदय होते देख रही है।

अणु का आकार बहुत सूक्ष्म है, परन्तु इसमें अपरिमित शक्ति निहित है। १५ पौंड आणविक ईंधन से ३ करोड ६० लाख पौंड कोयले जितनी शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। साथ ही एक पौंड विखण्डनीय सामग्री में २,४०,००० गैलन पैट्रोल जितनी शक्ति भी निहित है। भारत तथा संसार के अल्प-विकसित देशों के लिए यह खोज बहुत अधिक महत्त्व रखती है।

मनुष्य अणु की इस आश्चर्यजनक और विस्मयकारी शक्ति का उपभोग विनाश के लिए करेगा या संसार की सुख-वृद्धि के लिए ? जिस प्रकार प्रारम्भिक काल में मनुष्य ने अग्नि की खोज करने के बाद धीरे-धीरे उससे उपयोगी शक्ति प्राप्त की, उसी प्रकार आज मनुष्य शनैः शनैः यह सीख रहा है कि अणु शक्ति किस प्रकार मानव जाति के लिए उपयोगी बनाई जा सकती है। (अमृत पत्रिका)

प्रश्न

(१) काले पदों का अर्थ समझाइए।
(२) उक्त अवतरण को उपयुक्त शीर्षक देते हुए संक्षिप्त कीजिए।
(३) अणु शक्ति के रचनात्मक रूपों का विवरण दीजिए।

अभ्यास १२

साधारणतः संकीर्ण अर्थ में श्रम का तात्पर्य उस मानवी चेष्टा से है, जो धन की प्रत्यक्ष उत्पत्ति के लिए की जाती है, परन्तु श्रम की यह व्याख्या अपूर्ण है। धन से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध रखने वाली मनुष्य की प्रायः सभी क्रियायें होती हैं। धन से परोक्ष सम्बन्ध रखने वाली चेष्टायें भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं, जितनी प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाली। एक देश भक्त की देश-सेवा की चेष्टा भले ही प्रत्यक्ष रूप से उसे धन अर्जित करने में सहायक न हो फिर भी हम उस व्यक्ति की चेष्टाओं को श्रम ही कहेंगे क्योंकि देश-सेवा की चेष्टा करते समय उसे जो आवश्यकताएँ पड़ती हैं—वे धन उत्पत्ति का कारण भी होती हैं। इस दृष्टिकोण से श्रम की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं— वे समस्त मानवी चेष्टाएँ, जो अपेक्षाकृत न्यून साधनों द्वारा असीम साध्यों की प्राप्ति के लिए की जाती हैं, श्रम हैं। इसी दृष्टिकोण से श्रमिक उन सभी व्यक्तियों को कहेंगे, जिनके समक्ष सीमित साधनों द्वारा असीम साध्यों की पूर्ति की समस्या है।

परन्तु आज की औद्योगिक व्यवस्था में श्रमिक वर्ग एक अन्य वर्ग ही समझा जाता है, जो आर्थिक कार्यों में भाग लेता है और ब्याज, लाभ, लगान और वेतन से भिन्न 'पारिश्रमिक' पर निर्भर करता है। वह अपने आर्थिक कार्यों के लिए अन्य व्यक्तियों की पूँजी प्रयोग करने के लिए बाध्य होता है और जो अपने हित की आशा एक विशिष्ट 'श्रम शिविर' से रखता है।

वर्तमान औद्योगिक युग मे उत्पत्ति का कार्य बृहद् परिमाण मे किया जाता है। उन सभी देशो मे जहाँ व्यक्तिगत पूँजीवाद है और राज्य द्वारा **नियंत्रित तथा योजना-बद्ध अर्थ प्रणाली** कार्य-रूप म लाई जाती हैं, वहाँ उत्पादको म **प्रतिस्पर्धा की एक भीषण स्थिति उत्पन्न हो जाती है**। इस प्रतिस्पर्धा मे आगे बढने के लिए अथवा अपने को व्यावसायिक क्षेत्र मे दृढ करने के लिए उत्पादक-व्यय मे कमी करते हैं, जैसे—पारिश्रमिक में कटौती, कार्यशील घण्टो म वृद्धि इत्यादि। श्रमिको की श्रम-नियोजकों की अपेक्षा सौदा करने की शक्ति की कमी के कारण और उनकी रचना तथा व्यावसायिक गतिशीलता मे बाधायें होने के कारण उन्हे अधिकतर झुकना पडता है, परन्तु श्रमिक वर्ग मे श्रम-नियोजको के प्रति असन्तोष की भावना बलवती होती जाती है और श्रम-सघ उसी के परिणाम होते हैं। अपनी कष्टप्रद समस्याओ को दूर करने के लिए श्रम सघ को उत्पादको से सघर्ष करना पडता है—हडताले और तालाबन्दी होने लगने हैं। फलस्वरूप देश को महान् क्षति उठानी पडती है। श्रम अति शीघ्र नाश होने वाला पदार्थ है। समस्त व्यवसायो मे एक दिन की हडताल अथवा तालाबन्दी पूरे राष्ट्र के लिए करोडो रुपये के नाश का कारण बन सकती है। रुपयो की क्षति-पूर्ति तो येनकेन प्रकारेण की जा सकती है परन्तु श्रमशील घण्टो की क्षति पूर्ति किसी भी प्रकार नही की जा सकती। इसके अतिरिक्त हडताल अथवा तालाबन्दी की अवधि म श्रमिको को अपने पारिश्रमिक से वचित रहना पडता है, पूर्व अर्जित पारिश्रमिक म भी उसकी अल्पता के कारण कोई बचत नही रहती, अत श्रमिको के पूरे परिवार को अर्द्ध नग्न और बुभुक्षित अवस्था म रहना पडता है। उनको कार्य-क्षमता क्रमश घटती जाती है, जिसका परिणाम भविष्य मे पूरे समाज को उत्पादन की कमी के रूप में उठाना पडता है। **उपभोक्ता को वस्तुओं की** महान कमी हो जाती है। देश के समक्ष मुद्रा स्फीति और आर्थिक सकट का भय उत्पन्न हो जाता है। श्रमिक समस्या का यह प्रथम स्वरूप है।

(विशाल भारत)

प्रश्न

(१) काले भागो का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

(२) उपर्युक्त अवतरण की संक्षेपिका बनाइए।

(३) श्रम की व्यापक व्याख्या कीजिए।

(४) श्रम सघो का जन्म कैसे हुआ और उनका क्या कर्तव्य है?

(५) हडतालो से विविध पक्षो को क्या हानि होती हैं? हडताले राष्ट्रीय क्षय का कारण क्यो हैं।

अभ्यास १३

यह तो सर्वमान्य है कि बेकारी व्यक्तिगत पूँजीवाद की अस्थाई नही, अपितु **स्थायी और रूढ़िगत समस्या है**। इस प्रकार की व्यवस्था म हर समय एक "सचित श्रम" अथवा बेकार श्रमिको का एक समूह होता है, जो घटता है और बढ़ता है, परन्तु उसका नितान्त लोप नही होता। वस्तुओ की उत्पत्ति उनकी माँग के अनुपात मे न हो

सकने के कारण, जैसा पूँजीवादी व्यवस्था मे होना स्वाभाविक है, व्यापारिक-चक्र मे परिवर्तन होता रहता है। कभी-कभी व्यापार म समृद्धि आती है उत्पादको को लाभ अधिक मिलने लगता है उद्योगो का विस्तार किया जाता है और श्रमिको की नियुक्ति उत्तरोत्तर बढायी जाने लगती है। उद्योग विस्तार की स्पर्धा मे तथा किसी निश्चित सामजस्यपूर्ण योजना के अभाव म वस्तुएँ माग से अधिक पैदा हो जाती हैं और उनके मूल्य म भीषण कमी होने लगती है। उत्पादको को घाटा होने लगता है। अधिकाश फैक्टरियो को काम कम कर देना पडता है। फलत एक विशाल जनसमूह बेकार हो जाता है। वस्तुओ की माग और पूर्ति के असन्तुलन के कारण ही बेकारी की समस्या उत्पन्न होती है।

इन सभी समस्याओ का समाधान **व्यक्तिगत पूँजीवाद के स्थान पर समष्टि पूँजीवाद की प्रतिस्थापना से ही सम्भव हो सकता है** अर्थात् उन सभी उद्योगो और उत्पत्ति के साधनो का स्वामित्व उत्तरदायित्वपूर्ण राज्य के हाथो मे हो, जो केवल उन्ही वस्तुओ को उतने ही परिमाण मे उत्पन्न करेगा जितनी उनकी वास्तविक माग होगी। तब न स्पर्धा की कोई समस्या होगी और न उत्पत्ति व्यय को कम करने की व्यग्रता। अत श्रमिको की मजदूरी मे कटौती, काम करने के घटो मे वृद्धि और उन्हे य त्र की पूरी गति से चलाने का आदेश नही होगा। व्यापारिक समृद्धि और ह्रास की समस्या न होने के कारण बेकारी की भी समस्या न होगी।

परन्तु सिद्धान्तत यह कथन कितना भी सत्य क्यो न प्रतीत होता हो, व्यावहारिक रूप म उत्पत्ति क साधनो का सहसा राष्ट्रीयकरण असम्भव नही तो कष्ट साध्य अवश्य है। इस सम्बन्ध म **राष्ट्रीयकरण के साधन द्वारा साध्य तक पहुँचने की नीति मे तनिक भी असावधानी या अवाछनीय शीघ्रता देश को महान् सङ्कट मे डाल सकती है और साध्य को और दूर फेंक सकती है**। उद्योगपतियो को बिना उचित प्रतिधन दिए ही उनके उद्योग पर राज्य द्वारा स्वामित्व स्थापित करने की नीति खून की नदिया बहाने का कारण बन सकती है। यदि प्रतिधन देने की नीति हो भी तो किसी राज्य के पास इतनी सामर्थ्य नही हो सकती कि सब उद्योगो को सहसा वह अपने हाथ म ले ले। फिर भी राज्य की आय क्रमश बढने के साथ साथ उद्योगो का भी उनके सापेक्षिक महत्व के अनुसार क्रमश राष्ट्रीयकरण होना आवश्यक है पर तु प्रश्न यह है कि व्यक्तिगत पूँजीवाद को हटाकर समष्टि पूँजीवाद स्थापित करने तक की अवधि म राज्य को आर्थिक समस्याओं का निवारण, जिनका सम्बन्ध श्रमिको के हित से है, किस प्रकार करना उचित है। **(विशाल भारत)**

प्रश्न

(१) काले भागो का अर्थ समझाइये।
(२) उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण क्यो कष्ट साध्य है ?
(३) व्यक्तिगत पूँजीवाद बेकारी के लिए क्यो उत्तरदायी है ?
(४) इस अवतरण को सक्षिप्त करके अपने शब्दो मे लिखिये।

अभ्यास १४

जनतन्त्र के आधार पर समाज का पुनर्निर्माण आज के युग की माँग है। नवीन समाज की रचना सबल आर्थिक प्राचीर पर सुदृढ और स्थाई हो सकती है, इसी से धार्मिक एव सास्कृतिक विकास के अगो की पूर्ति भी होती है। साथ ही यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अनेक सामाजिक कुरीतियाँ मुख्यत आर्थिक विषमताओं से ही उत्पन्न होती हैं। मनुष्य समाज का अग है, अतएव मानव-जागरण का अध्ययन मूलत सामाजिक विषय है। आर्थिक क्रियाओ का आधार भी समाज ही है, क्योकि समाज म व्याप्त वातावरण द्वारा ही हमारी आवश्यकताएँ निश्चित होती है, जो सभी आर्थिक क्रियाओ की जननी हैं। समाज के सगठन, नीति, विकास अथवा उन्नति की पृष्ठ-भूमि मे आर्थिक क्रियाओ को मुख्य स्थान मिलता है। जिस समाज अथवा जाति के लोग पारस्परिक सहानुभूति एव सहृदयता से काम लेते है उस समाज अथवा जाति के व्यक्तियो की उन्नति होती है और वह समाज सदा सुखी रहता है। इस प्रकार की सहानुभूति का मुख्य आधार आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय होता है किन्तु उसकी विपरीत अवस्थाओ मे समाज के अभ्युदय म बाधा पडती है और सदा आर्थिक सकट छाया रहता है। आर्थिक संगठन के युग मे किसी भी सामाजिक विषय का आर्थिक पक्ष जब तक दृढ नही रहता, उत्थान की चर्चा निरर्थक जान पडती है। फलत उसके अभाव म कोई भी विश्वव्यापी सस्था क्यो न हो, सफल नही हो सकती।

समाज-निर्माण का कार्य समाज के सुधारो की प्रचेष्टा, राज्य के विधान तथा समाजसेवा की भावनाओ से ओत-प्रोत राष्ट्रीय जनता द्वारा सम्पन्न होता है। समाज-सेवा के अन्तर्गत वे सभी सेवाएँ आती हैं, जिनमे सामाजिक जीवन का स्तर निर्धारित होता है, किन्तु कभी कभी समाज के कुछ ऐसे कार्य भी आ जाते हैं, जो साधारणत लोगो के ध्यान से दूर हो गये रहते हैं और उनके प्रति राज्य सरकार को विशेष रूप से ध्यान देना अनिवार्य हो जाता है। व्यापक दृष्टि से समाज सेवा का कार्य वास्तविक रूप म उन लोगो से सम्बन्धित होना चाहिये, जो अविकसित एव उपेक्षित क्षेत्र मे निवास करते हैं अथवा जो समाज म निम्न स्तर का जीवन व्यतीत कर रहे हैं तथा उन्हे शारीरिक एव नैतिक दृष्टि से प्रभावग्रस्त दशा मे कार्य करना पडता है। ऐसे व्यक्तियो के जीवन म प्रकाश पहुँचाना, शारीरिक तथा मानसिक विकास का अवसर तथा आनन्द वृद्धि करना एक उच्च कोटि की समाज-सेवा है। व्यक्तियो मे मितव्ययिता की आदत, मादक-द्रव्यो का निषेध तथा आमोद-प्रमोद म विशेष व्यय को रोकना भी समाज सेवा का उत्कृष्ट उदाहरण है। तात्पर्य यह है कि समाज सेवा का रूप ऐसा हो, जिसमे राष्ट्रीय-जीवन म ऐसा विकास हो जाये कि राष्ट्र सभी प्रगतिशील राष्ट्रो के साथ उन्नत मस्तक होकर एक साथ कदम मिला कर चल सके। उसम आत्म-गौरव की भावना प्रबल हो उठे।

(विशाल भारत)

प्रश्न

(१) उक्त प्रकरण की संक्षेपिका बनाइये जो उसके मूल आकार के एक चौथाई से बड़ी न हो।
(२) काले भागों की व्याख्या कीजिए।
(३) वास्तविक समाज-सेवा क्या है ?

अभ्यास १५

दान की नई कल्पना

भूमि-हस्तान्तर के लिए आन्दोलन के आचार्य सन्त विनोबा का साधन है, दान की प्राचीन परम्परा, लेकिन उनके हाथ मे दान भूमि हस्तान्तर के लिए एक नई क्रान्तिकारी व्यूह रचना बन गया है। सन्त विनोबा ने इसे इसलिए श्रेष्ठ माना है कि **वह एक सामाजिक अन्याय की अन्त्येष्टि के लिए अमोघ अस्त्र है।**

विनोबा का कहना है कि हवा, पानी, प्रकाश की भाँति भूमि भगवान की देन है, जैसे पानी नहीं बेचा जाता और हवा की कोई कीमत नहीं कूती जाती, वैसे भूमि भी अनमोल है। वह खरीदने बेचने के लिए नहीं, वरन् प्रेम से लेन-देन के लिए है, इसलिए उस पर किसी एक का स्वामित्व सामाजिक पाप है। इस पाप से मुक्ति का एक ही उपाय है कि भूपति अपनी भूमि का दान कर दे। इसी में उसका मनुष्यत्व और पुरुषार्थ है और यही उसके लिए पुण्य का सबसे बड़ा काम है। युग-युग से भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देना पुण्य कार्य माना जाता रहा है। वैसे अब इस बात की अनिवार्यता है कि मेहनतकश भूमिहीन को भूमि देना हम अपना धर्म समझें।

भूदान केवल पुण्य के लिए ही नहीं, वरन् दाता की रक्षा के लिए भी जरूरी है। **वर्तमान युग मे वर्ग-संघर्ष और सामाजिक असन्तोष की जो आँधी चल रही है,** उसमे यदि भूदान द्वारा बचाव न हुआ तो भूपति की जमीन तो जायेगी ही, लेकिन वह अपनी इज्जत भी खोयेगा। मगर समय के पहले, वर्ग-संघर्ष और खूनी क्रान्ति को टालने के लिए यदि दाता अपनी जमीन का त्याग करता है तो वह अपनी रक्षा करता है, देश की रक्षा करता है और महान् यश का भागी होता है। भूदान हमारे लिए चेतावनी मात्र है कि सामने खम्भा है। आँखों से लोभ की पट्टी हटा दो, नहीं तो उसमे टकराकर अपना माथा फोड़ोगे।

भूदान की नई कल्पना मे दान केवल दया-करुणा का कार्य नहीं रहा है। वह हमारी सदियों से सोई हुई न्याय बुद्धि को जगाने का कार्य बन गया है। भूदान मे याचक कोई अपरिचित व्यक्ति नहीं, अपने ही कुटुम्ब का एक स्वजन, एक लड़का है। उसमे दरिद्र नारायण की प्रतिष्ठा की गई है, इसलिए उसकी **याचना को एक हक** माना गया है। दाता से कहा गया है कि वह भूदान कर याचक के हक को स्वीकार करे और इस तरह याचक ने उसे न्यायपूर्ण कार्य के लिए जो सहूलियत दी है, उसके

लिए वह अपने को उपकृत माने। याचक को स्वजन मानकर दान की क्रिया सरल बना दी गई है। दाता से विनोबा कहते हैं—"भाई, तेरे घर मे पांच बेटे हैं। मैं छठवां होकर तेरे घर म प्रगट हुआ हूँ। तू मुझे दरिद्रनारायण की खातिर मेरा हक मुझे वापस कर दे।" दान की इस नई क्रान्तिकारी कल्पना से जहाँ अमीर-गरीब के बीच की खाई हटती है वहाँ सामाजिक शान्ति और सहयोग के लिए उनके गठबन्धन की सम्भावना भी मजबूत होती है।

अन्त म साधारण दान एक प्रसग मात्र है। लेकिन भूदान सग्रह के समर्पण का एक सिलसिला है जो तब जाकर समाप्त होता है जब व्यक्ति के पास उतनी ही भूमि बच रहे जितनी वह जोत सके और बाकी फालतू जमीन दरिद्रनारायण के हेतु समर्पित हो जाय। दूसरे शब्दो म मालकियत का मोह ही आज के समाज का सबसे बडा रोग है और भूदान इसी राज रोग के इलाज के लिए सतत् चलती हुई प्रक्रिया है।

(सरस्वती)

प्रश्न

(१) काले पदो का अर्थ समझाइये।
(२) इस अवतरण को उपयुक्त शीर्षक देते हुए उसका संक्षिप्तीकरण कीजिए, जो अपने मूल आकार का लगभग पांचवा भाग हो।

अभ्यास १६

एक अहिंसक क्राति

गाधी जी ने जिस सत्य और अहिंसा का उपयोग देश की स्वतत्रता प्राति के लिए किया, उसी का उपयोग उनके परम शिष्य विनोबा एक कदम आगे जाकर आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति के लिए कर रहे है। भूदान का आधार प्रेम और अहिंसा द्वारा लोगों की मानवता जगाकर उनका मत परिवर्तन और हृदय परिवर्तन है। तलवार या कानून लोगो को मिलाने की जगह उनम फांकें पैदा करते हैं। तलवार से आदमी का गला भले ही काट लिया जाय, लेकिन उससे आदमी का हृदय नही जीता जा सकता है। वैसे ही कानून से दो विरोधी नही मिलाए जा सकते न जहाँ एक अपनी जीत स खुश होता है वहाँ दूसरा अपनी हार से दिल ही दिल म कुढता है। सज्जनता किसी एक वर्ग की विरासत नहीं। कई अच्छे अमीर होते हैं और कई बुरे गरीब होते हैं लेकिन समाज की शांति के लिए सभी अच्छे अमीरो और सभी अच्छे गरीबो के सहकार की आवश्यकता है, इसलिए अहिंसा द्वारा हृदय परिवर्तन का मार्ग ही ऐसा मार्ग है, जो वर्गों का तो निराकरण करता है, मगर व्यक्तियो का समन्वय सम्भव बनाता है। बिना किसी कलह प्रतिहिंसा और वैमनस्य को उपजाए वह अमीर और गरीब दोनो को पास लाकर खड़ा कर देता है। अभी कुछ दिन पहले अपने देश म तेलगाना

प्रश्न

(१) काले पदों की व्याख्या कीजिए।
(२) उपर्युक्त अवतरण को उपयुक्त शीर्षक दीजिए और उसकी संक्षेपिका बनाइए।
(३) भूदान को हृदय-परिवर्तन की क्रान्ति क्यों कहा गया है?

अभ्यास १७

लोक-शक्ति निर्माण

भूदान-यज्ञ-आन्दोलन का कार्यक्रम एक नई अहिंसक समाज-रचना का है, जिसमे विषमता न हो, शोषण और उत्पीडन न हो, स्वार्थ और लोभ न हो, जिसमे आदमी-आदमी के बीच परस्पर प्रेम और सद्भाव हो। **जैसा आन्दोलन का साध्य है, वैसे ही उस तक पहुँचने के लिए उसकी मोर्चाबन्दी है। उसे न अमेरिका की द्रव्यशक्ति का भरोसा है और न रूस की हिंसा शक्ति का।** उसने एक तीसरी **शक्ति, लोक-शक्ति को अपना आधार बनाया है।** माता द्रव्य के लोभ में या हिंसा के भय से बच्चे को स्तन पान नही कराती। जो प्रेम और सद्भाव उसमे है, वही सारे मनुष्यो मे है और वे ही मानव-जीवन की समृद्धि के मूल्य हैं। भूदान-यज्ञ इसी प्रेम और सद्भाव की शक्ति को सामाजिक रूप म विकसित करके लोक-व्यापक बनाना चाहता है। इसी का दूसरा नाम लोक-शक्ति है। इस शक्ति के द्वारा भूदान-यज्ञ का उद्देश्य कोई सम्प्रदाय या दल स्थापित करना नही है। वह तो इसके द्वारा और इसे अधिक व्यापक बनाकर आम जनता मे घुल-मिल जाना चाहता है और लोगो को केवल **शुद्ध मनुष्य बने रहने को सीख देना चाहता है।**

भूदान-यज्ञ द्वारा उत्पन्न यह नई लोक-शक्ति सामान्य दण्ड-शक्ति से भिन्न है, लेकिन उसकी विरोधी नही है। दण्ड-शक्ति सारा समुदाय सरकार के हाथ मे सौंपता है। यह निरी अहिंसक भी नही है और इसके द्वारा जन-सेवा के कार्य भी हो सकते हैं और हो रहे हैं, लेकिन उसका कार्य-क्षेत्र संकुचित है। अगर चन्द लोगो के संकट-निवारण की समस्या हो तो दण्ड-शक्ति उसे सुलझा सकती है। वह जनसेवा के लिए नई रचनात्मक कार्य भी कर सकती है, लेकिन **जहाँ विचार की विचार से टक्कर हो, जहाँ एक आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति करने की बात हो, वहाँ दण्ड-शक्ति बेकार है।** सरकार अपनी सेना से युद्ध लड सकती है और शान्ति कायम कर सकती है, **लेकिन जहाँ युद्ध को जड-मूल से ही समाप्त करना हो, वह हथियार डाल देती है।** इसलिए विनोबा विनोदपूर्ण ढग से कहते हैं—"दो बैल जब गाडी मे लग चुके है, तब मैं और तीसरा बैल बनूँगा तो गाडी को क्या मदद मिलेगी? अगर मैं यह कर सकूँ कि रास्ता जरा ठीक बनाऊँ ताकि गाडी उचित दिशा मे जाय तो उस गाडी को मैं अधिक मदद **पहुँचा सकता हूँ।" तो भूदान-यज्ञ दण्ड-शक्ति का विरोधी नहीं है, पूरक है।** जब

तक समाज को दण्ड-शक्ति की जरूरत है, तब तक उसके हाथ मजबूत करना ही हमारा धर्म है, लेकिन भूदान इससे भी एक कदम और आगे जाना चाहता है। वह लोक-शक्ति का निर्माण कर ऐसी परिस्थिति खड़ी करना चाहता है, जिसमें दण्ड-शक्ति के उपयोग का अवसर ही न रहे। उसकी यह मान्यता है कि **कानून कुछ भी हो, जनता में ऐसी न्याय बुद्धि का निर्माण हो कि लोग अपने आप भूमि का बटवारा करें।** जनता में इस न्याय-बुद्धि का सृजन उसके विचारों में क्रांति करके ही सम्भव है और इस **वैचारिक क्रांति के लिए लोक-शक्ति के निर्माण की अपेक्षा है, जो अहिंसक समाज की आधार-शिला है।**

इस नई लोक-शक्ति के निर्माण के लिए **भूदान-यज्ञ-आन्दोलन को न द्रव्य का भरोसा है, न हिंसा का और न कानून का। उसका एक मात्र संबल विचार शासन है,** अथवा विचार पर श्रद्धा और निष्ठा और विचार-प्रचार के लिए अटूट उत्साह। **भूमि का दान विचार-परिवर्तन का एक कारण मात्र है, लेकिन उसका फल जीवन-शुद्धि और सामाजिक परिवर्तन है।** इस फल की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब हम विचार-प्रचार के लिए गांव-गांव जाकर जनता में घुल-मिल जांय। **कानून का 'छोटा-काट' इस कार्य के लिए बिलकुल अनुपयुक्त है।** भूदान-यज्ञ का अभियान सामाजिक क्रान्ति और जीवन-शोधन के लिए है, जिसके लिए अपने-आप विचार-परिवर्तन की अनिवार्यता है, इसलिए यह आन्दोलन विचार-शक्ति और उसके अभिमन्त्रित लोक-शक्ति के सिवाय और किसी अन्य शक्ति को मान्यता नहीं देता। **(सरस्वती)**

प्रश्न

(१) इस अवतरण को एक चौथाई के बराबर संक्षेप करके लिखिए।
(२) काले भागों का अर्थ समझाइए।
(३) लोक-शक्ति की व्याख्या कीजिए और भूदान-यज्ञ के मार्ग का औचित्य समझाइए।

अभ्यास १८

दो या तीन सौ वर्ष पूर्व एशिया और यूरोप का ढांचा प्रायः एक ही समान स्तर पर था। तब एशिया के कई देश औद्योगिक क्षमता और समाज के उन्नतिशील संगठन में यूरोप से भी आगे बढ़े हुए थे, किन्तु एशिया पर यूरोप की राजनैतिक सत्ता कायम होने के कारण यूरोप को आगे बढ़ने का अवसर मिला। औद्योगीकरण और युद्ध सम्बन्धी नई प्रक्रियाओं के निर्माण से यूरोप में समाज का जो नया निर्माण हुआ, उससे वह एशिया की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बन गया। यूरोप एशिया से न केवल आगे बढ़ गया, वह उसका राजनैतिक दृष्टि से स्वामी भी बन गया। मगर पिछले दशक की घटनाओं ने एशिया के बहुत बड़े भाग को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्रदान की **और आज यह राजनैतिक असन्तुलन मिटने के मार्ग में है।** पर केवल राजनैतिक

स्वतन्त्रता प्राप्त होने से ही आर्थिक विकास का रूपान्तर होना सम्भव नहीं है। स्वतन्त्र होने पर भी इस क्षेत्र के करोड़ों व्यक्ति अन्न वस्त्र और स्थान की जीवन-सम्बन्धी आधारभूत आवश्यकताओं के अभावों से दुःख झेल रहे हैं, अतएव आज एशिया के विभिन्न देशों में जो नये शासन स्थापित हुए हैं उनकी परीक्षा इसी में होगी कि वे इस क्षेत्र की निर्धनता दूर करने में कहाँ तक भाग लेते हैं।

पिछले कुछ दशकों से संसार के सभी सभ्य देशों में लोगों की आय सम्पत्ति और काम पाने के अवसरों की समानता पर पूरा बल दिया गया है। वर्तमान असमानता को दूर करने के लिए उत्तरोत्तर अधिक कर लगाये जा रहे हैं। यद्यपि देश के आन्तरिक जीवन में आय और साधनों की असमानता कम हो रही है किन्तु उनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से तुलना नहीं की जा सकती। संसार के विभिन्न भागों में आय और सम्पत्ति की असमानता इतनी अधिक है कि एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरिका—जिसमें सब मिलकर संसार की जनसंख्या का दो तिहाई भाग है उसकी आय संसार की आय का लगभग एक छठवाँ भाग है। एशिया में संसार की आधी से अधिक जनसंख्या है परन्तु उसकी आय संसार की राष्ट्रीय आय का केवल एक दसवाँ भाग है। दूसरी ओर उत्तरी अमरिका जिसमें संसार की जनसंख्या का दस प्रतिशत से भी कम भाग है संसार की राष्ट्रीय आय का ४५ प्रतिशत भाग है। *यह असमानता इस कारण से भी है कि संसार के सभी क्षेत्रों में एक समान प्राकृतिक* साधन नहीं हैं इसलिए संसार के अविकसित देशों में नया विकास होने पर भी उनके जीवन स्तर में अन्तर बना ही रहेगा।

(सम्पदा)

प्रश्न

(१) काले पदों का भावार्थ समझाइये।
(२) उपर्युक्त अवतरण का उपयुक्त शीर्षक देते हुए संक्षिप्त करके लिखिए जो १०० शब्दों से अधिक में न हो।
(३) *संसार के अविकसित देशों में नया विकास होने पर भी उनके जीवन* स्तर में अन्तर बना ही रहेगा। क्या आप इस कथन से सहमत हैं?
(४) एशिया और यूरोप के असमान स्तर के कारणों पर प्रकाश डालिये।

अभ्यास १९

सूती वस्त्रों के उत्पादन का **आदि स्रोत** होने के कारण सहज ही भारत में **पुरातन काल** से इस प्रकार की प्राकृतिक वस्तुओं का व्यवहार होता आया है जो वस्त्रों पर सिंचित गंदगी का निराकरण करती थी। अभी तक भारतीय ग्रामों में रीठा खार (क्षार) आदि का उपयोग वस्त्रों को स्वच्छ करने में किया जाता है। रेशम, कोसा, *अण्डी सरीखे कुछ वस्त्र तो आज भी चतुर से चतुर धोबी रीठा* की सहायता से ही

व्यतीत करने का वरदान देना भी पूँजीवाद का ही काम है। अधिकांश मनुष्यों की निर्धनता और थोड़े से मनुष्यों की असीम धनसम्पन्नता पूँजीवाद का मुख्यतम अंग है। अत्यन्त निर्धनता तथा अत्यन्त धन सम्पन्नता में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि निर्धनों का ही शोषण करके उनकी रोटी छीन कर, पूँजीपति अपनी थैलियाँ भरते हैं। फलतः एक ओर किसान तथा मजदूर बेकार घूमते हैं **क्षुधा की विभीषिका में संतृप्त होते हैं,** ग्रीष्म में प्रचण्ड लू की यातनाओं को सहन करते तथा शीतकाल में नंगे ठिठुरते हैं, गन्दी *तथा अन्धकारपूर्ण गलियों में जीवन की घड़ियाँ गिनते तथा मृत्यु का आह्वान करते हैं,* तो दूसरी ओर ठीक इसके विपरीत पूँजीपति तथा जमींदार धनराशि संचित करके मोटरों तथा वायुयानों में देश विदेश की यात्रा करते तथा काश्मीर और स्विट्जरलैंड की मनोहर घाटियों में भोग-विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। **इस आर्थिक विषमता, भीषण भेद तथा वीभत्स शोषण का यन्त्र है पूँजीवाद।** *इस शोचनीय अवस्था ने* संसार के समस्त विचारवान पुरुषों के मस्तिष्क में यह भय उत्पन्न कर दिया है कि यदि सामाजिक प्रणाली में परिवर्तन नहीं किया जायगा, तो न मालूम समाज की क्या अवस्था होगी। वर्तमान समय में परिश्रम तथा साधनों की बरबादी से (जो बेकारी की *बढ़ती हुई संख्या से स्पष्ट है और जिसके दुखदायी परिणाम से अनेक मनुष्य भूखे मरते* हैं और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते) शायद ही कोई मनुष्य संतुष्ट हो। हम प्रकृति के उदारतापूर्ण प्रदान किये गये अनेक पदार्थों के उपयोग से इसीलिए वंचित रह जाते हैं, क्योंकि हम उनका प्रयोग करना नहीं जानते। यह अवस्था देखकर *विद्वानों का कहना है कि समाज के इतिहास में अब आगामी विकास का समय आ* गया है। वर्तमान आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन की प्रणाली में एक उच्च श्रेणी के परिवर्तन की आवश्यकता है जिसके द्वारा एक ऐसा समाज उत्पन्न हो जिसमें एक उच्च कोटि के नैतिक आदर्श तथा एक उचित और उपयुक्त औद्योगिक प्रणाली का सामंजस्य हो, जो औद्योगिक क्रान्ति की यान्त्रिक सफलताओं का मनुष्य के हित के लिए अधिक सुगमतापूर्वक प्रयोग में ला सके जिसमें स्वतन्त्रता का अधिक विस्तार हो सके और सुख तथा संस्कृति की समृद्धि हो सके। इस प्रणाली को *'समाजवाद' के नाम से पुकारा जाता है। समाजवाद का दावा है कि वह समाज को* वर्तमान गति से निकाल कर उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचा सकता है।

(समाजवाद की रूप-रेखा)

प्रश्न

(१) *समाजवाद की व्याख्या कीजिए।*
(२) इस अवतरण को संक्षेप करके लिखिए।
(३) काले पदों का भावार्थ समझाइए।

अभ्यास २१

समाज के अन्तर्गत व्याप्त शोषण का आमूल नाश करने के लिए इसकी अर्थ-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना नितान्त आवश्यक है। यह परिवर्तन तीन

रूप से कुछ नही किया गया है। तीसरी समस्या का सम्बन्ध हमारी खाद्य स्वावलम्बन नीति से है। विस्तृत और गहन कृषि सम्बन्धी अनेक योजनाओं से कितना अधिक खाद्य पदार्थ पैदा होता है ? इसके आगणन की विधि बहुत अवैज्ञानिक है। खाद की एक निश्चित मात्रा के लिए अधिक अन्न की एक निश्चित मात्रा मान लेते हैं। परन्तु किसान की परिस्थितियो, देश के विभिन्न भाग और सभी ऋतुओं म यह कैसे ठीक होगी ? शायद लगातार न्यायादर्श अधीक्षण से इसका विश्वसनीय आगणन मिल सकेगा। (Agra, B Com I, 1954 S)

प्रश्न

(क) उपर्युक्त का अपने शब्दा मे सक्षेप दीजिये।

(ख) काले भागो की व्याख्या कीजिए।

अभ्यास २४

आधुनिक आर्थिक उन्नति का एक अनिवार्य लक्षण है, अधिक द्राव्यिक तथा वास्तविक आय हेतु श्रम का य त्र द्वारा विस्थापन, और श्रम का कृषि तथा सम्बन्धित उद्योगो से हटना। भारत के **भावी आदर्श वृत्ति-वितरण का रूप** निश्चित नही किया जा सकता है। उस पर जनसख्या सम्बन्धी शक्तियो, जनता की रुचि तथा माँग, उत्पादन प्रणाली और साधन स्रोतो का प्रभाव पडेगा। आयोजन नीति, **पश्चिमी देशों का अनुभव** तथा ज्ञान विज्ञान की सुविधाये प्राप्त होते हुए भी धातुओं तथा पूँजीगत वस्तुओं की कम पूर्ति, सकुचित निर्यात क्षेत्र, **नौकरशाही भावना** तथा राजनैतिक गुटबन्दी, भारतीय आर्थिक उन्नति की प्रगति को धीमा कर सकती है।

आर्थिक उन्नति कृषि क्षेत्र म देर से होगी। यह सर्वविदित है कि ग्रामो का अधिक महत्व है। वे अधिक कर-भार वहन करते है। नगर के बेकार वहा शरण पाते हैं। **लागत अधिक होने पर भी वहाँ से श्रमिकों की पूर्ति होती है।** परन्तु प्राकृतिक सकट, आन्तरिक अराजकता, शोषण तथा रोगो के कारण ग्रामवासी जनसख्या नियत्रण को कम महत्व देते है, यद्यपि किसी बात की उपयोगिता और आवश्यकता समझकर वे उस हेतु कोई उपाय उठा नही रखते। प्रति बीघा तथा प्रति श्रमिक की औसत उपज मे वृद्धि करना चाहिये। परन्तु दीर्घ काल के बाद ही किसान को औद्योगिक श्रमिक के समान पारिश्रमिक मिल सकेगा। **उसकी निम्न स्थिति का सुधार ग्राम और नगर मे होने वाले अन्य परिवर्तनो पर निर्भर होगा।** औद्योगिक उन्नति होने पर कुटीर तथा छोटी मात्रा के उद्योग ध धो से विस्थापित व्यक्तियो को पहले काम मिलेगा। अत जीवन स्तर की विभिन्नता के कारण ग्रामीणो के मन म उठने वाले क्षोभ और लोकतन्त्र के कारण सम्भव ग्रामीणो के राजनैतिक प्रभाव को कम करने के लिये शिक्षा-प्रसार तथा उच्च स्तर की राजनीति दोनो वाछनीय है।

औद्योगिक उन्नति के हित म ग्राहक को निम्न श्रेणी का माल धोखे से देना, **कृषकों और उपभोक्ताओं की बेबसी से लाभ उठाना** तथा श्रमिकों को उचित उच्च

सब धर्मों ने सत्य पर जोर दिया है, परन्तु हम **"व्यावसायिक ईमानदारी"** के भक्त बन रहे हैं। मवक्किल के लिए तर्क तो पेश करना ही पड़ेगा। इन्स्पेक्टर साहब आ रहे हैं, अतः स्कूल की सफाई करानी ही चाहिए। बिना उपस्थित रहे दूसरों के द्वारा हाजिरी लग सकती है। वक्तृत्व कला का प्रदर्शन करना है, अतः विपक्ष के समर्थ न गलत दलीलें देना उचित है। अपने माल की झूठी तारीफ करना क्षम्य है। कम ज्यादा मोल-तोल बताना मामूली बात हो गई है। **विज्ञापन बाजी को कला का रूप मिल गया है।** डाक-मस्करण पर दो चार रोज बाद की तारीख डालना भी व्यावसायिक ईमानदारी है। तीर्थस्थानों में धर्म के नाम पर एक ही बछिया की पूंछ पर अनेक लोग पानी छोड़ कर गोदान का पुण्य प्राप्त करते हैं। परन्तु क्या यह धर्म है? सत्य है? ईमानदारी है। (Agra B Com I, Supplementary 1956)

प्रश्न

(१) निम्नलिखित गद्यांश का सक्षेप लगभग ७५ शब्दों में दीजिये।

(२) गद्यांश के काले पदों के अर्थ तथा महत्व स्पष्ट कीजिए।

अभ्यास २६

क्या यान्त्रिक उन्नति ही यथार्थ उन्नति है तथा भौतिक सफलता ही सभ्यता की एकमात्र कसौटी है? यदि पूर्वी जनता भी पश्चिम वासियों की भाँति यन्त्रों और यान्त्रिक विधियों की ओर आकर्षित हो जाय, यदि वह भी विशाल औद्योगिक संस्थाओं तथा सामरिक सगठनों को कार्यान्वित करे तो **वह शक्ति संघर्ष में फँसकर मृत्यु का आवाहन करेगी।** वैज्ञानिक तथा यांत्रिक सभ्यता वृहत् अवसर और फल की दाता है, परन्तु वह **वृहत् खतरे और मिथ्या आकर्षण भी लाती है।** यह समस्या संसारव्यापी है। पूर्व और पश्चिम दोनों को **वही भय है और वही साध्य।** विज्ञान तथा यान्त्रिक प्रणाली न भले हैं, न बुरे, उनमें डरो नहीं। उन्हें सेवक बनाकर उनसे उचित कार्य लो।

प्राचीन समय में किसी मानव ने चकमक से अग्नि प्रज्वलित की थी। तब से मध्यकालीन युग में गुजर कर आज रेडियो और बम के **आविष्कारक एक ही माला के मनके हैं।** मानव निरन्तर यान्त्रिक उन्नति करता गया है। लेखनी, ब्रुश, चक्र, फावड़ा, नाव, लीवर, इंजन, आन्तरिक-शक्ति चलित यंत्र सभी भौतिक विकास क्रम की देन है। यन्त्र पदार्थ पर मस्तिष्क की विजय के प्रतीक हैं। वे साध्य नहीं हैं और न लक्ष्य ही। वे मानव ध्येय के साधन मात्र हैं। यदि हमारे लक्ष्य गलत हैं तो दोष हमारा है, यंत्रों का नहीं। उद्देश्य सही हो तो यंत्रों द्वारा अन्याय का निराकरण किया जा सकता है, मानव-अवस्था सुधारी जा सकती है **तथा आत्म-विकास सुलभ हो** सकता है।

इसी प्रकार धन की इच्छाएं सभ्यता की मापदण्ड नहीं हैं। **यह अनिवार्य नहीं है कि धन वृद्धि से सभी इच्छाओं की तृप्ति हो जाए।** इच्छाओं की वृद्धि से अतृ नि

बढती है। क्या खुली हवादार अट्टालिकाओ मे रहने वाले और आधुनिक यंत्रो के बल पर नाचने गाने वाले यथार्थतया सुखी है ? कैसे कहे ? गृहस्थ से पूछिए वह कहेगा कि आज की अपेक्षा अस्सी वर्ष पूर्व बाबा जी का जीवन अच्छा था। कम आय थी तब भी मजे मे गुजर हो जाती थी। आज इस पक्के गृह म भी रात दिन चिन्ता पीछे लगी रहती है। **सादगी तो उपालम्भ का शिकार बन गई है।** धन और इच्छाओ को हटा कर सादगी और सन्तोष का प्रतिष्ठान कीजिए। सभ्यता और सुख दोनो मिल जायेंगे।
(Agra, B Com I, 1957 S)

प्रश्न

(क) उपर्युक्त गद्याश का लगभग ७५ शब्दो म सक्षेप दीजिए।
(ख) काले भागो की व्याख्या कीजिए।

अभ्यास २७

यदि धन गया तो कुछ नहीं गया। यदि स्वास्थ्य गया तो कुछ खो गया। यदि चरित्र गया तो सब कुछ समाप्त हो गया। द्वितीय पचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के मार्ग मे चरित्र ही सबसे महत्वपूर्ण रोडा है। यह सत्य है कि हमारी योजना देश के औद्योगीकरण हेतु है परन्तु उससे भी बडा सत्य है कि योजना के कारण भोजन, वस्त्र, आवास तथा जीविका-साधन की पूर्ति मे यथोचित वृद्धि होनी चाहिए। चारित्रिक कमी के दो पहलुओ के कारण हम पहले सत्य को तो ध्यान म रखते हैं, परन्तु दूसरे को भूल जाते हैं। चारित्रिक कमी का पहला पहलू यह है कि **हम अवसर पाकर मेंढक से सांड बनना चाहते हैं।** सामुदायिक योजना, रेल यातायात, बडी सिंचाई-योजना-किसी से भी सम्बन्धित अधिकारी योजना के अन्तर्गत अपने महत्व को बढा कर सिद्ध करते और अनुदान प्राप्त करते हैं। अडतालीस अरब मे से ११ अरब से अधिक रेल-विकासार्थ हैं। साढे तीन अरब सामुदायिक योजनाओ पर है। एक बडी रकम सिंचाई पर व्यय होगी। इन सभी के सम्बन्ध मे लेखा-जोखा-निरीक्षण अपव्यय का सूचक है। **बडी दुकान से बडप्पन नहीं आता, न सफलता मिलती है।** उसके लिए दूरदर्शिता तथा समन्वय-शक्ति का आवाहन आवश्यक है। उसके लिए त्याग की आवश्यकता है। शीघ्र औद्योगीकरण की तृष्णा मे योजनाकार यह भूल गए हैं कि साधनो को शीघ्र गतिशील बनाना, उपलब्ध करना एव अधिकतम क्षमतापूर्व उपयोग करना अति आवश्यक है। वे यह भी भूल गए कि बेकारो का पोषण करने की जिम्मेदारी किसान अधिक अदा कर सकता है क्योकि **पेट को मारना जिलाना उसके हाथ मे है।** किसी प्रकार की सफलता मिली हो उसका श्रेय योजनाकारो को मिल जाए, इस तृष्णा ने भी इस बात की ओर से योजनाकारो का ध्यान हटा दिया कि कृषि उत्पादन कम है। सन् १९५०-५५ मे औसतन एक सौ बीस करोड रुपए का खाद्यान्न प्रतिवर्ष आयात करते थे, परन्तु सन् १९५३-५४ की आशातीत फसल ने अधिकारियो को सन्तुष्ट कर दिया। उन्होने समझ लिया कि खाद्यान्न की कमी की समस्या भूमिगत हो गई। सन् १९५६-५७ मे

खाद्यान्न-आयात लगभग एक अरब रुपए का पुनः हुआ है। **राज्य-सत्ता की आँखें पुनः खुल रही हैं और धोतियों के फंदे बाँधे जा रहे हैं** परन्तु चारित्रिक कमी के दूसरे पहलू पर ध्यान पूरा नहीं दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति मन लगाकर काम नहीं करता : वह अपनी कमजोरी और समस्या को दूसरे से मिलकर दूर नहीं करता। वह दूसरों के मत सुनने और उससे लाभ उठाने के लिए प्रयत्नशील नहीं है। **केवल सघबल से सभी लोग बढ़ते मूल्य और अक्षमता की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न कर रहे हैं।** परन्तु क्या रुपए से वस्तु बढ़ जावेगी? वस्तुओं की मात्रा तभी बढ़ेगी जब हम उनको अधिक उत्पन्न करें। वस्तु नहीं होगी तो मिदास का स्वर्ण क्या काम आयगा।

(Agra, B Com I, 1958 S)

प्रश्न

(क) उपर्युक्त गद्यांश का ६० शब्दों में सक्षेप दीजिए।

(ख) काले भागों की विवेचना कीजिए।

अभ्यास २८

१९ सितम्बर, १९५७ को ब्रिटिश बैंक दर में हद से ज्यादा ऊँची वृद्धि करके उसे ७ प्रतिशत कर दिया गया था। यह तरीका इसीलिए अपनाया गया था कि ब्रिटन के भीतर मूल्यों को और अधिक बढ़ने से रोका जा सके और उसके **विदेशी विनिमयों के प्रारक्षित कोष मे उतनी मात्रा मे वृद्धि हो,** जिससे पौंड स्टर्लिंग के सकट में होने के सम्बन्ध में जो पूर्वानुमान लगाये जा रहे थ, वे समाप्त हो जाय। इस तरह, यह एक बचाव का तरीका था। वस्तुओं के मूल्य की गिरावट, विश्व व्यापार की मन्दी और सयुक्त-राज्य अमेरिका में मन्दी की भावना की पृष्ठ-भूमि में उठाया गया यह कदम बहुतों के विचार से एक निश्चित जुआ था। लेकिन एस मालूम होता है कि इस जुए के दाँव में ब्रिटेन को सचमुच लाभ हुआ। यद्यपि अभी भी ब्रिटेन सकट में बाहर नहीं हुआ है क्योंकि अभी विदेशों में उसकी मौद्रिक स्थिति को मजबूत करने की आवश्यकता बनी हुई है, ***फिर भी पौण्ड पर सट्टेबाजी का दबाव समाप्त हो गया है।*** पौंड कुछ समय तक डालर के खिलाफ अपने ऊपरी सरक्षण बिन्दु के निकट ही **नहीं कायम रहा है,** बल्कि पौंड स्टर्लिंग की उन किस्मों के मामलों में स्वतन्त्र-बाजार **दरों मे उल्लेखनीय वृद्धि भी हुई है जो कि पूर्णतः परिवर्त्य नहीं है।** स्टर्लिंग की ताकत, जो कि कुछ हद तक तो चालू व्यापारिक सौदा में हुई बचतों के कारण से **और कुछ हद तक पिछले हेमन्त काल मे घट गई व्यापारिक बचतों की मात्रा के फिर से पूरी हो जाने के कारण उत्पन्न हुई है,** पौन्ड क्षेत्र के सोने और डालर की प्रारक्षित निधि सम्बन्धी सरकारी आँकड़ों में हुई ठोस वृद्धि में व्यक्त हुई है। यह प्रारक्षित निधि पिछले सितम्बर से मूल्यों में गिरावट लाने के लिये अपनाये गये उपायों के फलस्वरूप हर महीने लगातार बढ़ती रही है। इसलिये ब्रिटेन ने बैंक दर को ७ प्रतिशत से घटाकर ६ प्रतिशत कर देने की घोषणा की और यह घोषणा एक दम उचित

पाया। बिहार के राज्यपाल ने भी उन्हे पुरस्कार देकर सम्मानित किया तथा उनके हाथ से छोटी इलायची के छिलके मे बन्द एक जनेऊ भेंट रूप मे लिया। यह घटना हमे भारतीय कुटीर उद्योगो के प्राचीन वैभव और ढाका की मलमल की याद दिलाती है। कहा जाता है कि कनिष्क के समय भारतीय वस्त्रो की रोम मे इतनी माँग थी कि वहाँ से प्रति वर्ष साढे पाँच करोड रुपए का सोना भारत आता था। यह घटना इस बात की साक्षी है कि भारत की उस कला मे अब भी सजीवता है तथा वह भारत के कल्याण का कारण बन सकती है।

अभ्यास ३

भारतीय वस्त्र-निर्यात

कुछ काल पूर्व भारत करोडो रुपए का कपडा विदेशो से मँगाता था। अब यह स्थिति बदल गई है। अब भारत न केवल अपनी घरेलू आवश्यकता की पूर्ति करने लगा है, वरन् बहुत सा कपडा विदेश भी भेजने लगा है। यह निर्यात भारतीय वस्त्र-उद्योग की अपूर्व उन्नति का सूचक है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये भारतीय वस्त्र-उद्योग को भारी सघर्ष करना पडा है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के प्रयत्नो, स्वतन्त्रता आन्दोलन की प्रगति और स्वदेशी की भावना से अपनी स्थिति सुधारने मे उसे अपार सहायता मिली है। तो भी कुछ न कुछ कपडा (महीन एवं उच्च कोटि का) भारत को अभी भी विदेश से मँगाना पडता है, क्योंकि आदान-प्रदान व्यापार का मूलभूत आधार है और पारस्परिक लाभ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रेरक।

अभ्यास ४

मुद्रास्फीति

मुद्रास्फीति एवं मुद्रा संकुचन वस्तुओ के मूल्य-परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है और मूल्यो के उतार-चढाव देश के व्यापार-व्यवसाय के लिए घातक हैं। सन् १६५० के कोरियाई युद्ध-जनित मुद्रास्फीति से यद्यपि विश्व का कोई देश अछूता नही बचा तो भी कच्चे माल के उत्पादक एशियाई देशो पर इसका शीघ्र और गहरा प्रभाव पडा, तैयार माल के उत्पादक देशो पर कुछ कम और देर मे। कारण ? कच्चे माल के मूल्य परिवर्तन आमदनी मे शीघ्र प्रकट हो जाते हैं, तैयार माल के मूल्य परिवर्तन देर मे। अतएव प्रथम श्रेणी के देशो मे मुद्रास्फीति या मुद्रा संकुचन दूसरी श्रेणी के देशो की अपेक्षा शीघ्र सामने आते हैं। भारत का स्थान दोनो श्रेणियो मे समान रूप से है, क्योकि उसके आयात-निर्यात मे कच्चे और तैयार दोनो प्रकार के माल लगभग समान रूप मे सम्मिलित हैं। मुद्रास्फीति के अस्वस्थ प्रभावो को रोकने के लिए युद्धोपरात काल मे भारत ने अनेक प्रयत्न किए हैं, किन्तु उन्हे आंशिक सफलता ही मिली है।

अभ्यास ५

आर्थिक योजना का महत्त्व

मनुष्य की शक्ति मे विश्वास रखने वाली बीसवी शताब्दी की आर्थिक योजना दार्शनिकता को आधार मानती है। नियोजित कार्यक्रम मे उत्पादन की स्वतन्त्र इकाइयाँ संगठित इकाइयो का समूह समझी जाती हैं और प्रत्येक इकाई सर्वमान्य आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ही लक्ष्य का पालन करती है। योजना का उद्देश्य निश्चित अवधि के अन्तर्गत उत्पादन के साधनो के सदुपयोग द्वारा समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति तथा आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन मे क्रमबद्धता लाना है। यह उत्पादन की प्रगति और रहन-सहन के स्तर मे सतुलन स्थापित करती है तथा आज की सभी आर्थिक बुराइयो की दवा समझी जाती है।

अभ्यास ६

विदेशी पूँजी के दोष

विदेशी पूँजी से देश के साधनो का विदेशी हित मे उपयोग होने, विदेशी राजनीतिक सत्ता स्थापित होने और औद्योगिक प्रबन्ध-संचालन विदेशियो के अधिकार मे जाने की पूर्ण सम्भावना है। राष्ट्र-रक्षा एवं आधारभूत उद्योगो मे विदेशी पूँजी *का विनियोग भयानक है। इससे देश का स्वाभाविक औद्योगीकरण* और पूँजी-*निर्माण* रुक जाता है तथा देश के युवक आवश्यक व्यापार-व्यवसाय सम्बन्धी अनुभव और ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। (७३)

अभ्यास ७

नैतिक गुण

संसार के राष्ट्रो के आपसी मतभेद का मूल कारण नैतिक गुणो का ह्रास है जिसने संसार की स्वतन्त्रता संकट में डाल दी है। इसकी रक्षा नैतिक आदर्शों के विकास द्वारा ही संभव है, किन्तु आज के भौतिकवादी वातावरण मे नैतिकता की चर्चा मात्र दम्भपूर्ण कही जाती है। वैज्ञानिक सफलताओ एवं आधुनिक यंत्रो ने इस प्रवृत्ति को और भी बल दिया है। (६२)

अभ्यास ८

लाभकर खाते

भूमि पर किसान को कानून द्वारा पूर्ण अधिकार देकर उसे लाभकर खातो मे बाँट देना चाहिए। *लाभकर खाता १० एकड़ से कम न हो।* इससे छोटे खातो का बटवारा न हो और न किसी को ३० एकड से अधिक भूमि रखने की आज्ञा हो। अतिरिक्त भूमि अलाभकर खाते वालो को देदी जाए और खातो से बची भूमि पर गाँव-

समाज का अधिकार हो जिसे भूमि-कर उगाने और उसे खर्च करने का भी अधिकार हो। (७४)

अभ्यास ९

अणु-शक्ति और विकेन्द्रित उत्पादन

बहुधा लोग लघु-उद्योगो को पिछडेपन और बडे उद्योगो को वैज्ञानिक प्रगति का सूचक समझते है। उनका यह भी विश्वास है कि बडे-उद्योग और बडे नगर भाई-भाई हैं। वस्तुत, घनी-बस्तिया पूंजीपतियो और सरकारो के स्वार्थ और विकृत समाजगठन के परिणाम हैं। विकेन्द्रित उत्पादन एव सहकारी समाज क लिए यन्त्रता का उपयोग वैज्ञानिक अवनति नही कही जा सकती। अब अणुशक्ति न विकेन्द्रित उत्पादन का माग खोल दिया है। (७४)

अभ्यास १०

सयुक्त कृषि

यद्यपि सयुक्त कृषि के आलोचक भी उसके आदश से सहमत हैं, किन्तु व उसे व्यावहारिक नही मानते। सयुक्त कृषि क मार्ग म सबसे बडी बाधा किसान का भूमि क प्रति भारी मोह है। अपनी भूमि पर दूसरे को खेती करने देना अथवा उस पर बहुस्वामित्व उसे सह्य नही है। कृषि का केन्द्रीयकरण होने से किसान कारखाने क मजदूर की भाँति परतन्त्र हो जायगा और उसकी कठिन परिश्रम सम्बन्धी प्रेरणा समाप्त हो जाएगी। ग्रामीण समाज के पारस्परिक झगडे तथा ईमानदार एव नि स्वार्थ जन-सेवका का अभाव भी सयुक्त कृषि के मार्ग म बाधक हैं। (६५)

अभ्यास ११

अणु-युग

सूक्ष्म आकार के अणु म कोयले और पैट्रोल से लाखो गुनी शक्ति निहित है, जिसके विनाशकारी स्वरूप को देखकर ससार भयभीत हो उठा है, किन्तु अणु-शक्ति के अनेक रचनात्मक प्रयोग, जैसे रोग निवारण, औद्योगिक उत्पादन की कोटि और विधि सुधारने, कृषि उत्पादन बढाने तथा मानव जाति के रहन-सहन को ऊँचा उठाने क लिए भी हो रह हैं। इनकी सफलता ससार के अल्प विकसित देशो के लिए बड़ी महत्वपूर्ण है और आज हम अणु-युग क सूत्रपात की कल्पना कर सकते हैं। (८२)

अभ्यास १२

श्रम-सघर्ष

वस्तुत सीमित साधनो द्वारा असीम माध्या की प्राप्ति के लिए की जाने वाली समस्त मानवी चेष्टायें श्रम हैं और एसी चेष्टाये करन वाले सभी व्यक्ति श्रमिक वर्ग म सम्मिलित हैं, किन्तु आज की औद्योगिक व्यवस्था म श्रम और श्रमिक की सकुचित

व्याख्या करके श्रमिक वर्ग उत्पादकों से भिन्न वर्ग माना जाता है, जो ब्याज, लाभ, लगान और वेतन से भिन्न 'पारिश्रमिक' पर निर्भर रहता है और जिसे अपनी हित-रक्षा के लिए श्रम-नियोजकों से सघर्ष करना पड़ता है। हड़ताले और तालाबन्दी होती है, जिनसे देश, उत्पादक, श्रमिक और उपभोक्ता सभी को भारी हानि होती है। (६८)

अभ्यास १३

बेकारी

बेकारी व्यक्तिगत पूँजीवाद की स्थायी और रूढिगत समस्या है, जो मांग और पूर्ति के असंतुलन से उत्पन्न होती है। कुछ लोग समष्टि पूँजीवाद की स्थापना मे इसका हल बतलाते हैं, जो व्यावहारिक सिद्धान्त नही है, क्योंकि न तो उत्पत्ति के सम्पूर्ण साधनो का सहसा राष्ट्रीयकरण ही सम्भव है और सम्भव भी हो तो यह अत्यन्त कष्टसाध्य है, क्योंकि उसके मार्ग मे अनेक बाधाये है, जैसे उद्योगपतियो को पूतिधन देना, न देने पर गृह-युद्ध की आशंका तथा उद्योगो मे सापेक्षक महत्व स्थापित करना इत्यादि। (८५)

अभ्यास १४

समाज का पुर्निर्माण

आर्थिक क्रियाओ का आधार समाज है और सामाजिक कुरीतियो का मूल कारण आर्थिक विषमतायें। अतएव एक सुदृढ और स्थायी समाज की रचना भी आर्थिक समता द्वारा ही सम्भव है। ऐसा समाज धार्मिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए भी श्रेयस्कर है। अतएव जनतन्त्रीय शासन, राष्ट्रीय जनता तथा समाज-सुधारको का कर्तव्य अविकसित एव उपेक्षित क्षेत्रो के निवासियो, निम्न श्रेणी के लोगो तथा अभावग्रस्त जनता के प्रति विशेष है। ऐसे लोगो को मितव्ययता सिखाना, उन्हे व्यसनो से बचाना, उनका शारीरिक व मानसिक विकास, उनकी आनन्द वृद्धि इत्यादि कार्य उच्च कोटि की समाज-सेवा और सुखी एवं समृद्ध राष्ट्रीय जीवन के प्रतीक हैं। (१०४)

अभ्यास १५

भूदान

भूदान दान की एक नई कल्पना है, जो दान के प्रसंग से संग्रह के समर्पण, सामाजिक न्याय तथा सम्पत्ति के समान वितरण का साधन है। हवा, पानी, प्रकाश की भाँति भूमि भगवान की देन है, जिस पर किसी एक का अधिकार सामाजिक पाप है। उस पाप का प्रायश्चित भूस्वामी द्वारा उसके दान करके पुण्य कमाने और अपनी इज्जत बचाने में है। भूमिहीन को भूमि देना वैसा ही धर्म है जैसा भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देना। भूदान मे याचक एक स्वजन है और याचना उसका अपना हक है, जिसे पाने का उसे पूर्ण अधिकार है। (६८)

अभ्यास १६
भूदान-यज्ञ

तेलगाना की हिंसात्मक घटनाओ से द्रवीभूत होकर विनोबाजी ने भूदान की अहिंसक, आर्थिक एवं सामाजिक क्रान्ति शुरू की, जिसका आधार प्रेम और अहिंसा द्वारा लोगो का मन-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन है। यह क्रान्ति वर्गों का निराकरण करके व्यक्तियो (अच्छे अमीरो और अच्छे गरीबो) के समन्वय पर जोर देती है। भूदान एक ओर अमीरो-गरीबो म न्याय-बुद्धि पैदा करके उनम आत्मीयता उत्पन्न करता है और दूसरी ओर कानून बनाने क लिए अनुकूल वातावरण तैयार करता है। यह अमीरो की अमीरी और गरीबो की गरीबी दोनो की मालकियत मांगता है ताकि अमीरो का अहकार और गरीबो की दीनता दूर हो और दोनो की अंत चेतना जागे।

(११०)

अभ्यास १७
लोक-शक्ति

भूदान-यज्ञ आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य एक अहिंसक समाज रचना है, जिसम विषमता, शोषण उत्पीडन, स्वार्थ और लोभ न हो, केवल प्रेम और सद्भाव ही हो। साध्य के अनुरूप ही उसे प्राप्ति के साधन अपनाए गये है। द्रव्य शक्ति, हिंसा-वृत्ति और कानूनी बल उसके आधार नही, प्रेम और सद्भावना का लोक-व्यापक रूप अर्थात् लोक-शक्ति और विचार-शासन ही उसके सबल हैं। यह लोक-शक्ति *दण्ड-शक्ति से भिन्न होते हुए भी उसकी विरोधी नही पूरक है। तो भी भूदान ऐसी परिस्थति खडी करना चाहता है जिसम दण्ड शक्ति के उपयोग का अवसर ही न रहे अर्थात् जनता मे ऐसी न्याय-बुद्धि उत्पन्न हो कि लोग स्वतः ही भूमि का बटवारा कर ले। भूमि का दान इस विचार-परिवर्तन का एक कारण मात्र है। उसके वास्तविक फल जीवन-शुद्धि और सामाजिक-परिवर्तन हैं।

(१३६)

अभ्यास १८
एशिया का आर्थिक विकास

दो-तीन सौ वर्ष पूर्व एशिया भी यूरोप की भांति समृद्ध था, किन्तु औद्योगिक क्रान्ति और नई युद्ध-नीति ने यूरोप को एशिया से आगे बढने और उसका राजनीतिक स्वामी बनने का अवसर दिया। अब एशिया और यूरोप का राजनीतिक असन्तुलन मिट चुका है, किन्तु उनकी आर्थिक विषमता शेष है। अतएव आर्थिक विकास द्वारा निर्धनता को दूर करना एशियाई देशो की नई सरकारो का अब प्रथम कर्तव्य है। संसार के कई सभ्य देश भी इस ओर प्रयत्नशील हैं और शीघ्र सफलता की आशा है। तो भी प्राकृतिक साधनो से उत्पन्न असमानता से सर्वथा छुटकारा मिलना सम्भव नही।

(१००)

अभ्यास १९

भारतीय साबुन उद्योग

शरीर और वस्त्रों की स्वच्छता के लिए प्राचीन काल से भारत मे उबटन, रीठा, खार, सीकाकाई इत्यादि प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग होता आया है। उन्नीसवी शताब्दी मे साबुन के आगमन से हमारी स्वच्छता और स्वास्थ्य सम्बन्धी यह पुरातन पद्धति नष्ट हो गई और प्रथम युद्ध-काल मे भारत मे साबुन उद्योग की नीव पडी। तब से यह उद्योग बराबर उन्नति करता गया है और अब देश साबुन के लिए आत्म-निर्भर हो गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध मे हमारे इस उद्योग को उन्नति करने का अच्छा अवसर मिला। इसके मुख्य कारण विदेशी प्रतियोगिता का अन्त, सुरक्षा विभाग की मांग, देश की बढी हुई जनसख्या, लोगो की विलास-प्रियता, शहरी जीवन का शौक तथा साबुन निर्माताओ के सफल विज्ञापन इत्यादि है।

अभ्यास २०

समाजवाद

अधिकाश मनुष्यो की निर्धनता और थोडे मनुष्यो की असीम धन-सम्पन्नता पूंजीवाद के प्रधान लक्षण है, क्योकि निर्धनो के शोषण द्वारा ही पूंजीपति अपनी थैलियाँ भरते है। एक ओर किसान-मजदूर भूखे, नंगे तथा बेकार यातनाएं सहते है। दूसरी ओर पूंजीपति विलासी जीवन व्यतीत करते है। इस आर्थिक विषमता, भीषण भेद तथा वीभत्स शोषण का यन्त्र है पूंजीवाद। यह व्यवस्था हमे अनेक प्राकृतिक साधनो के उपयोग से वंचित रखती है। अत इसके विरुद्ध अब भारी आन्दोलन होने लगा है और एक ऐसी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की मांग की जाती है जिसमे उच्चकोटि के नैतिक आदर्श, उपयुक्त औद्योगिक प्रणाली तथा स्वतन्त्र वातावरण का सामंजस्य हो। इस नवीन व्यवस्था को 'समाजवाद' कहा जाता है तथा सुख और समृद्धि उसके लक्षण बताये जाते है।

अभ्यास २१

भूदान यज्ञ

वर्तमान सामाजिक विषमता को मिटाने के लिए वर्तमान अर्थ-व्यवस्था को बदलना आवश्यक है। इस परिवर्तन के तीन मार्ग है : एक हिंसात्मक, दूसरा कानूनी और तीसरा अहिंसात्मक। हिंसात्मक मार्ग प्रशंसनीय नही है, क्योकि इससे केवल अस्थायी सफलता मिलती है तथा प्रतिशोध की भावना समाज को दुर्बल और निकम्मा बना देती है। तेलंगाना का अनुभव इसका साक्षी है। कानूनी मार्ग व्यावहारिक नही है, क्योकि भारतीय सविधान के अनुसार कोई भूमि बिना प्रतिकर नही ली जा सकती और प्रतिकर के लिए अपार धन चाहिए, जिसे न सरकार और न भूमिहीन

वर्ग ही देने मे समर्थ हैं। विनोबा भावे द्वारा अपनाया हुआ तीसरा प्रेम और अहिंसा का मार्ग है, जिसे पर्याप्त सफलता मिल चुकी है और आगे भी मिलने की आशा है।

अभ्यास २२

स्वदेशी

देश की उन्नति और विकास के लिए आज हमे स्वदेशी की भावना और स्वदेशी के प्रचार की विशेष आवश्यकता है, यद्यपि आज स्वदेशी का रूप और कार्यक्रम पहले से भिन्न है। अब स्वदेशी की भावना केवल देश-भक्तो और उपभोक्ताओ के लिए ही नही, सभी वर्गों के लिए आवश्यक है। स्वदेशी का वर्तमान अर्थ है उत्पादन वृद्धि और आयात नियन्त्रण। यद्यपि इस कार्यक्रम की सफलता उपभोक्ता, सरकार और उत्पादक सभी के सम्मिलित सहयोग पर निर्भर है और सभी को यथाशक्ति त्यागभाव दिखाना चाहिए, तथापि सरकार और उत्पादको का इस सम्बन्ध मे विशेष उत्तरदायित्व है।